द्वितीय वैश्विक संस्कृत सम्मेलन की प्रस्तुति

# भाषा और संस्कृति

## भाग-2


प्रधान सम्पादक

प्रो. जयश्री साठे

डॉ. मञ्जूषा कुलकर्णी

सम्पादक

डॉ. राजेश कुमार मिश्र



GLOBAL SANSKRIT FORUM
वैश्विक संस्कृत मञ्च
यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्

# भाषा और संस्कृति

(भाग-2)

अमृतब्रह्म प्रकाशन
Amritbrahma Prakashan
प्रयागराज

# भाषा और संस्कृति

## (भाग-2)


प्रधान सम्पादक

**प्रो. विष्णुपद महापात्र**

सम्पादक

**डॉ. राजेश कुमार मिश्र**

**डॉ. बन्सी लव्हाले**

सह-सम्पादक

**डॉ. गणञ्जय यज्ञेश्वरराय कहालेकर**



**प्रकाशक**

**अमृतब्रह्म प्रकाशन**

**प्रयागराज**

**ISBN: 978-81-982453-7-3**

**प्रकाशक**

**अमृतब्रह्म प्रकाशन**

63/59, मोरी, दारागंज, प्रयागराज – 211006

सम्पर्क +91-9450407739, 8840451764

Email: amritbrahmaprakashan@gmail.com

**भाषा और संस्कृति (भाग-2)**

प्रधान सम्पादक

प्रो. विष्णुपद महापात्र

सम्पादक

डॉ. राजेश कुमार मिश्र, डॉ. बन्सी लव्हाले

सह-सम्पादक

डॉ. गणञ्जय यज्ञेश्वरराय कहालेकर

**© ग्लोबल संस्कृत फोरम, नई दिल्ली**

**प्रथम संस्करण : 2025**

**मूल्य : 999/-**

***The responsibility for facts stated, opinion expressed or conclusion reached and plagiarism, if any, in this book is entirely that of Author. The publisher/Editors/Editorial Board bears no responsibility for them whatsoever.***

**मुद्रक**

Infinity Imaging Systems

नई दिल्ली

# Committee

### Central Organizing Committee

| | |
|---|---|
| Prof. Pramod Pandey | Prof. Prasad Joshi |
| Prof. Bishnupada Mahapatra | Prof. Jayashree Sathe |
| Prof. Sonal Kulkarni (Joshi) | Prof. Shahida Ansari |
| Dr. Manjusha Kulkarni | Mrs. Anita Sonawane |

### Publication Committee

| | |
|---|---|
| Prof. P. D. Sable sir | Dr. Shilpa Sumant |
| Dr. Rajesh Kumar Mishra | Dr. Bansi Lawhale |
| Dr. Justin George | Dr. Bhav Sharma |
| Dr. Rahul Mhaiskar | Dr. Shantanu Vaidya |
| Dr. Kirti Kulkarni | Dr. Hari Palave |

### Registration Committee

| | |
|---|---|
| Dr. Kalpana Athalye | Dr. Shubhangi Kardile |
| Dr.Nisha Savant | Mrs. Sarika Mishra |
| Dr. Richa Abhyankar | Dr. Sanhita Joshi |
| Mrs. Mugdha Chandratre | Dr. Bhavana Balte |
| Mrs. Gouri Aradhye | Mrs. Radhika Deshpande |

### Academic Session Programme Committee

| | |
|---|---|
| Dr. Abhijit Dandekar | Dr. Pradnya Deshpande |
| Dr. Justin George | Dr. Kalpana Athalye |
| Dr. Kirti Kulkarni | Dr. Rajesh Kumar Mishra |
| Dr.Bansi Lawhale | |

### Stage & Hall Management Committee & Felicitation Committee

| | |
|---|---|
| Dr. Trupti More | Dr. Pradnya Kulkarni |
| Dr.GananjayKahalekar | Dr. Shankar Ghadge |
| Dr. Prashant Biradar | Dr. Vijaya Valhe |
| Mrs. Vijaya Mandalik | Miss. Meena Kengar |
| Dr. Supriya Mahajan | Dr. Nilam Dhapre |

### Accommodation Committee & Transportation Committee

| | |
|---|---|
| Dr. Rahul Mhaiskar | Dr. Shreedhar Lohokare |
| Mr. Nilesh Jadhav | Mr. Amit Pendam |

Dr. Atul Maske
Mr. Sandeep Dhikle
Mr. Prashant Khedekar
Mr. Gajanan Ambekar
Mr. Niranjan Omble
Mr. Mandar Kukarni
Mr. Shardul Joshi

**Media, Photography, Presentation System & Technical Support**

Dr. Rajesh Kumar Mishra
Dr. Bansi Lawhale
Dr. Vrushali Bhosale
Dr. Bhav Sharma
Dr. Hari Palave
Mr. Bangar S.S.
Mr. Sanjay Hargude
Mr. Vineet Gaware
Mr. Sumeet Jadhav
Mr. Sandeep Dhikle
Mr. Mandar Kulkarni

**Refreshments & Food Arrangement Committee**

Dr.PrabodhShirvalkar
Dr. Veena Mushrif Tripathy
Dr. Vrushali Bhosale
Dr. Hari Palave
Dr. C. K. Shastri
Dr. Atul Maske
Mr. NieshJadhav
Dr. Rahul Haldar
Mr. Hemant Ahire
Mr. Sambhaji Jadhav
Dr. Bhavana Balte
Mrs. Gouri Aradhye
Mrs. Radhika Deshpande

**Cultural Programme Committee**

Dr. Amruta Sarkar
Dr. Hari Palave
Dr.KirtiKulkarni
Dr. Bansi Lawhale
Dr. Y. Suresh
Mrs.Radhika Deshpande
Mrs. Mugdha Chandratre
Miss.Kaushiki Kaledhonkar
Miss.Swarangi Marathe

**Emergency help committee**

Dr. Rajesh kumarmishra
Dr. Bansi Lawhale
Dr. Bhav Sharma
Dr. Hari Palave
Dr. Rahul Mhaiskar
Dr. Shantanu Vaidya
Dr. Atul Maske
Mr. Sandeep Dhikle
Mr. Vineet Gaware

# उप मुख्यमंत्री
## महाराष्ट्र राज्य

दि. ३० जुलाई २०२४

## शुभकामनाएं

ग्लोबल संस्कृत फोरम (वैश्विक संस्कृत मञ्च) यह संस्था अन्तराष्ट्रिय पटल पर संस्कृत भाषा में निहित ज्ञान एवं भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में समर्पण भाव से कार्य कर रहीं है यह महत्त्वपूर्ण बात है।

'वैश्विक संस्कृत मञ्च' ने स्थापना के बाद एक दशक में अन्ताराष्ट्रिय/राष्ट्रिय स्तर पर १५०० से अधिक सम्मेलन, सेमिनार और कार्यशालाओं के साथ-साथ दस पुस्तकों का सम्पादन एवं प्रकाशन किया यह गौरव की बात है। संस्कृत से संस्कृति तक, राष्ट्र प्रथम सिद्धांत के साथ साथ सम्पूर्ण विश्व को सांस्कृतिक रूप से जोड़ने के सिद्धांत पर कार्य कर रहें इस मञ्च द्वारा भारतीय ज्ञान परम्परा के प्रचार-प्रसार हेतु प्रत्येक वर्ष 'वैश्विक संस्कृत सम्मेलन' का आयोजन होता है यह बात भी प्रशंसनीय है। पुणे स्थित प्रतिष्ठित डेक्कन कॉलेज में 'भाषा और संस्कृति' विषय पर आयोजित वैश्विक संस्कृत सम्मेलन में प्रस्तुत २५० से अधिक शोधपत्र में से कुछ उत्तम शोध-पत्रों को 'भाषा और संस्कृति' नामक पुस्तक में प्रकाशित किया जा रहा है, यह भारतीय जनमानस के लिए श्रेष्ठ कार्य सिद्ध होगा। मैं इस महती कार्य के लिए ग्लोबल संस्कृत फोरम के सभी सदस्य, पदाधिकारियों को हार्दिक शुभकामनाएं प्रषित करता हूँ।

**(देवेंद्र फडणवीस)**

**DECCAN COLLEGE**
**Postgraduate and Research Institute**
**Pune - 411 006, India**

**(Declared as Deemed to be University under Section 3 of U.G.C. Act, 1956)**

**डेक्कन कॉलेज**
**पदव्युत्तर व संशोधन संस्था**
**पुणे -४११ ००६, भारत**
**(विद्यापीठ अनुदान आयोगाच्या १९५६ च्या अधिनियमातील प्रभाग ३ अनुसार अभिमत विद्यापीठ घोषित)**

**Prof. Pramod Pandey**
**Vice-Chancellor**

S. No. 2022/ 164

अभिप्राय

भाषा और संस्कृति के बीच संबंध विषय पर दुनिया भर के विद्वानों द्वारा बहुत लंबे समय से चर्चा रही है। यह एक बहुस्तरीय अवधारणा है। आज यह भाषा, साहित्य, समाज विज्ञान, नृविज्ञान (Anthropology), संज्ञानात्मक विज्ञान (Cognitive Science) जैसे विभिन्न क्षेत्रों में शोध का विषय है।

इस विषय पर डेक्कन कॉलेज में आयोजित वैश्विक संस्कृत सम्मलेन के सेमिनार में प्रस्तुत पत्रों के संकलन के रूप में प्रकाशित यह पुस्तक बहुत महत्वपूर्ण है। पुस्तक की संरचना मुक्त है। इसमें संस्कृत, हिंदी, मराठी और अंग्रेजी भाषाओँ में विद्वता पूर्ण लेख हैं और मूलतः संस्कृत और पाली भाषाओँ में लिखे साहित्य की चर्चा मिलती है।

संस्कृति के नाम पर जिन विषयों पर पत्र उपस्थित किये गए हैं उनमें जीवन मूल्य, मानवतावाद, पर्यावरण जैसे आज के जीवन से सम्बन्धित विषय हैं। इनका संस्कृत के रचनात्मक साहित्य, आयुर्वेद तथा धर्मशास्त्र जैसे विषयों पर लिखे साहित्य को आधार बनाया गया है। इसके अलावा यज्ञ, योग, धर्म, कृषि, वस्त्र इत्यादि भारतीय संस्कृति के भिन्न पक्षों पर विद्वतापूर्ण लेख मिलते हैं। धर्म और दर्शन से सम्बंधित शोध पत्र इस पुस्तक में अधिकायक मात्रा में हैं, जिनमे वेद, पुराण, बौद्धिक साहित्य मुख्य हैं। इस पुस्तक की विशेषताओं में एक है कि शैक्षिक और विद्या विषयक क्षेत्र, जैसे एक तरफ व्याकरण, भाष्य, काव्य, छंद, नृत्य कला, नाटक तथा दूसरी तरफ गणित विज्ञान, चिकित्सा, ज्योतिष, नीति शास्त्र आदि पर वैज्ञानिक लेख सम्मिलित किये गए हैं। इस पुस्तक की एक अन्य विशेषता यह है कि यहाँ कुछ ऐसे संबंधों पर लेख मिलते हैं जो भाषा और संस्कृति के छिपे हुए पक्षों को उजागर करते हैं, उदाहरणतः, यज्ञ संस्कृति *और* पर्यावरण, रस सिद्धांत *और* रंग, वैदिक स्तोत्र (hymns) *और* समरसता (harmony), श्रुति साहित्य *और* रूप दर्शन, काव्य छंद *और* अन्न।

पाठक इस बात से सहमत होंगे कि यह पुस्तक शुरुआती और विशेषज्ञों दोनों के लिए मूल्यवान है. इस पुस्तक के प्रधान संपादक प्रो विष्णुपद महापात्र, संपादक डॉ राजेश कुमार मिश्र और डॉ बंसी लव्हाले तथा सह संपादक डॉ गणञ्जय कहालेकर अभिवादन के पात्र हैं।

तारीख: 14 अगस्त 2024

(प्रा. प्रमोद पांडे)
कुलपती

Tel.: (O) +91 20 26513203; (M) +91 8830 319 037
Email: vc@dcpune.ac.in; pramod.pandey@dcpune.ac.in (P)
Website : www.dcpune.ac.in

दि. ०२.०८.२४

# अभिप्राय

हम जानते हैं की परमात्मा ने मानव को सबसे बड़ा वरदान 'वाणी' के रूप में प्रदान किया है। सामान्यतः दुनियां के सभी सजीव अपनी अपनी मर्यादा में सोच-विचार कर सकते है। लेकिन केवल मनुष्य ही एकमात्र जीव है जो अपने विचारों को उचित शब्दों मे अभिव्यक्त कर सकता है। ऐसी अभिव्यक्ति से ही भाषा का उद्गम और विकास होता गया। भाषा के माध्यम से ही मनुष्य अपने ज्ञान का विश्व समृद्ध करता गया और साथ मे मानवी-संस्कृति का भी संवर्धन सुचारु रूप मे होता गया। भाषा और संस्कृति का ऐसा अयुतसिद्ध संबन्ध तो अनन्यसाधारण महत्त्व रखता है।

भाषा के माध्यम से विश्वस्पर्शी ज्ञान और संस्कृति के मूलस्रोत से जुड़ी संकल्पना पर द्वितीय वैश्विक संस्कृत संमेलन का सुनियोजित आयोजन वैश्विक संस्कृत मञ्च, दिल्ली और डेक्कन कॉलेज अभिमत विश्वविद्यालय, पुणे के संयुक्त तत्त्वावधान में संपन्न होना अत्यंत गौरवपूर्ण रहा। इस द्वितीय वैश्विक संस्कृत सम्मेलन में देश-विदेश के विद्वानों तथा शोधार्थियों द्वारा शोधपत्र प्रस्तुत किये गये। समाज को दृष्टि में रखकर कुछ महत्वपूर्ण शोधपत्रों को विशेष ग्रंथ के रूप में प्रकाशित करना यह भी महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसलिये मैं इस अद्वितीय कार्य के लिए संयोजक और संपादक मण्डल के सदस्यों को हार्दिक शुभकामना प्रदान करते हूए उज्ज्वल भविष्य की कामना करती हूँ।

प्रो. जयश्री साठे

*अध्यक्षा, ग्लोबल संस्कृत फोरम, महाराष्ट्र प्रान्त*

*भूतपूर्व उपकुलगुरु, डेक्कन कॉलेज अभिमत विश्वविद्यालय, पुणे*

*प्रधान संपादक, संस्कृत विश्वकोश*

*विभागाध्यक्ष, संस्कृत और कोशशास्त्र विभाग*

**Sanskrit Dictionary Project**
Deccan College Post-Graduate and Research Institute,
(Deemed University), Pune 411 006 (India)
**Phone:** 020 26513287, 26513229 **E-mail:** sdp@dcpune.ac.in

**Prof. Prasad Joshi**
General Editor

**Dr. Bhav Sharma**
Secretary

प्रति
मा. अध्यक्ष
ग्लोबल संस्कृत फोरम.

दि. ०२.०८.२४

विषय – पुस्तक प्रकाशन हेतु अभिप्राय

भाषा और संस्कृति का संबंध आपस में अतुट है। भाषा के बिना संस्कृति का प्रवाह असंभव है। संस्कृति विशेष रूप से भाषा के माध्यम से प्रकट होती है। संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग भाषा है। भाषा और संस्कृति ऐतिहासिक रूप से परस्पर एक-दुसरे की पूरक है। भाषा और संस्कृति के विषय पर अनुसंधान करना यह डेक्कन कॉलेज की एक विशेष पहचान है। भाषा के क्षेत्र में गत पचहत्तर वर्षों से डेक्कन कॉलेज अभिमत विश्वविद्यालय में भाषाशास्त्र विभाग तथा संस्कृत कोशशास्त्र विभाग सुचारु रूप से कार्य कर रहे है और पुरातत्त्व विभाग में भी ऐतिहासिक अनुसंधान होते रहते है। इस औचित्य को जानकर 'भाषा और संस्कृति' इस महत्त्वपूर्ण विषय पर अधिक चिंतन करने हेतु ग्लोबल संस्कृत फोरम (वैश्विक संस्कृत मंच) और डेक्कन कॉलेज के संयुक्त तत्त्वावधान में २७-२८ अक्तुबर २०२३ में द्वितीय वैश्विक संस्कृत सम्मेलन का भव्य आयोजन डेक्कन कॉलेज के परिसर में हुआ। यह अद्वितीय अवसर प्राप्त होने से डेक्कन कॉलेज अभिमत विश्वविद्यालय ग्लोबल संस्कृत फोरम के सभी पदाधिकारीयों के प्रति सदैव कृतज्ञ रहेगा॥

ग्लोबल संस्कृत फोरम, महाराष्ट्र प्रान्त की मा. अध्यक्षा प्रो. जयश्री साठे डेक्कन कॉलेज की भूतपूर्व प्र-कुलगुरु रही है। उनके मार्गदर्शन में इससें पूर्व भी ग्लोबल संस्कृत फोरम एवं डेक्कन कॉलेज के संस्कृत और कोशशास्त्र विभाग के संयुक्त तत्त्वावधान में दो अन्ताराष्ट्रिय कार्यक्रमों का सुयोग्य नियोजन ऑनलाईन माध्यम से किया गया था। २७-२८ अक्तुबर २०२३ को डेक्कन कॉलेज में प्रथम बार ऑफलाईन माध्यम से द्वितीय वैश्विक संस्कृत सम्मेलन का आयोजन हुआ जिसमें डॉ. राजेश कुमार मिश्र और डॉ. बन्सी लव्हाळे इन्होंने संयोजक के रूप में कार्यभार संभाला। यह डेक्कन कॉलेज के लिए निश्चितही संस्मरणीय क्षण रहा। इस सम्मेलन में दो अन्ताराष्ट्रिय स्मृति पुरस्कारों को प्रदान किया गया। प्रो. पूर्णचंद्र साहू जी को **'प्रो. सत्यव्रत शास्त्री स्मृति पुरस्कार'** से सन्मानित किया गया और प्रो. भाग्यलता पाटसकर जी को **'महामहोपाध्याय प्रो. पी. जी. लाळ्ये स्मृति पुरस्कार'** से सन्मानित किया गया। इस सम्मेलन में साधारणतया २५० शोधनिबंधो का प्रत्यक्ष रूपसे तथा ऑनलाईन माध्यम से सादरीकरण हुआ, और उनमें से लगभग १०० शोधनिबंधो का प्रकाशन इस पुस्तक के माध्यम से हो रहा है।

द्वितीय वैश्विक सम्मेलन को स्नेहपूर्वक परिश्रम से सफल बनाने वाले ग्लोबल संस्कृत फोरम के सदस्यों ने जो योगदान दिया वह निश्चितही सराहनीय है और इस पुस्तक-प्रकाशन के कार्य में भी वह निरंतर कार्य कर रहे है। अतः डेक्कन कॉलेज की ओर से हम ग्लोबस संस्कृत फोरम के पदाधिकारी एवं सभी सदस्यों का हृदयसे हार्दिक अभिनंदन करते है।

(प्रो. प्रसाद जोशी)
प्र-कुलगुरु, डेक्कन कॉलेज, पदव्युत्तर पदवी एवं संशोधन संस्था (अभिमत विद्यापीठ) पुणे
प्रधान संपादक, संस्कृत विश्वकोश प्रकल्प
विभागाध्यक्ष, संस्कृत और कोशशास्त्र विभाग

**प्रो.बिष्णुपदमहापात्रः**
आचार्यः , न्यायविभागः
श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
( केन्द्रीयविश्वविद्यालयः)
नवदेहली-११००१६

## प्रधानसम्पादकीयः

**समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।**
**समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥**(ऋग्० १०/१९१/४)
**अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।**
**जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥**(अथर्व.३/३०/२)"

भारतीयसंस्कृतेः वैशिष्ट्यं तावत् समाजस्य देशस्य राष्ट्रस्य च सर्वविधसमुन्नत्यै विचारसाम्यं मतैक्यं सामञ्जस्यं च सततमभीष्टं विद्यते । एवञ्च पारिवारिकाभ्युदयाय मातृपितृगुरुशुश्रूषा पितृनिर्देशानुसरणं मातृभक्तिः पतिपरिचरणं च इप्सितं वर्तत इति इयं भारतीयासंस्कृतिः स्पष्टयति श्रुतिः । ऋक-साम-यजुष्-अथर्वेति वेदादिचतुष्टये तच्छाखाग्रन्थेषु च या भाषा प्रयुक्ता सा वैदिकभाषेति नाम्ना व्यवह्रियते । वाल्मीकि-वादरायण-कालिदासादिकाव्येषु या संस्कृतभाषा सा लौकिकसंस्कृतनाम्ना अभिधीयते । भाषा ज्ञानमूला भवति । प्रतिभावशात् तदर्थं कश्चन शब्द उपादीयते । तदुत्पत्तिः प्राक् संकेतमूला भवति । वस्तुप्रयोजनमुपादाय कश्चन शब्दः तदर्थमभिधातुमुपादीयते । प्रतिभावतां तथा शब्दनिर्माणं क्रियते । सामान्यो लोकस्तं शब्दमादत्ते प्रयुङ्क्ते च । एवं भाषोत्पत्तिः प्राक् संकेतमूला भवतीति अभिधातुं शक्यते ।

संस्कृतिस्तावत् जीवनस्यान्तरङ्गस्वरूपं प्रकाशयति । मननं चिन्तनं दार्शनिकदृष्टिः मनोवैज्ञानिकमन्वेषणं दार्शनिकविश्लेषणं कर्तव्याकर्तव्यनिर्णयः जीवनोत्कर्षाधायकतत्त्वानां गवेषणं समष्टेः व्यष्टेश्च स्वरूपं जीवनस्योद्देश्यं लक्ष्यं लोकव्यवस्थितेः साधनानि प्रकृतिपुरुषयोर्भेदाभेदविवेचनञ्च सर्वमेतत् संस्कृतिशब्देन संगृह्यते । संस्कृतिरेवैषा सततं चेतः प्रसादयति, मनोऽमलीकुरुते, दुर्भावान् दमयते, दुर्गुणान् दारयति, पापान्यपाकुरुते, आधिभौतिक-आधिदैविक-आध्यात्मिकदुःखद्वन्द्वानि दहति, ज्ञानज्योतिर्ज्वलयति, अविद्यातमोऽपहति, भूतिं भावयति, सुखं साधयति, धृतिं धारयति, गुणानागमयति, सत्यं स्थापयति, शान्तिं समादधाति, ऐश्वर्यञ्च प्रयच्छति । न केवलमेषोपकर्त्री व्यष्टेरपितु समष्टेरपि जीवनभूता । उपकरोति चैषाऽऽत्मनो मनसो लोकस्य राष्ट्रस्य विश्वस्य संसृतेश्च । एतत् सर्वं भारतीयभाषायाः संस्कृतेश्च महत्त्वं नितरां प्रकाशयतीति मनसि निधाय वैश्विकसंस्कृतमञ्चेन **'भाषा और संस्कृति'** ग्रन्थकुसुमाञ्जलिः प्रकाश्यते इति मोमुद्यते मे मनः । विशेषतः वैदिकभाषायां लौकिकभाषायां भारतीयसंस्कृतौ च विद्यमानानि यानि सामाजिकाभ्युदयतत्त्वानि वैज्ञानिकतत्त्वानि च विद्यन्ते तेषां तत्त्वानां समाजोन्मुखीकरणम् अनेन ग्रन्थरत्नेन भविष्यतीति मे भाति । एतदर्थं सम्पादकेभ्यः भूरिशः धन्यवादाः शुभाशीर्वादाश्च प्रदीयन्ते । अनेन संस्कृतजगति निगूढतत्त्वानां समुद्घाटनाय एतेषां सम्पादकानां शरीर-वाग्-बुद्धि-मनांसि सततं सुस्थतामेकरूपतां च प्राप्नुयुरिति भगवन्तं विश्वनाथं सम्प्रार्थ्य विरमामीति शम् ।

*बिष्णुपद महापात्र ·*

**प्रो.बिष्णुपदमहापात्रः**
आचार्यः , न्यायविभागः
श्री.ला.ब.शा.रा.सं.विश्वविद्यालयः

# विषयानुक्रमणिका


| क्र. | आलेख | लेखक/लेखिका नाम | पृ.सं. |
|---|---|---|---|
| 1. | पांडुरंगशास्त्री आठवले के साहित्य में संस्कृत भाषा और संस्कृति का महत्व | प्रा. प्रशांत बाबूराव बिरादार | 17 |
| 2. | MetreVirāj and its Connection with Food | Radhika Deshpandey | 29 |
| 3. | बौद्ध जातकों में भाषा और संस्कृतिः एक अध्ययन | राजेश कुमार राजौरिया | 37 |
| 4. | Study of Urubhangam of Bhāsa in The Light of Theories of Emotions in Psychology | Renuka Panchal | 43 |
| 5. | श्रीमक्किभट्टविरचितयाः रघुवंशविवरणव्याख्यायाः वैशिष्ट्यम् | बालचन्द्रकृष्णभट्टः | 49 |
| 6. | भारतीय यज्ञ संस्कृति और पर्यावरण महत्व | प्रा. दर्शना सायम | 58 |
| 7. | संस्कृत नाट्य परम्परा में भाषा और संस्कृति | डॉ० रीतेश प्रसाद टम्टा | 67 |
| 8. | Significance of Pali Language in Buddhist Literature with a focus on its Origin and Development | Ruma Mukherjee | 76 |
| 9. | Importance of Language and Culture in Vedic Literature Rigveda | Prof. S.S. Joshi | 88 |
| 10. | महाकवि अश्वघोष विरचित बुद्धचरितम् की भाषा शैलीः पञ्चम सर्ग के संदर्भ में | समृद्धि धनंजय भालवणकर | 91 |
| 11. | पुराणों में भारतीय संस्कृति | डॉ० सरोज कुमारी | 103 |
| 12. | Sāmmansyāni hymns in the Atharvaveda: prayers for Achieving harmony | Shilpa Sumant | 112 |
| 13. | भाषा और महाकवि भास के नाटकों में संस्कृति | शिल्पी प्रसाद | 116 |

| | | | |
|---|---|---|---|
| 14. | विश्ववारा वैदिकी संस्कृति: एक विमर्श | डॉ. सूर्यकान्त त्रिपाठी | 124 |
| 15. | श्रुति-साहित्य में रूप-दर्शन की परिकल्पना | डॉ. विनोद चौधरी | 128 |
| 16. | वेदकालीन कृषि संस्कृति | वन्दना जानी | 148 |
| 17. | Language and Culture in epic Literature | Yogesh Ramnath Khalkar | 162 |
| 18. | आदि शंकराचार्य रचित अन्नपूर्णास्तोत्रम् में प्राप्त विशेषण की भाषा और भारतीय संस्कृति | कणझरिया हरेश. जी | 166 |
| 19. | भगवान शिव की अष्टमूर्ति या प्रकृति के अष्टरूप | डॉ. सुबोध कुमार साहू | 175 |
| 20. | भाषा और संस्कृति का वर्तमान सामाजिक संदर्भ | शीतल जोशी | 184 |
| 21. | भाषा और संस्कृति की भारतीय एवं वैश्विक दृष्टि | श्री. शरदचंद्र बंड | 198 |
| 22. | रामायण में वर्णित पर्यावरणीय घटक अग्नितत्त्व का चिंतन | सौ.वैशाली नि. गौरशेट्टीवार | 205 |
| 23. | रावण : रामायण पर आधारित अभिषेक नाटक में 'प्रतिनायक' | लीना सुनील पांडे | 217 |
| 24. | The Sacrifice Described in the Balkanda of Valmiki Ramayana | Mrs. Mohini Makrand Joshi | 227 |
| 25. | Science of Sound Consciousness: The Language and Culture in Sant Mat | Dr. Arati Swaroop | 237 |
| 26. | महाराजनलविरचितम् 'पाकदर्पणम्'- एक जीवनामृत : भारतीय पाककला का अद्भुत निदर्शन | वैद्य स्वप्नील अनिल सहस्रबुद्धे | 249 |
| 27. | Gods like paroksha names and dislike Pratyaksha | Prof. Poornachandra Sahoo | 262 |

| | | | |
|---|---|---|---|
| 28. | भारतीया संस्कृतिः संस्कृतञ्च | डॉ. वाई. सुरेशः | 281 |
| 29. | औषधियों का आधुनिक स्वरूप व प्रयोग: एक समीक्षात्मक अध्ययन | डॉ० मधु | 295 |
| 30. | वाल्मीकि रामायण में प्रतिबिम्बित रसात्मक स्वरूप: ध्वनि सिद्धान्त के विशिष्ट परिप्रेक्ष्य में | मंजु कुमारी | 309 |
| 31. | उपनिषदां भाषा संस्कृतिश्च | .. | 322 |
| 32. | भारतीय दर्शन से अनुप्राणित सन्त साहित्य की वर्तमान समय में प्रासंगिकता | डॉ. अंशुल दुबे | 328 |
| 33. | वेदकालीन कृषि संस्कृति | जानी वन्दना यज्ञप्रकाश | 343 |
| 34. | संस्कृत भाषा का आयुर्वेद अध्ययन में महत्व | वै. हेमांगी श्रीरंग जोशी | 357 |
| 35. | संस्कृत भाषा की महत्ता एवं उपादेयता | डॉ. गौरी चावला | 378 |
| 36. | संस्कृति प्रवाहिका संस्कृत भाषा संस्कृतिः संस्कृताश्रिता | डॉ. संजीवनी श्रीपाद नेरकर | 386 |
| 37. | भारतीय संस्कृति की विश्व व्यापकता | डॉ. दीप लता | 395 |
| 38. | भरतमुनिः नाट्यशास्त्रम् | Dr. K.V.R.B. Vara Lakshami | 404 |
| 39. | मेल्पत्तूर नारायणभट्टपादविरचितानां स्तोत्रकाव्यानां समीक्षणम् | डॉ. जस्टिन पी.जी. | 415 |
| 40. | मङ्गलाचरणेषु कालिदासस्य शिवाराधना | प्रा. डो. निशिता एस. शुक्ल | 425 |
| 41. | रामायण में निरूपित संस्कृति और सभ्यता | डॉ. निशिता एस. शुक्ल | 436 |
| 42. | किरातार्जुनीय में वाणी और संस्कृति विमर्श | प्रा. परबत एच.डाभी | 452 |
| 43. | नागपुरस्थाः संस्कृतसरस्वत्यः | डॉ. कल्याणी काळे | 462 |

| | | | |
|---|---|---|---|
| 44. | महाराजनलविरचितम् पाकदर्पणम् – एक जीवनामृत भारतीय पाककला का अद्भुत निदर्शन | वैद्य स्वप्निल अनिल सहस्रबुद्धे | 469 |
| 45. | Language and Literature in Theatrical Tradition (Natyashastra) | Mrs. Mehkarkar Swati Vishwambharrao | 483 |
| 46. | Cultural Elements in Sanskrit Grammar | Dr. Bhavani Ramchandran | 488 |
| 47. | आधुनिक जीवन प्रणाली में संस्कृत भाषा एवं संस्कृति का प्रभाव | डॉ. नरेन्द्र कुमार | 498 |
| 48. | भारतीय भाषाओं पर संस्कृत का प्रभाव | नयना बी. गार्गी | 508 |

# पांडुरंगशास्त्री आठवले के साहित्य में संस्कृतभाषा और संस्कृति का महत्व

**प्रा. प्रशांत बाबूराव बिरादार**
संस्कृत विभाग, महात्मा फुले कॉलेज, अहमदपुर

पांडुरंगशास्त्री संस्कृत साहित्य के ज्ञाता, अध्येता और विद्वान थे। उन्होंने संस्कृत साहित्य का और संस्कृति का गहन अध्ययन किया था। संस्कृत और उसका साहित्य जन-जन तक पहुंचाने वाले और लगभग 30 से 40 देश में फैला हुआ स्वाध्याय परिवार के हुए प्रणेता थे।

पांडुरंगशास्त्री आठवले एक संस्कृत विद्वान, दार्शनिक और स्वाध्याय परिवार के अग्रणी हैं। उन्होंने संस्कृत साहित्य के साथ-साथ कई विदेशी ग्रंथों का भी अध्ययन किया। उन्होंने संस्कृत साहित्य के साथ-साथ कई विदेशी ग्रंथों का भी अध्ययन किया। यह देखा जा सकता है कि उनके साहित्य पर संस्कृत भाषा और साहित्य का बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने संस्कृत ग्रंथों और संस्कृति पर कई व्याख्यान दिये। उनके प्रवचनों पर आधारित तीस (30) से अधिक रचनाएँ सद्विचार दर्शन प्रकाशन, मुंबई द्वारा प्रकाशित की गई हैं।

उन्होंने संस्कृत भाषा और संस्कृति का महत्व जाना था उनके साहित्य में संस्कृत भाषा और साहित्य का महत्व स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। उन्होंने गहराई में जाकर संस्कृत शब्दों के अर्थ नए रूप से बताएं जो आजकल के बुद्धि प्रामण्यवादी लोगों को भी पसंद आए। उन्होंने संस्कृत भाषा और संस्कृति का आधुनिक काल में क्या महत्व है इस पर भी प्रकाश डाला। संस्कृत भाषा संस्कृति और धर्म की नए रूप में बुद्धिजन तरीके से प्रस्तुति कर जैसे पुनरुद्धार ही किया। प्रस्तुत शोधलेख के माध्यम से उनके साहित्य में संस्कृत भाषा और संस्कृति का महत्व क्या था इसकी समीक्षा

की जाएगी।

पांडुरंगशास्त्री आठवले उर्फ दादा की लगभग सभी रचनाएँ और स्वाध्याय की रचनाएँ संस्कृत की अमिट छाप छोड़ती हुई दिखाई देती हैं। उन्होंने उपनिषद, श्रीमद्भगवद्गीता, रामायण, महाभारत आदि संस्कृत पुस्तकों पर व्याख्यान दिये। साथ ही उनकी कृतियों 'गीतामृतम', 'बिल्पपत्र', तुलसीदल केनोपनिषद, नारायणोपनिषद, 'अन्नपूर्णास्तोत्रम' आदि में मूल संस्कृत पाठ का बहुत ही बुद्धिमत्तापूर्ण और आधुनिक तरीके से विश्लेषण किया गया है। उनकी संस्कृति पूजा आदि अन्य गतिविधियाँ भी संस्कृत के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं...

दादा ने कई पुस्तकों में किसी बात के समर्थन में संस्कृत ग्रंथों की कही बातों का प्रमाण दिया है। 'मूर्तिपूजा' के विवादास्पद मुद्दे पर उनकी 'मूर्तिपूजा' नामक पुस्तक है। इसमें उन्होंने भगवान के लगुन-साकार स्वरूप के समर्थन में वेदों और गीता के श्लोक उद्धृत किये हैं। गीता भी सगुण साकार का समर्थन करती है और अव्यक्त की पूजा को कष्टकारी मानती है। "क्लेशोधिकारस्तेषाम्व्यक्तासक्तचेत्सम्" की तरह वेदों की ऋचाओं को भी भौतिक स्वरूप के मानक के रूप में लिया गया है। "या ते रुद्र शिव 'नमो 'सोमय च रुद्रयेच'' की तरह उन्होंने अपने कई साहित्य में भी ऐसे मानक दिए हैं।

दादा ने अपने साहित्य और विभिन्न कार्यों में किसी चीज़ के महत्व को बढ़ाने के लिए संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने कई प्रयोग स्थापित किए जैसे 'वृक्षमंदिर' जो एक वृक्ष मंदिर है, 'अमृतलयम' एक छोटी कुटिया वाला मंदिर है, योगेश्वर भावकृषि आदि। मैं वृक्ष में अश्वत्थ है *यह भगवान के वचन और वसंत पंचमी का महत्व भी बताते हैं। भगवंतानी ने 'मैं ऋतु में वसंत हूं' गीत में कहा, उन्होंने 'संस्कृत पूजन' पुस्तक में भारतीय त्योहारों के महत्व को विस्तार से बताया है।

पांडुरंगशास्त्री को हमारी भारतीय वैदिक संस्कृति की खूबी महसूस हुई, उन्होंने जीवन भर संस्कृति के विकास और उत्थान के लिए काम किया। संस्कृति का मूलस्थान संस्कृत है। इस प्रकार अपनी संस्कृति की व्याख्या करते हुए उन्होंने अनेक संस्कृत साहित्य से प्रमाण अथवा उदाहरण दिये हैं। भारतीय लोग एकादशी का व्रत रखते हैं। उन्होंने ऐसी एकादशियों के वास्तविक महत्व को संस्कृत के आधार पर समझाया 'प्रबोधिनी एकादशी के बारे में बात करते हुए उन्होंने रामायण में राम और सुग्रीव की कहानी का वर्णन किया है। प्रबोधिनी एकादशी वह दिन है जब लक्ष्मण ने प्रमादी सुग्रीव को चेतावनी देकर जगाया था। साथ ही हमारी संस्कृति मनुष्य, पशु-पक्षियों में चेतना मानकर उनकी पूजा करने को प्रोत्साहित करती है। इसके अलावा पेड़-पौधों में इन्हें आत्मा माना जाता है, इन्हें भाई-बहन माना जाता है और इनकी पूजा भी की जाती है। इस परंपरा को समझाने के लिए आठवले ने महान संस्कृत कवि कालिदास के साहित्य का उदाहरण दिया। रघुवंश में, महशि वरतंतु के शिष्य कौत्स और रघुराज के बीच पौधे की कुशल चिकित्सा के बारे में बातचीत हुई थी। इसके अलावा, कालिदास के नाटक अभिज्ञानशाकुंतलम में, शकुंत, पेड़ों को पानी देते हुए कहते हैं, अपनी गर्मी के आदेश के रूप में नहीं, बल्कि पेड़ के प्रति भाईचारे के प्यार के रूप में, वह भारतीय संस्कृति का महिमामंडन करते हैं।

उनकी भाषा सरल एवं प्रवाहपूर्ण है। वे संस्कृत सुभाषितों का प्रयोग भी बड़ी सहजता से करते हैं। सुभाषितों के प्रयोग से श्रोता या पाठक किसी बात को जल्दी समझ जाते हैं, ज्योतिर्लिंग में श्री अमलेश्वर ज्योतिलिंग के बारे में जानकारी देते हुए वे सुभाषितों के माध्यम से विज्ञान के महत्व को बताते हैं जैसे

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय।

खलस्य साधोर् विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

श्रीमद्भगवद्गीता के महत्व को जानकर लोगों को इसे पढ़ने की प्रेरणा मिली1 इसके महत्व को समझाते हुए

सुभाषित कहते हैं,

**गगन गगनाकर सागरः सागरोपमः।**

**रामरावण योरुयुद्ध रामरावणयोरिव..**

इसी प्रकार, जिस प्रकार जगन्नाथ पंडित ने गंगा की प्रशंसा में 'गंगालहरी' लिखी, उसी प्रकार गीता की तुलना किसी अन्य वस्तु से नहीं, बल्कि गीता से ही करना उचित होगा। इस बात को समझते हुए पांडुरंगशास्त्री ने ईश्वर पर विश्वास करने के बारे में कहा कि वह ईश्वर है उपजविका की व्यवस्था करता है। हे सुभाषित के माध्यम से समजाते है।

**वृत्यर्थ नातिचेष्टत सा हि धात्रेव निर्मिता !**

**गर्भादुत्पातिते जन्तौ मातुः प्रसवतः स्तनौ।। "**

ऐसी विभिन्न सुभाषितों का प्रयोग दादा ने अपने साहित्य में करके अपेक्षित बातें स्पष्ट कीं। सुभाविता की तरह, यह पाया गया है कि उन्होंने जहां भी आवश्यक हो वहां संस्कृत कुंजी जोड़ दी है। उन्होंने युवाओं को उपदेश देते हुए युवाओं से विनम्र और आशावादी बनने को कहा. संस्कृत की उक्ति 'सत्यमेव जयते नानृतम्' के आधार पर बताया गया कि ऐसे 192 दृष्टिकोण वाला व्यक्ति हमेशा जीतता है। साथ ही युवा को मजबूत होना चाहिए क्योंकि 'नवमात्मा बलहीनेन लभ्यः 5 आशा ने सूक्ति के माध्यम से कमजोर की सीमा बताई। त्रिदल महिमा की व्याख्या करने वाली पुस्तक में श्रीसूक्तम आया है। सुख, आलस्य और निद्रा ये तीन दोष हैं और यदि इनसे सुख आएगा तो विद्या नहीं आएगी, उन्होंने 'सुवर्थिनः कुतो विद्या कुतो विद्यार्थीनः सुखम्' सूक्ति के माध्यम से समझाया।

मराठी या हिंदी पढ़ते समय, साथ ही संस्कृत ग्रंथों पर मराठी में टिप्पणियाँ पढ़ते समय, कई संस्कृत शब्द सामने आते हैं। ऐसे शब्द सुनने को मिलते हैं लेकिन पाठक उनका उचित अर्थ नहीं समझ पाते, इसलिए आठवले ने संस्कृत शब्द के मूल में जाकर उसकी व्युत्पत्ति आदि समझाकर उसका अर्थ समझाया। जैसे गीता में 'योगी' शब्द 'युज्' धातु से बना है और इसका अर्थ है 'जुड़ा हुआ'। उनका मानना है कि इंसान को परमात्मा से जुड़ना चाहिए। इसके अलावा, 'सत्य' शब्द से परिचित होने के बावजूद, उन्हें इसका सही अर्थ समझ में नहीं आया, इसलिए दादा ने संस्कृत की मदद से सत्य का अर्थ समझाया, 'सते हितम् सत्यम्' जिसका अर्थ है सत्य जो सत् की ओर ले जाता है। उन्होंने कई शब्दों की व्याख्या की संस्कृत की सहायता से।

इस प्रकार पांडुरंग शास्त्री आठवले का साहित्य लगभग सभी रचनाओं में संस्कृत भाषा एवं साहित्य से प्रभावित है। यह कहना गलत नहीं है कि संस्कृत ने मराठी साहित्य की समृद्धि में इजाफा किया है।

**संस्कृति की परिभाषा और अर्थ:-**

'संस्कृत' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'सम्' शब्द से हुई है जिसमें 'कृ' उपसर्ग लगा है। संस्कृति में किसी क्षेत्र के लोगों का खान-पान, रहन-सहन, पहनावा, त्यौहार आदि शामिल होते हैं।

संस्कृति की अनेक परिभाषाएँ हैं। पांडुरंग शास्त्री के अनुसार, 'संस्कृत एक विचार प्रणाली है; जीवन की एक प्रणाली जिसे विचार प्रणाली कहा जाता है; जीवन की एक प्रणाली जिसे जीवन प्रणाली कहा जाता है; जीवन की एक प्रणाली जिसे जीवन प्रणाली कहा जाता है; एक पूजा प्रणाली; एक प्रणाली पूजा का; पांडुरंग शास्त्री ने विचार, जीवन और उपासना इन तीन पहलुओं में संस्कृति के विभिन्न तत्वों का समावेश किया है। संस्कृति व्यक्ति के जीवन को दिशा देती है। उनका यह भी कहना है

कि 'संस्कृति व्यक्तिगत के साथ-साथ सामाजिक विकास का दर्शन है'१७.

**संस्कृति की प्राचीनता:-**

विश्व में अनेक प्राचीन संस्कृतियाँ विद्यमान थीं। इनमें से कुछ संस्कृतियाँ आज भी प्रसिद्ध मानी जाती हैं। लेकिन ये सभी संस्कृतियाँ आज देखने को नहीं मिलती। भारत की वैदिक संस्कृति ऐसी प्राचीन संस्कृतियों में से एक है, जो आज तक बची हुई है। पांडुरंगशास्त्री कहते हैं कि:-

"प्राचीन सभ्यता की कई संस्कृतियाँ समय के साथ लुप्त हो गई हैं। वे कहते हैं कि भारतीय संस्कृति वैदिक संस्कृति है, व्यासमान्य संस्कृति है। दुनिया की अड़तालीस संस्कृतियाँ समय के गर्भ में समा गईं। लेकिन आज, एकमात्र संस्कृति सैकड़ों वर्षों की विदेशी सरकारों के जबरदस्त प्रभाव के बावजूद जो जीवित है वह भारतीय संस्कृति है।'१८

पांडुरंग शास्त्री मानते हैं कि भारतीय संस्कृति विश्व की अन्य संस्कृतियों से अद्वितीय है। इसका एक कारण इसकी प्राचीनता है। क्योंकि उनका मानना है कि जो चीजें सही, अच्छी और सामाजिक रूप से स्वीकृत हैं वे समय के साथ बनी रहती हैं। हमारी संस्कृति महान है और मानव जीवन को पूर्णता की ओर ले जाता है। यह केवल भारतीय संस्कृति की विचारधारा से ही प्राप्त किया जा सकता है।१९

संस्कृति का रख-रखाव समाज द्वारा होता है। इसका पालन-पोषण और संरक्षण समाज में ही होता है। इसीलिए कहा जाता है कि समाज का मनुष्य धूम्रपान करता है। लेकिन समाज में केवल उच्च, जीवनदायी और सही चीजें ही जीवित रहती हैं, अन्यथा नष्ट हो जाती हैं। संक्षेप में , भारतीय संस्कृति महान होने के कारण ही यह आज तक बची हुई है।

**4. संस्कृति के उपकरण:-**

पांडुरंग शास्त्री आठवले ने संस्कृति के कुछ उपकरणों का उल्लेख किया है जो भारतीय संस्कृति की विशेषता हैं। शायद आठवले ने संस्कृति के उन उपकरणों को माना है जो संस्कृति का विकास, संरक्षण, पोषण और संरक्षण करते हैं। इन उपकरणों के माध्यम से संस्कृति जमीनी स्तर के लोगों तक पहुंचती है। उन्होंने मंदिर, मूर्ति पूजा, एकादशी, व्रत, यज्ञ, ब्राह्मण, युवा, गृहस्थ, वानप्रस्थ, तीर्थयात्रा आदि को सांस्कृतिक उपकरण कहा है।२०

आज हम पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण करने लगे हैं। लोग हमारी महान संस्कृति को भूलते जा रहे हैं। इसलिए संस्कृति के उपकरणों में आई विकृतियों को दूर करने की बजाय उन्हें नजरअंदाज कर दूर कर रहे हैं। लेकिन संस्कृति के ये उपकरण मूलतः शुद्ध हैं और इनका अध्ययन किया जाना चाहिए। और ज्ञात.... "यदि आप गंगा की शुद्ध प्रकृति को देखना चाहते हैं, तो आपको गंगा के स्रोत के पास जाना होगा जहाँ से यह हिमालय से निकलती है, जैसे आप मूर्तिपूजा, मंदिर, धर्म, बलिदान आदि के सिद्धांतों के करीब जाते हैं। , यदि आप उनका गहराई से अध्ययन करेंगे तो ही आप उन उपकरणों की शुद्ध प्रकृति को देख पाएंगे।"[२१]

उनका मानना है कि समय के साथ इसमें जो दोष या विकृतियाँ आ गयी हैं उन्हें दूर करके इसे पुनर्जीवित किया जाना चाहिए। आज के समय में भी उनकी आध्यात्मिक, मानसिक, सामाजिक आदि आवश्यकताओं का उल्लेख किया गया।

**सांस्कृतिक प्रतीक:-**

सांस्कृतिक उपकरणों के साथ-साथ त्यौहार और प्रतीक भी संस्कृति का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। समय के साथ इन त्यौहारों और प्रतीकों में भी विकृतियाँ या दोष आ गए। इस कारण आधुनिक समय में ये महत्वपूर्ण

नहीं रह गए। त्यौहार निर्जीव लगने लगे और प्रतीक अप्रचलित। पांडुरंगशास्त्री ने उन्हें भी पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। उन्होंने त्योहार के महत्व और प्रतीक के पीछे की महान भूमिका के बारे में बताया।

कालिदास ने कहा था कि मनुष्य एक उत्सवधर्मी व्यक्ति है। त्यौहार मनुष्य के रोजमर्रा के सांसारिक जीवन से उल्लास पैदा कर उसमें आनंद और नई चेतना लाने का काम करते हैं।२२ लेकिन उनके महत्व को जानकर उन्हें भावनापूर्वक मनाया जाना चाहिए।

त्योहार की तरह प्रतीकों का भी उतना ही महत्व है। प्रतीकों के पीछे बहुत बड़ी भावना और सोच होती है। उन्हें समझना चाहिए। जैसे कि तिरंगा झंडा एक प्रतीक है लेकिन इसके पीछे राष्ट्रीयता की बहुत बड़ी भावना होती है। पांडुरंगशास्त्र में कहा गया है कि 'प्रतीक बुद्धि का वैभव हैं। वे संस्कृति के विचार और विज्ञान हैं।' कई सांस्कृतिक प्रतीकों के महत्व को प्रदर्शित किया गया। एक बार जब आप इन प्रतीकों का महत्व जान लेते हैं तो आपको इनके प्रति अपनापन महसूस होने लगता है। वे अपनी भावनाओं से महत्व हासिल करते हैं।

**सृजन का प्रेम:-**

पांडुरंग शास्त्री अठावले को भारतीय संस्कृति महान लगने का एक कारण इस संस्कृति द्वारा विकसित सृजन के प्रति आकर्षण था। भारत में वैदिक काल से ही प्रकृति की पूजा की जाती रही है। ऐसा माना जाता था कि सूर्य, वृक्ष, अग्नि, पौधों आदि में भी आत्मा की गंध होती है और उनकी पूजा की जानी चाहिए।

पश्चिम में प्रकृति को शत्रु मानकर उस पर विजय प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। प्रकृति को आनंद की दृष्टि से देखा जाता है।

पांडुरंग शास्त्री ने संस्कृति में प्रत्येक पेड़-पौधे, पशु-पक्षी का महत्व

बताया1 उन्होंने अपनी पूजा का अर्थ या अर्थ समझाया। उन्होंने लोगों की आस्था को बहाल करने का प्रयास किया, जो सृष्टि पूजा के बारे में ज्ञान की कमी के कारण खो गई थी। वे कहते हैं कि भारतीय संस्कृति हमें इंसानों के साथ-साथ गैर प्राणियों को भी देखना सिखाती है। मानव प्राणियों को प्रेम से जोड़ने का प्रयास किया...'२३

स्वाध्याय परिवार के माध्यम से उन्होंने विभिन्न प्रयोगों के माध्यम से सृजन प्रेम को उजागर किया है।

**सांस्कृतिक इतिहास का विरूपण:-**

भारत की संस्कृति इतनी महान है. इसमें व्यक्ति और समाज के समग्र विकास पर विचार किया गया है। लेकिन कुछ शत्रुओं ने जानबूझकर सांस्कृतिक इतिहास को विकृत किया है। पांडुरंग शास्त्री कहते हैं, 'अरब, डच, फिरंगी, अंग्रेज, तुर्क, ऐसे सभी लोगों ने हम पर हमला किया और हमें हरा दिया और हम हार गए। जो पार्टी लड़ाई हार जाती है, उसका कुछ भी भला नहीं होता. यहां भी यही साबित करने की कोशिश की गई है.'२४

हम पर शासन करने वाले अंग्रेज हमारे राष्ट्र के इतिहास को विकृत करके संस्कृति का विकास करना चाहते थे। हमारे अंदर हीनता की भावना पैदा करने के लिए हमारे सांस्कृतिक इतिहास का मजाक उड़ाया गया और बचकाना किया गया। कुछ लोगों ने कहा है कि भारत के बारे में कुछ भी अच्छा नहीं था। वहां कोई शिक्षा, संस्कृति, संगीत, प्रशासन आदि नहीं था। जैसा कि जस्टिस वुड्रोफ ने 'पे पदकपम बपुप्सप्रामक चन्हम 148' में लिखा है, 'भारत में कोई संस्कृति ही नहीं थी।' मेयो ने ऐसे कई लेख लिखे। मदर इंडिया में विकृतियाँ मैक्स मुलर ने भी कहा था कि भपेजवतल और इंदप्पमदज ऐनदतपज सपजमतंजनतम में आर्य के निकट कोई संस्कृति नहीं थी। मेकाले ने कहा कि संस्कृत साहित्य में कोई गहराई

आदि नहीं है और थिलि ने कहा कि भारत में कोई दर्शन नहीं है।२४ उन्होंने कई लोगों के विचारों की समीक्षा की और इसका समाधान किया।

कुछ लोग कहते हैं कि हमारे पास जो कुछ भी अच्छा है वह बाहर से आता है या हमसे लिया गया है। इसमें आरोप लगाया गया है कि नाटक ग्रीक से, कीमिया अरबी से, गीता बाइबिल से, रामायण होमर के इलियड से ली गई है लेकिन ये सभी प्रामाणिक नहीं हैं बल्कि केवल तर्क हैं क्योंकि भारतीय ग्रंथ उनसे पहले के साबित होते हैं। पांडुरंगशास्त्री का कहना है कि ये सभी विकृति का हिस्सा हैं।

**संस्कृति का संरक्षण एवं सुरक्षा:-**

पांडुरंगशास्त्री आठवले ने भारत सहित विश्व की कई संस्कृतियों का गहराई से अध्ययन किया। उन्हें लगा कि उनकी संस्कृति बहुत महान है। लेकिन आज इसे अपवित्र किया जा रहा है। मनुष्य के समृद्ध भौतिक जीवन के साथ-साथ उसके पारलौकिक और आध्यात्मिक जीवन का मार्गदर्शन करने वाली वैदिक संस्कृति आज रो रही है।

आज हम पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण कर अपनी संस्कृति को नजरअंदाज कर रहे हैं। हम अपनी संस्कृति को भी ठीक से नहीं जानते हैं। हम उसके बारे में अपनी अज्ञानता के कारण उसे कम आंक रहे हैं। आज का बुद्धिमान व्यक्ति हर चीज़ को बुद्धि की कसौटी पर कस रहा है। जो बुद्धि में आये वही करने लगता है, वह बुद्धिनिष्ठ कहलाता है। भारत में ऐसे बुद्धिजीवियों की कमी नहीं है। उन्हें भारत की वैभवशाली और दिव्य संस्कृति का अध्ययन करना चाहिए और उसे ईमानदारी से स्वीकार करना चाहिए। उनका कहना है कि ऐसा करना चाहिए. इसके लिए संस्कृति का विस्तार या प्रसार करने वाले उपकरणों को पुनर्जीवित करने की आवश्यकता है. ब्राह्मण हैं संस्कृति के पोषक हैं और उन्हें संस्कृति फैलाने का काम करना चाहिए। वैश्य संस्कृति के विस्तारक हैं जबकि क्षत्रिय

संस्कृति के रक्षक हैं। उसी प्रकार युवाओं को गृहस्थ, वानप्रस्थ के साथ-साथ संस्कृति के लिए भी प्रयास करना चाहिए। वे कहते हैं, जिस संस्कृति के लिए मेरे पुरखों ने खून बहाया, वह मेरी मां है। इसे पुनर्जीवित करने के लिए मैं खून बहाऊंगा, ऐसी दृढ़ निष्ठा पैदा होनी चाहिए।

उन्होंने स्वाध्याय परिवार के माध्यम से संस्कृति के संरक्षण और संवर्धन का भरसक प्रयास किया।

**संस्कृति का महत्व:-**

भारतीय संस्कृति अत्यंत प्राचीन है। ऐसा इसलिए है क्योंकि यह महान है कि यह क्रूर समय के प्रवाह से बच जाता है। इसमें विविधता और समावेशिता है। इसमें व्यक्ति के जीवन विकास का संपूर्ण विचार है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पर विचार किया गया है। हमारी संस्कृति ने अर्थ और काम को हल्के में नहीं लिया है। ''भारतीय संस्कृति अर्थ और काम का समुचित चिंतन करके मनुष्य को जीवन विकास की ओर ले जाने की बात करती है। अर्थ और कमो दो में से भी वह उपेक्षा नहीं करती।'२७

साथ ही ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के माध्यम से व्यक्ति के जीवन को दिशा देते हैं। संस्कृति की महानता व्यक्ति, परिवार व्यवस्था, धर्म, राज्य आदि के व्यापक विचार से समाज के उत्थान के लिए सोचने से देखी जाती है। .

पांडुरंग शास्त्री और उनके द्वारा गठित स्वाध्याय परिवार ऐसी महान संस्कृति की रक्षा, संरक्षण और संवर्धन में अग्रणी बने1 उनका आग्रह: दिव्य मस्तिष्क में विश्वास करने वाले युवाओं का समूह संस्कृति का अध्ययन करने और इसे लोगों तक लाने में सक्रिय है। इसी तरह, स्वाध्याय गृहस्थ गांव-गांव जाते हैं और संस्कृति का प्रसार करने के लिए वास्तविक लोगों से मिलते हैं।

## संदर्भ-ग्रन्थ-सूची:-

१. श्रीमदभगवद्गीता १२/०५
२. कृष्ण यजुर्वेद ४/५ मूर्तिपूजा-कप्यिार दर्शन प्रकाशन मुंबई पृ. १२
३. उमासूक्त मूर्तिपूजा-सद्विचार दर्शन प्रकाशन मुंबई पृ. १२ पृ.१२ –
४. 'अश्वत्थ सर्ववृक्षाणाम्' गीता १०/ 'एष पन्था एतत्कर्म' पृ. ११०
५. ऋतुनां कुसुमाकर गीता २०/ संस्कृतिपूजन पू. ३१
६. संस्कृतिपूजन सद्विचार दर्शन प्रकाशन मुंबई पृ. ०१
७. संस्कृतिपूजन सद्विचार दर्शन प्रकाशन मुंबई पृ. १३
८. संस्कृतिपूजन सद्विचार दर्शन प्रकाशन मुंबई पृ. २१०
९. जीवनतीर्थ सद्विचार दर्शन प्रकाशन मुंबई पृ. ७२
१०. गीतेचे पंचप्राण सद्विचार दर्शन प्रकाशन मुंबई पृ. १
११. गंगालहरी सद्विचार दर्शन प्रकाशन मुंबई पृ. ३०
१२. तरुण सद्विचार दर्शन प्रकाशन मुंबई पृ. २६
१३. तरुण सद्विचार दर्शन प्रकाशन मुंबई पृ. २९
१४. श्रीसूक्तम् सद्विचार दर्शन प्रकाशन मुंबई पृ. १७५
१५. तुलसीदल - सद्विचार दर्शन प्रकाशन मुंबई पृ. ८५
१६. संस्कृती पूजन पृ.3
१७. विजिगिषु जीवनवाद पृ.4
१८. संस्कृती पूजन पृ.3
१९. तत्रैव
२०. एष पन्था एतत्कर्म पृ.22
२१. तत्रैव
२२. संस्कृती पूजन पृ.1
२३. तत्रैव पृ.74
२४. विजिगिषु जीवनवाद पृ.7
२५. तत्रैव पृ.9
२६. एष पन्था एतत्कर्म पृ.1
२७. संस्कृती चिंतन पृ.181

# MetreVirāj and its Connection with Food

**Radhika Deshpande**
PhD Candidate,
Deccan College Post Graduate and Research Institute,Pune

## 0. Introduction:-

Food is one of the basic necessities for all the living beings and its importance has never been ignored at any developing stage of human civilizations. This approach towards food is also reflected in Vedic Literature. 'Anna' is the term used for food in general. Amongst the seven important Vedic metres, metre '*virāj*' is interpreted to be '*anna*'. Surprisingly, there is no uniform formula that describes the external form of the said metre. There are more than one definition about the number ofletters in each *pāda*, exact number of *pāda* and the nature of the metre. But, *virāj* is said to bring us food irrespective of its form. Therefore it calls for researcher's interests into an inquiry. The Monier Williams dictionary also mentions that *virāj* is mystically regarded as 'food', and invocations are directed to be made in this metre when food is the special object of prayer.

The information found in Vedic literature about metre*virāj* is manifold and ambiguous. Hence this paper attempts to explore the nature of term *virāj* and its connection with food.

## 1. Virāj as a Vedic Metre:-

Chandaḥśāstra is one of the six vedāṅgas. Hence, without the *chandas*, the Vedic literature, and, most importantly, Vedic sacrifices are incomplete. Some Saṁhitāslike MaitrāyaṇīSaṁhitā of Yajurveda and many Brāhmaṇa treatises have discussed alot about the importance of metre in the sacrificial system. Metres are said to be the animals that help the prayers and offerings made by *yajamāna* to reach the desired deity[1]. Renowned Vedic scholar Dr. G.U. Thite has written a detailed article on the

---

1 ŚatBr. IV.iv.3.2

doctrine of Vedic metres where he has discussed how metres were given importance in the Vedic literature[1].

1.1 Etymology of Virāj:

Virāj is a Vedic metre and its references occur in various texts. The gender of word Virāj, in its sense of metre, is feminine. DevatādhyāyaBrāhmaṇa (3.12) gives etymology of the name of the metre using three roots:*vi+ram (krīḍāyām),vi+rāj (dīptau),vi+rādh* (*saṁsiddhau*). The commentary doesn't talk much about it. On the other hand, Nirukta (7.13)gives etymology of the name of the metre using three roots with an explanation:*vi+rāj,* having all the expected numbers of syllables, *vi+rādh,l*acking two syllablesand*vi+pra+āp,* having more syllables.There is dispute in two texts about the root *ram*and *pra+āp.*

1.2 Metre Virāj:-

In Ṛgveda (ṚV.), hymn x.130 explains the process of creation of the universe. That hymn suggests that Prajāpati arranged a sacrifice for the creation. In the fifth verse of this hymn, it is said that seven metres were born from Prajāpati. Virāj is one of these seven metres that was the *abhiśrī* of Mitrāvaruṇa. The meaning of word *abhiśrī* as explained by Sāyaṇa asserts that the metre Virāj and Mitrāvaruṇa were simultaneously born to Prajāpati. The name of this metre comes at fifth position andlater on this position was occupied by the metre Paṅkti*(See: Tiwari 1984).*

The metre Virāj is said to be ten-syllabled at some places[2].AitareyaBrāhmaṇa (Henceforth AitBr.) and ŚatapathBrāhmaṇa (Henceforth ŚatBr.) clearly show two different notions of metre Virāj –one having thirty syllables[3] and

1 ABORI Vol. 68,No.1/4 (1987: 425-455)

2 दशाक्षरा विराट् MantraBr. vi.8.2

3 सा विराड्शिनीAitBr. 15.6, त्रिंशदक्षरा वै विराट् ŚatBr. III. V.1.7,

one having thirty-three syllables[1]. That means, this metre has three *pādas.* The differences occur only in case of number of syllables in each *pāda*i.e. either 10 or 11.Themagico-religious connection of number of syllables and sacrifice have been shown such as–ten utensils are placed on the sacrificial grass in the *darśapūrṇamāseṣṭi*. Virāj has ten syllables. Therefore those utensils are measured by Virāj[2]. The ten *agnihotra* offerings are also equated with ten syllabled Virāj metre[3]. When soma is bought, it is accompanied by ten objects because Virāj has ten syllables and soma is of Virāj nature[4]. AitBr says that there are thirty three deities. Hence Virāj wins the favour of each one of the deity using each one of the syllable[5].

According to AitBr. (1.6), the number of syllables in the metre is not important. If a verse has one or two syllableslesser than the ideal number required for a metre, it still belongs to the same metre and there is no harm in doing so. Therefore Virāj metre contains power of five metres, for, it has three *pādas*, that makes it Uṣṇih and Gāyatrī, it has eleven syllables, hence it is Triṣṭubh and it has thirty-three syllables in total and that represents it to be Anuṣṭubh.[6]

Vedic ritual systems have their own beliefs and philosophy and it reflects in each of the small details that occur in the texts and practices. The materials used to build altars, mantras and their metres, *āhuti*s have their own significance in the particular sacrifice. The end result or output i.e. *phala*also depends on these small details employed in the rituals. Therefore, the Brāhmaṇa texts, Śrautasūtras have given the manual for the*yajamāna*to fulfil his material or spiritual needs through

---

1 विराजौ ... त्रयस्त्रिंशदक्षरे भवतः AitBr. 2.4, त्रयस्त्रिंशदक्षरा वै विराट् ŚatBr. III. V.1.8

2 Ibid I.i.1.22

3 Ibid II.iii.1.8

4 Ibid Vi.iii.3.18

5 AitBr. 2.4

6 न वैकेनाक्षरेण च्छंदांसि वियन्ति न द्वाभ्याम् यद्विराट् तत्पञ्चममिति AitBr. 1.6

sacrifices. The verses of different metres also serve this purpose of fulfilling the goal. Hence, every metre has been assigned to a particular expected output of sacrifices. Amongst all the metres, Virāj is said to help *yajamāna* obtain food. Therefore, *yajamāna* who desires for plenty of food as a *phala* of a sacrifice, he should use the verses in Virāj metre while making the oblations.[1]AitBr gives detailed account of the metre Virāj and the significance of its employment in first chapter. (See: 1.5, 1.6) In the Dīkṣaṇīyeṣṭi, thelast oblations are made in SviṣṭakṛtYāga. The *yajamāna* is supposed to choose the Yājyā and Anuvākyain particular metres as per his desired results. There are different metres allotted to every desire and the metre Virāj is used if the *yajamāna* wishes to have plenty of food. The use of this metre is suggested because of its name Virāj. It means to glow, to shine (*vi+rājṛ dīptau, viśeṣeṇarājate*). A person possessing plenty of food becomes famous among his own community. Perhaps it implies that the person having sufficient food is morelikely to offer it to others, as a token of gratitude and this makes him shine or glow more than others among his community. A generous or benevolent person is always praised in the society. In current readings of Vedas, we find very few verses that are composed in Virāj metre. On the contrary, while commenting on some part in AitBr, Sāyaṇa mentions that there are many verses in this metre[2]. In this part of AitBr, Virāj is said to have thirty-three syllables. The verse ṚV. vii.1.14 is quoted here and in this hymn, verses 1-18 are composed in Virāj. A striking coincidence that I wouldlike to mention here, is that the hymnṚV. vii.1, composed in Virāj, belongs to seer Vasiṣṭha Maitrāvaruṇi. ṚV. x.130.5 says that metre Virāj is companion of Mitrāvaruṇa. Also, according to ŚāṅkhāyanaŚrautasūtra (xiv.25.1), a sacrifice called Virāj was seen by Vasiṣṭha in order to obtain food. There is no much information available about this relation among Vasiṣṭha, Mitrāvaruṇa and Virāj. However, somelinksseem to be missing.

The aforementioned chapter of AitBr (2.4) tells a story: The Gods reached to the heaven when they made an oblation

---

1 विराजावन्नाद्यकामः कुर्वीतAit Br. 1.5

2 विराड्छन्दस्कानां बहूनां विद्यमानत्वात् ... ते ऋचौ विशेष्येते AitBr. 2.4

using Virāj-verses. Virāj has thirty three syllables. There are thirty three Gods: eight Vasus, eleven Rudras, twelve Ādityas, a Prajāpati and a Vaṣaṭkāra. Each syllable in the Virāj satisfies each one of the Gods by carrying their part from the oblations (i.e. their food) in the beginning of the sacrifice. This story reflects thelaw of reciprocation in ritualistic philosophy: you offer food to the deities and you receive food through the same channel.

According to Aitareya Āraṇyaka (i.4.1), verses composed in Virāj metre are used to represent the vertebrae of the imaginary divine entity. Its because a man can stand high with his neck straight or it allows us to run fast and hence it is the best food (*annatamam)*. Virāj is food and it stands for nourishment. This part is quite obscure.

Hence, from all the aforementioned references, it is made clear that metre Virāj has always been talked about if the *yajamāna* has a desire to obtain plenty of food. There are other metres such as Paṅkti which are supposed to bring about *anna*and *annādya*[1]. Although food is equated with other metres,metre Virāj is particularly equated only with the food.That means, other metres are capable of bringing food to the *yajamāna*but, metre Virāj exclusively brings food.

**2. Analysis:-**

2.1 Etymologies of metre Virāj:

i. *vi+rāj* – to shine, to be bright andluminous.

a. One who has plenty of food, shines among others because food nourishes the body and the psyche and that is reflected in the personality.

b. A person having sufficient food tends to give it to others and becomes popular hence shines brighter than others.

c. The cause of hunger and proper digestion is the *jaṭharāgni*i.e. digestive stomach-fire. Also, Food is cooked using

---

1 अन्नंवैपङ्क्तिः:AitareyaĀraṇyaka I.i.2.6

fire. After eating, food produces heat and energy in the body. Although far-fetched, the words conveying meaning such as heat, bright, shine, fire etc. can be shown in connection with food.

ii. *vi+ram* – to enjoy, to be engrossed. The words *anna* and *annādya* used with Virāj may not be used only in sense of food or edibles; they are used to underline any object that is consumable and enjoyable.

iii. *vi+rādh* – According to *dhātupāṭha*, this root belongs to two *gaṇas – divādi* and *svādi.rādh*in *divādigaṇa* means to grow (*vṛddhi or siddhi)* and in svādiit means to accomplish, fulfill (*saṁsiddhi)*. Cooked food is called as *siddhānnam*. Also, food is the essential element for physical, psychological and spiritual growth of all the living beings and especially of human beings.

iv. *vi+pra+āp*– Food is something to be obtained or gained. For a developed human community, only efforts would bring food through the process of farming to cooking or hunting to cooking.

2.2 Words *anna* and *annādya*– In Sanskrit literature and especially in philosophical contexts, words *anna*and *annādya* haven't been used only in sense of food. They also convey the meanings such as 'something consumable', 'something enjoyable'. In Sanskrit treatises, we find plenty of synonyms or alternate words used to convey one meaning. E.g. the words *pitu, iḍā, iḻaḥ, irā, andhas, iṣ*have been used to convey the meaning 'food'. Nighaṇṭu has given as much as eighteen words for *anna.* However, whenever the treatises talk about Virāj, they only use the words *anna* or *annāda.* That means these two words show a significance in this case.

2.3*parokṣapriyāvaidevāḥpratyakṣadviṣaḥ-* The Gods like to receive the messages indirectly, without making direct invocations. Because metre Virāj is traditionally assigned to bring *anna*and *annādya*only, the oblations made using the stanzas in said metre is sufficient to convey the desire of *yajamāna* to obtain plenty of food without directly uttering it.

2.4later development of concept Virāj: In Puruṣasūkta (ṚV. x.90), word Virāj was already used to denote the foremost manifestation of the Supreme Being. In later Philosophical texts including Upaniṣadic literature, Virāj is used as an alternative for Vaiśvānara, the consciousness enveloped by an aggregate of gross bodies[1].Therefore it can be said that Virāj, once, was an important metre. like metre Gāyatrī, it was evolving into a deity inlater period. However,it might have disappeared because it would bring all the 'this worldly' enjoyments to the *yajamāna*. With spiritual development, those 'this worldly' enjoyments became secondary and going beyond them to achieve *mokṣa* was held to be more important. At the same time, one must overcome the innate inclination towards material pleasures in order to go beyond all the 'this worldly' experiences. This sense has been reflected in the JaiminīyaBrāhmaṇa(1.233), where it is asserted that one who fails to perform Virāj in proper manner, cannot transcend the 'this worldly existence'.

2.5law of reciprocation: According to AitBr. (2.4), Virāj serves as a mediator to carry the oblations to Gods. Oblations are viewed as food offered to the deities. Therefore, deities send the food as reward for the *yajamāna*using Virāj.

**3. Conclusion:-**

1. Etymologically, all the roots used to derive word Virāj have capacity to convey the meaning food.

2. Not only food, but also the quality of being *upabhogya*(enjoyable) is conveyed through the two words *anna* and *annādya*. Hence, Virāj can be said to bring all possible 'this wordly' enjoyments to the person employing it.

3. Use of metre Virāj in sacrifices was an indirect way to convey the desire of *yajamāna* to obtain *anna*and *annādya*to the deties.

---

1 पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतानि तत्कार्यं सर्वं विराडित्युच्यते। एतत्स्थूलशरीरमात्मनः Pañcī. 189.9-10

4. Virāj, which is the aggregate consciousness of gross bodies or the *annamayakośa* of macrocosm was important as the first step towards *mokṣa*and therefore the idea of Virāj metre or the deity gradually turned into Virāṭ-Vaiśvānara, the master of *annamayakośa* of macrocosm.

**Bibliography:-**


- Apte, H. N., ed. 1931. *Aitareyabrāhmaṇa, with Sāyaṇa's commentary.* Pune: Anandashramsamstha.
- Bhattacharya, Durgamohan, ed. 1958. *Mantrabrāhmaṇa or Chāndogyabrāhmaṇa with the commentaries of Guṇaviṣṇu and Sāyaṇa.* Calcutta: Calcutta Sanskrit College Research Series.
- Eelsingh, Herman Frederik, ed. 1908. *Śaḍviṁśabrāhmaṇa with the commentary of Vjñāpana.*leiden.
- Roy, Kumkum. 2009. "Engendering Alternative Power Relations: The Virāj in the Vedic Tradition." In *Breaking Boundaries with the Goddess*, edited by Cynthia Ann Humes and Rachell Fell McDermott, 3-14. Delhi: Manohar.
- Śaṅkarācārya. 1910. *Bṛhadāraṇyakopaniṣadbhāṣya.* Shrirangam: Shri Vanivilas Press.
- Śaṅkarācārya. 1910. *Pañcīkaraṇa.* Shrirangam: Shri Vanivilas Press.
- Vedāntavāgīśa, Ānandacandra, ed. 1870. *Pañcaviṁsabrāhmaṇa or Tāṇḍyamahābrāhmaṇa with the commentary of Sāyaṇāchārya.* Bibliotheca Indica.
- Weber, Albrecht, ed. 1964. *Śatapathabrāhmaṇa.* Varanasi: Chowkhamba Sanskrit Series.


**Research Articles:**


- Roy, Kumkum. 1991. "Perceptions of Power: An Analysis of the Paryaya Sukta (8.10) of the Atharva Veda." Edited by D. N. Jha, R.l. Shukla, Aditya Mukherjee, S.Z.H. Jafri, Vijay Nath and R. C. Thakran. *Indian History Congress.* New Delhi: Indian History Congress. 56-61.
- Tiwari, Anant Sharan. 1984. "Apropos of the Vedic metre Virāj (RV. x.134.4-5)." Edited by R. N. Dandekar. *Proceedings of All India Oriental Conference.* Jaipur: Bhandarkar Oriental Research Institute, Pune. 231-234.
- Thite, Dr. G. U. 1987. "The Doctrine of Chandas in the Vedas." *Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute* (1/4): 425-455.

# बौद्ध जातकों में भारतीय संस्कृति एक अध्ययन

**राजेश कुमार राजौरिया**
शोधार्थी (संस्कृत)

पालि साहित्य बहुत समृद्धशाली साहित्य है। बुद्ध का धम्म उसी तरह से अलौकिक एवं वैज्ञानिक है जिस तरह से बुद्ध थे। बौद्धसाहित्य में बुद्ध की पूर्वावस्था बोधिसत्व है। पांच सौ से अधिक जातकों में बोधिसत्व के जन्मों का वृतान्त है जिसमें बोधिसत्व विभिन्न योनियों में रहते हुए पारमिताओं का अभ्यास कर रहे थे। करूणा, मैत्रीपूर्ण जीवन का संदेश बोधिसत्व ने विभिन्न कथाओं के माध्यम से दिया है। जातक कथाओं में तथागत बुद्ध के उपदेशपूर्णामृत वचनों का संग्रह है। ये उपदेश व्यावहारिक रूप से सरल, सुगम एवं सुबोध थे, जो सर्वसाधारण के लिए कल्याणकारी है। तथागत बुद्ध ने जनमानस से संवाद के लिए समाज में प्रचलित भाषा का उपयोग किया। तत्कालीन समाज में पालि भाषा प्रचलित थी। अतः तथागत बुद्ध के अमृतवचन पालि भाषा में थे। पालि भारत की प्राचीन भाषा मानी जाती है लेकिन कुछ विद्वान संस्कृत को प्राचीन भाषा मानते हैं जो प्रमाणित नहीं हैं क्योंकि पालि भाषा में ऋ, ष, श, क्ष, त्र, ज्ञ, ऐ, औ वर्ण नहीं हैं। इन वर्णों का प्रयोग बाद की भाषाओं में हुआ है। संस्कृत का सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद के ऋ वर्ण से यह आसानी से ज्ञात हो जाता है कि, पालि भारत की सबसे प्राचीन भाषा है। तथागत बुद्ध ने अपने उपदेश पालि में दिये। जातकों की भाषा पालि ही है।

जातक साहित्य जन साहित्य है, इसमें हमारे रहन–सहन, खान–पान, रीति–रिवाज, व्रत–उत्सवादि से संबंधित संस्कृति का विवरण मिलता है। सम्पूर्ण बौद्ध साहित्य में तथागत बुद्ध हमें समाज में प्रचलित निर्रथक परम्परायें, रीति–रिवाज एवं मान्यतांओं का विरोध करते नजर आयें हैं। अतः जातक कथाएं निश्चित रूप से मानव त्राण के लिए पथ प्रदर्शन करती हैं।

**मुख्य शब्दः–** समृद्धशाली, अलौकिक, वैज्ञानिक, बोधिसत्व, पारमिता, मानव–त्राण।

पालि त्रिपिटक तथागत बुद्ध के वचनों का प्रमाणित संग्रह है।[1] जातक कथाएं त्रिपिटक सुत्तपिटक के पांचवे ग्रन्थ खुद्दकनिकाय का दशवां भाग है। बौद्धसाहित्य में जातक कथाओं का स्थान सर्वोपरि है, क्योंकि इन कथाओं में बोधिसत्व के जन्मों का वृतान्त है। जातकों की प्रत्येक कथा हमें कोई न कोई अच्छी सीख देती है।

**जातक से तात्पर्यः–** जातक 'जन्' धातु से 'क्त' प्रत्यय जोड़कर बना है जिसका अर्थ है– जातभूत या जन्मसंबंधी। आनंद कौशल्यायन ने 'जातक' का बोध इस प्रकार कराया है–"जातक शब्द का अर्थ है जन्म संबंधी। विकासवाद के अनुसार एक फूल को विकसित होने के लिए इस पुष्प की जाति विशेष के अस्तित्व में आने में लाखों वर्ष लग जाते हैं। तब क्या कोई प्राणी साठ या सत्तर, अधिक से अधिक सौ वर्ष के जीवन में बुद्ध बन सकता है? उसे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक जन्म धारण करने पड़े। बुद्ध होने से पूर्व अपने सब पिछले जन्मों तथा अन्तिम जन्म में उनकी संज्ञा बोधिसत्व रही। बोधि का अर्थ बुद्धत्व और सत्व का अर्थ प्राणी है। बुद्धत्व के लिए प्रयत्नशील प्राणी। जातकों में बोधिसत्व के पांच सौ सैंतालीस जन्मों का उल्लेख है।[2]

विण्टरनित्ज ने जातक कथानक को मुख्यतः सात भागों में विभाजित किया है[3] –

- व्यावहारिक नीति संबंधी कथाएं
- पशुओं की कथाएं
- हास्य और विनोद से परिपूर्ण कथाएं
- रोमांचक कथाएं
- नैतिक कथाएं
- कथन मात्र
- धार्मिक कथाएं

**जातकों की भा–**

विश्व को एकसूत्र में बाँधने की शक्ति भाषा में है। भाषा वह दिव्य ज्योति है जो परस्पर एक–दूसरे से संबंध रखती है, भाषा रूपी दिव्य ज्योति से अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर किया जाता हैं। भाषा की परिभाषा अनेक विद्वानों द्वारा अपने–अपने मतानुसार दी गई है। पतंजलि कृत महाभाष्य में भाषा की परिभाषा इस प्रकार है–"व्यक्तां

वाचि वर्णा येषां त इमे व्यक्तवाचः।"[4] अर्थात वर्णात्मक वाणी को भाषा कहा गया है।

स्वीट के अनुसार–"ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों को प्रकट करना ही भाषा है।"

भाषा हमारे जीवन में महत्वपूर्ण और प्राथमिक साधन है, जिसके माध्यम से हम अपने विचारों, भावनाओं और अभिव्यक्ति को व्यक्त करते हैं। तथागत बुद्ध ने सामान्य जनता से संवाद के लिये तत्कालीन समाज में प्रचलित भाषा का प्रयोग किया। उस समय समाज में जनसाधारण की भाषा पालि थी। कौशल्यायन ने भी जातकों की मूल भाषा पालि को माना है। आचार्य बुद्धघोष ने पालि शब्द का प्रयोग दो अर्थों[5] में किया है–

1. 'बुद्धवचन' या मूल त्रिपिटक के अर्थ में
2. 'पाठ' या 'मूल त्रिपिटक के पाठ' के अर्थ में

आचार्य बुद्धघोष ने पालि वाड.मय में से जहाँ कही कोई उद्धरण लिया है वहाँ 'अयमेत्थ पालि' (यहाँ यह पालि है) और 'पालिय वुत्त' (पालि में कहा गया है) का प्रसंग आता है। अतः हम कह सकते हैं कि मूल जातकों की भाषा पालि ही है।

## जातकों में संस्कृतिः–

संस्कृति शब्द 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय जोड़कर बना है, अर्थ हुआ सम्यक् कृति या सदाचार वाला कर्म। मनुष्य का जिस कर्म से लौकिक और पारलौकिक उत्कर्ष हो, ऐसे आचरण के ज्ञान को संस्कृति कहते हैं। संस्कृति मनुष्य की जीवन शक्ति, प्रगतिशील विचारों आदर्शों की श्रृंखला की परम्परा है लेकिन मनुष्य का प्रत्येक कार्य व्यवहार तथा विचार संस्कृति नहीं कही जा सकती है बल्कि जिस कार्य विचार से किसी समाज के लोगों पर विशेष प्रभाव पड़े वह संस्कृति कही जा सकती है। संस्कृति के आश्रय से ही समाज व राष्ट्र की प्रसिद्धि का भव्य निर्माण होता है।

संस्कृति का अर्थ है सृजनात्मक अभिव्यक्ति। यह अभिव्यक्ति मानव की सृजनात्मक बुद्धि के सहारे अभिव्यक्त होती है, जो अपने परिवेश को अपने अनुकूल और अपने नियंत्रण में रखने की चेष्ठा करता है। यह सृजनात्मक बाह्य वास्तविक और आन्तरिक जीवन दोनों में व्याप्त मिलती है। पहली दशा में उसका लक्ष्य होता है, भौतिक

उपयोगिता और दूसरी दशा में वह मनुष्य के जीवन का विकास समृद्ध करता है।

शम्भू पाण्डेय के अनुसार–"वह चिन्तन जिसमें मनुष्य के आत्मिक जीवन का विस्तार और मानसिक विकास एवं भौतिक समृद्धि होती है, संस्कृति है।"[6]

संस्कृति का संबंध मानव की क्रियाओं तथा उसके वैचारिक जगत से है। जातक कालीन समाज में सामूहिक मनोरंजन एवं आमोद प्रमोद के लिए व सामाजिक आवश्यताओं की पूर्ति के लिए अनेक उत्सव आयोजित किये जाते थे। नगर उत्सव, कौमुदी उत्सव, हस्ति मंगल उत्सव, शालभंजिका उत्सव, सुरापान उत्सवादि अनेक उत्सव जातकों में मिलते हैं। सुरापान जातक में सुरापान उत्सव का विवरण मिलता है यथा–

**अपायिम्ह अनच्चिम्ह अगायिम्ह रूद्र च,**

**विसञ्ञकरणिं पीत्वा दिट्ठा ना हुम्ह वानरा।**[7]

इसी प्रकार कुम्भ जातक[8] में भी सुरापान उत्सव और उसके दोषों का विवरण मिलता है। तथागत बुद्ध ने सुरापान के दोषों को इस प्रकार बताया है–

**यं वे पीत्वा दुट्ठरूपो व पोसो**
**अक्कोसतो पितरं मातरं च**
**ससंसुम्पि गण्हेप्य अथोपिसुण्हं**
**तससा पुण्णं कुम्भमिमं किणाथ।।**
**धञ्ञं धनं रजतं जात रूपो**
**खेतं गवं यत्थ विनासयन्ति**
**उच्छेदनि वित्तवतं कुलानं**
**तससा पुण्णं कुम्भमिमं किणाथ।।**
**यं वे पीत्वा दुच्चरितं चरन्ति**
**कायेन वाचाय च चेतसावा**
**निरयं वजन्ति दुच्चरितं चरित्वा**
**तससा पुण्णं कुम्भमिमं किणाथ।।**

वैदिक काल से ही पूजा–पाठ का प्रचलन रहा है। जातकों में भी पूजा पाठ का वर्णन मिलता है। दुम्मेध जातक, हत्थिपाल जातक आदि जातकों में वृक्ष पूजा का वर्णन मिलता है। दुम्मेध जातक में वडवृक्ष की पूजा का वर्णन आया है।

इसी प्रकार जातकों में खान–पान का विवरण अनेक कथाओं में आया है। तत्कालीन समाज में लोग शाकाहारी और मांसाहारी दोनों तरह का भोजन करते थे। विसवपंत जातक में यवागू भात खाने का वर्णन आया है। कुण्डकपूव जातक में तथागत बुद्ध द्वारा दरिद्र के चूरे के पूए खाने का वर्णन आया है यथा–

**यथन्नो पुरियो होति तथन्ना तसस देवता,**

**आहरेतं कणं पूवं मा भागं विनास्य।**[9]

तथागत बुद्ध ने माँस भक्षण का सदैव विरोध किया है। न्याधग्रोध जातक में मृगशावक बोधिसत्व के उपदेश से वाराणसी नरेश मांस भक्षण छोड़ देता है। महासुत सोम जातक में भी बोधिसत्व ने राजा की मांस भक्षण की आदत को छुड़वाया।

मानव समुदाय में मनोरंजन अत्यावश्यक है। आमोद–प्रमोद के साधन भी भारतीय व विकास में सहायक रहे हैं। प्रचीन समय में संगीत, घुड़सवारी, शिकार खेलना आदि मनोरंजन के साधन थे। क्रीडा से व्यक्ति का विकास होता ही है साथ ही साथ इनसे हमारी संस्कृति का भी परिचय मिलता है। जातक कालीन समाज में भी मनोरंजनात्मक क्रियाकलाप होते थे। खेल–तमाशों द्वारा लोगों का मन बहलाकर मनोरंजन कराया जाता था। जातकों में उसान क्रीडा, जल क्रीडा, नाट्य क्रीडा आदि अनेक क्रियाकलापों द्वारा मनोरंजन कराया जाता था। महासागर जातक के अनुसार अन्तःपुर की स्त्रियाँ गहनों को उतारकर अपने कपड़ों में रखकर जलकुम्भी में उतरकर जल क्रीडा का आनन्द लेती थीं।

तत्कालीन युग में कला–साहित्य उन्नत अवसथा में थी। चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला कार्यकलाप का अद्वितीय रूप हमें जातकों में मिलता है। अजन्ता की गुफाएँ चित्रकला की दृष्टि से विश्व विख्यात हैं। इसकी अद्वितीय चित्रकारी, वास्तु एवं मूर्तिकला के कारण यूनेसको ने सन् 1983 में विश्व धरोहर में शामिल किया है। शिवि जातक, शंखनाद जातक, महाजनक जातक, महाउमग्ग जातक आदि से जातक कालीन संस्कृति से हम परिचित होते हैं। 'अलम्बुस जातक' का

नारी सौंदर्य वर्णन और 'महावेससन्तर जातक'[10] का प्रकृति वर्णन अद्वितीय है।

**उपसंहारः–**

जातक कालीन संस्कृति समृद्धशाली एवं वैभव से परिपूर्ण थी। जातक कथाओं की प्रत्येक गाथा हमें कोई न कोई नैतिक शिक्षा प्रदान करती है। यह कथाएँ आज भी हमें सत्य, अहिंशा, शील एवं सदाचार आदि की शिक्षा देती हैं। अतः हम कह सकते हैं कि जातक कालीन संस्कृति मानवता को असत्य से सत्य की ओर, अंधकार से ज्योति की ओर, अनैतिकता से नैतिकता की ओर अग्रसित करती है।

**संदर्भः–**

1. सिंह, भरत, पालिसाहित्य का इतिहास, पृ.सं. 111
2. कौशल्यायन, भदन्त आनन्द,जातक, प्रथम खण्ड, पृ.सं. 12–13
3. विण्टरनित्ज, हिसट्री आॅफ इण्डियन लिटरेचर, पृ.सं. 125
4. पतंजलि महाभाष्य 1/3/82
5. सिंह, भरत, पालिसाहित्य का इतिहास, पृ.सं. 1
6. पाण्डेय, शम्भूनाथ, भारजीय जीवन औरसंसकृति पृ.सं. 2
7. कौशल्यायन, भदन्त आनन्द,जातक, प्रथम खण्ड पृ.सं. 510
8. कौशल्यायन, भदन्त आनन्द,जातक, पंचम खण्ड पृ.सं. 98
9. कौशल्यायन, भदन्त आनन्द,जातक, द्वितीय खण्ड पृ.सं. 19
10. कौशल्यायन, भदन्त आनन्द,जातक, षष्ठ खण्ड पृ.सं. 483

# Study of Urubhangam of Bhāsa in Thelight of Theories of Emotions in Psychology

**Renuka Panchal**
Assistant Professort, University of Mumbai

**Abstract:-** Bhāsa has enriched the repository of Sanskrit literature with gracefully successful plays. The kind of successful portrayal of human emotions that we get in Bhāsa's plays is rare elsewhere. Very subtle and fluid depiction of human nature in Bhasa's 13 plays. Along with this, you can see the accurate depiction of human emotions and mental transaction in all his literary-works. "Urubhangam" is a Sanskrit play written by the ancient Indian play wright Bhāsa. The title translates to "The Broken Thigh." The play is a reimagining of the Mahabharata, focusing on the eventsleading to the death of Duryodhana. It's notable for its unique perspective and interpretation of the epic. In this Paper the various shades of Duryodhan's emotions, the subtle feelings in his mind, the void that filled the inside at the last moment of hislife, all these have been studied from an objective and scientific point of view on the basis of Theories of Emotions. Through this, the mental state of Duryodhana in Bhāsa's Urubhangam will be observed on the basis of Theories of Emotions. Major focus of this paper is on 2 Theories - Jameslange Theory and Cognitive Appraisal Theory. the Amalgamation of Indian knowledge tradition and Western psychology will contribute to the knowledge system.

**Keywords:- Duryodhana, Bhāsa, Urubhangam, Theories of Emotions, Jameslange Theory, Cognitive Appraisal Theory**

## Introduction:-

"Urubhangam" by Bhāsa is a play that provides a unique perspective on the Mahabharata, particularly the eventsleading to the death of Duryodhana. The title, "Urubhangam," translates to "The Broken Thigh," referring to the fatal blow that leads to

Duryodhana's demise. In the play, Duryodhana, the Kaurava prince, is hiding in the waters of the Ganges after the great war. He is in pain and despair, reflecting on the events that have transpired. The play explores his internal conflicts and the consequences of his actions, offering a nuanced portrayal of this controversial character. The climax of the play revolves around the entrance of Gandhari, Duryodhana's mother, who witnesses the suffering of her son. She is devastated by the state of Duryodhana and curseslord Krishna for his role in the war. The play ends tragically with Duryodhana's death and the mourning of Gandhari. "Urubhangam" is known for its bold interpretation of the Mahabharata narrative, shedding light on the emotional and psychological aspects of its characters.

**Discussion:-**

In Bhāsa's "Urubhangam," the character of Duryodhana is portrayed with a focus on his internal struggles and reflections after the Kurukshetra war. The play provides a nuanced exploration of Duryodhana's emotions, guilt, and the consequences of his actions. Duryodhana, who was once a powerful and ambitious prince, is now depicted in a vulnerable state. He is hiding in the waters of the Ganges, nursing his wounds and grappling with the after math of the devastating war. The broken thigh, which becomes the focal point of the play, symbolizes his physical and emotional vulnerability.

The play delves into Duryodhana's inner turmoil, allowing the audience to see beyond the external image of the antagonist in the Mahabharata. It humanizes Duryodhana, offering a perspective that goes beyond the epic's traditional portrayal of good versus evil.

Overall, Bhāsa's "Urubhangam" presents Duryodhana as a complex character, inviting the audience to empathize with his suffering and reflect on the tragic consequences of the war.

In "Urubhangam," Duryodhana is depicted experiencing profound emotional turmoil. The play explores the internal struggles of this once-mighty prince who is now broken and defeated after the Kurukshetra war. Duryodhana's emotional

state is marked by a mix of despair, regret, and a sense of isolation.

Having suffered physical injuries, particularly the symbolic broken thigh, Duryodhana is in a vulnerable and wounded state. The play delves into his reflections on the events thatled to the war and his own role in the conflict. There's a poignant exploration of guilt and remorse for his actions, providing a more humanizing portrayal of a character traditionally seen as an antagonist.

The emotional depth of Duryodhana in "Urubhangam" addslayers to his character, showing the audience the internal struggles and the price he pays for his ambition and choices. It's a departure from the one-dimensional view often associated with Duryodhana in other retellings of the Mahabharata.

In Bhāsa's "Urubhangam," Duryodhana's internal feelings are depicted with a focus on his emotional turmoil, reflection, and the consequences of his actions. Here are some aspects of Duryodhana's internal state as portrayed in the play:

**1. Remorse and Guilt:-** Duryodhana, having witnessed the devastation of the war and faced with his own physical suffering, may experience a deep sense of remorse and guilt. His internal conflict could revolve around the realization of the consequences of his decisions, leading to the downfall of his family and allies.

**2. Isolation and Despair**:- The play presents Duryodhana in a state of isolation, hiding in the waters of the Ganges. This physical seclusion may reflect his internal sense of despair. The loss of the war and the broken thigh contribute to his feelings of abandonment and isolation.[1]

**3. Reflection on Ambition and Power**:- Duryodhana's internal monologues may involve reflections on his ambitious pursuits for power and the lengths to which he went to achieve

---

1 किं चाहं भीमसेनेन वञ्चितः|(Bhāsa's Urubhangam, Edited By *Āacārya Baldev Upadhyāy,* page. 31, Chowkhambha Vidyabhavan, Varanasi, 2017)

his goals. The play could delve into the internal conflict arising from the consequences of unchecked ambition.

**4. Anguish Over Familialloss:**- Given the tragic events of the Mahabharata, Duryodhana's internal feelings might encompass deep anguish over the loss of family members, friends, and the overall disintegration of the Kaurava dynasty. His internal dialogue could involve grappling with the weight of responsibility for the selosses.[1]

**5. Curses and Divine Retribution**:- Duryodhana's internal state might include a confrontation with divine retribution and curses. The play could explore his perception of the cosmic justice meted out for his actions, adding alayer of internal struggle as he contemplates his destiny.

**6. Defiance and Regret**:- Duryodhana's internal feelings may oscillate between defiance and regret. He might reflect on moments of defiance against righteousness and regret for not choosing a different path. This internal conflict contributes to the complexity of his character.

"Urubhangam" provides a platform for the audience to delve into the inner world of Duryodhana, offering insights into his emotional and psychological states. The play unfolds as a character study, allowing viewers to empathize with the internal struggles of a complex and conflicted individual facing the aftermath of a colossal war.

Bhāsa's play "Urubhangam," which is a reimagining of the Mahabharata focusing on Duryodhana, can be analyzed through various theories of emotions to understand the characters' psychological states and the dramatic elements of the play. Following theories of emotions have been studied in thelight of Urubhangam of Bhāsa.

**1. James-lange Theory of Emotion:-**

---

1 सर्वावस्थायां हृदयसंनिहितः पुत्रस्नेहो मां दहति| (Bhāsa's Urubhangam, Edited By *Āacārya Baldev Upadhyāy,* page. 37, Chowkhambha Vidyabhavan, Varanasi, 2017)

Analysis The James-lange theory posits that emotions arise from physiological reactions to stimuli. In "Urubhangam," Duryodhana's physical and emotional suffering, especially due to his broken thigh, could be seen as a catalyst for the range of emotions he experiences. The play might emphasize the physical manifestation of emotions and how Duryodhana's bodily state influences his mental and emotional states.

Connection Duryodhana's inner turmoil, portrayed vividly in the play, may align with the James-lange theory as his physical pain contributes to the emotional intensity conveyed in the narrative.

**2. Cognitive Appraisal Theory:-**

Analysis- Cognitive appraisal theory suggests that emotions are influenced by our interpretations and assessments of events. In "Urubhangam," Duryodhana's reflections on the events of the Mahabharata, his role, and the consequences of his actions contribute to his emotional experience. The play provides a platform for the characters to engage in cognitive appraisals, shaping their emotional responses.

Connection- Duryodhana's emotional turmoil may stem not only from the physical suffering but also from his cognitive assessments of the war, his choices, and the impact on his life. The play invites the audience to delve into the characters' mental processes and emotional responses.

By examining "Urubhangam" through these theories of emotions, one can gain insights into how Bhāsa uses both physical and cognitive elements to convey the emotional states of the characters, particularly Duryodhana. The interplay of bodily sensations and mental reflections contributes to the depth and complexity of the emotionallandscape in the play.

**Conclusion:-**

- With the help of theories of Emotions we can unravel the psyche of Duryodhan in Urubhangam of Bhāsa.

- Duryodhana in Original Mahabharata is considered as a Dark character. But in Bhāsa's Urubhangam subtle and sensitive emotions of Duryodhan were tried to uncover.
- Application of Jameslange Theory and Cognitive Appraisal Theory appropriately analysis in thelight of Urubhangam of Bhāsa.

**Bibliography:-**


- Bhāsa's Urubhangam, Edited By *Āacārya Baldev Upadhyāy,* Chowkhambha Vidyabhavan, Varanasi, 2017
- Bhāsa's Karnabhāram, Edited By Sudhakar Malaviya, *Baldev Upadhyāy,* Chowkhambha Vidyabhavan, Varanasi, 1975
- Baron, R. A., Mishra, G., *Psychology- Indian Subcontinent Edition*, Published By Pearson India Education Services Pvt.ltd., 2017 (2016)
- Beck, A., Beck, J., *Cognitive Behavior Therapy : Basics and Beyond,* The Guilford Press, NewYork,london, 2021

# श्रीमक्किभट्टविरचितयाः रघुवंशविवरणव्याख्यायाः वैशिष्ट्यम्

**बालचन्द्रकृष्णभट्टः**
शोधच्छात्रः,राजीवगान्धीपरिसरः,
केन्द्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, नवदेहली

कूटशब्दाः - काव्यम्, व्याख्यानम्, व्याख्याकारः, मातृकाः, सहृदयः, रघुवंशम्, विवरणम्, दर्पणम्, कालिदासः, मक्किभट्टः, हेमाद्रिः, दिलीपः, नन्दिनी, सुरभिः, वागर्थौ, पार्वतीपरमेश्वरौ, मल्लिनाथः, वल्लभदेवः, वसिष्ठः

विषयसारः – रघुवंशस्योपरि विद्यमानेषु व्याख्यानेषु रघुवंशविवरणमपि अन्यतमम्। अस्य कर्ता चतुर्दशशतके विद्यमानः सूरिप्रवरो मक्किभट्टः। व्याख्यानमिदमनेकैः विशिष्टांशैः युक्तं सत् सहृदयानां चित्तमाकर्षति। व्याख्यानान्तरैः अचुम्बिता अनेके सूक्ष्मविचाराः व्याख्यानेऽस्मिन् मक्किभट्टेन कटाक्षीकृताः। तथैव प्रसिद्धे मल्लिनाथीये सञ्जीविनीव्याख्याने विद्यमानात् भिन्नपाठाः, अधिकश्लोकाश्च व्याख्यानेऽस्मिन् उपलभ्यन्ते। रघुवंशस्य चतुर्दशसर्गपर्यन्तमेव इदं व्याख्यानं मक्किभट्टेन रचितमिति अवगम्यते। अवशिष्टानां पञ्चानां सर्गाणां व्याख्यानं ज्ञानेन्द्रगिरिनामकः पण्डितः लिखित्वा पूरयामास। काननसञ्जातकुसुमगन्ध इव लोकैः एतावता अनाघ्रातमिदं व्याख्यानं पठितॄणां नूनं नूतनदिशां प्रदर्शयति इत्यत्र नास्ति सन्देहः।

भारतीयसाहित्यपरम्परायाः आधारशिलात्वेन श्रीमद्रामायणं महाभारतं चेत्युभे आदिकाव्ये विराजेते। अधिकांशानि काव्यानि साहित्यानि रूपकाणि च एतदुभयं काव्यमाश्रित्यैव विलसन्ति। अतः आर्षकाव्यत्वेन ख्यातयोरनयोः कथा पात्राणि प्रत्येकं भारतीयजनस्य हृदयपट्टिकायां विलिखितानि भासन्ते।

न केवलं भारतीयजनस्य हृदये अपि तु सर्वापि भारतभूस्थली रामकृष्णपाण्डवादिभिः
तत्काव्योद्धृतैतिहासिकपुण्यपुरुषजीवनगाथानिरूपणहेतुतया तीर्थक्षेत्ररूपेण तज्जीवनसाक्ष्यरूपेण च संदीप्यते। अत इदं काव्यद्वयं भारतीयसंस्कृतेरादर्शभूतत्वेन श्रद्धास्थानत्वेन च गण्यते।

तत्र महर्षिणा वाल्मीकिना विरचितम् आदिकाव्यत्वेन विख्यातं काव्यं रामायणम्। काव्यमिदं चतुर्विंशतिसहस्रश्लोकात्मकं विभाति। इदं रामायणमाश्रित्य अनेके कवयः काव्यानि रचयामासुः। तत्र कालिदासस्य रघुवंशम्, भवभूतेः महावीरचरितम् उत्तररामचरितम् च, भासस्य प्रतिमानाटम्, भोजराजस्य चम्पूरामायणम्, क्षेमेन्द्रस्य श्रीमद्रामायणमञ्जरी, भट्टेः रावणवधम् इत्यादीनि अनेकानि काव्यानि श्रीमद्रामायणमाश्रित्यैव प्रणीतानि। अत्र सर्वत्र कवयः स्वप्रतिभानुगुणं काव्ये कथापरिवर्तनम् विशिष्टं निरूपणं च कृत्वा काव्यस्य नूतनरुचिरतामातेनुः। एतेषां लोके प्रासिद्धिः रामायणस्य अगाधतां महत्तां च भृशमस्मान् संवेदयति।

तत्र रघुवंशं कविरत्नकालिदासेन विरचितेषु समुज्ज्वलकाव्यकुसुमेषु अन्यतमम् अप्रतिमं च वर्तते। इदं रघुवंशम् आर्षकाव्यत्वेन विख्यातं महर्षिवाल्मीकिना प्रणीतं श्रीमद्रामायणमाधारीकृत्य रचितमनुपमं काव्यम्। कविः कालिदासः दिलीपं समारभ्य अग्निवर्णपर्यन्तं काव्येऽस्मिन् वर्णयति। राज्ञां वर्णनसरणिः नात्र रामायणमनुसरति विष्णुपुराणादिभिरियं सरणिः स्वीकृता स्यात्। नवदशसर्गैः परिमितं काव्यमिदं वैदर्भीशैल्या समस्तानपि पाठकानाकर्षति। लोकशास्त्रपरिज्ञानं विद्वत्ता प्रतिभा च यदा पक्वरूपेण यकस्मिन्नेव पुरुषे सम्मिलति तदा एतादृशं निरवद्यं काव्यरत्नं समुदेति।

**रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।**
**तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः॥**[1]

---

1 रघुवंशम् १.९

कालिदासः काव्यस्यादौ रघूणामन्वयं वक्ष्ये इति वदन् सम्पूर्णं रघुवंशं वर्णयिष्यामीति प्रतिज्ञाति। पुनः तद्वंशस्य महत्तापेक्षया मम वाग्विभवः अत्यन्तम् अल्पः इति सविनयं विज्ञापयति। परम् अस्य वाग्वैभवस्योन्नतिः कीदृशीति काव्यमान्तं पठनेन समेषां मस्तिष्कमधिरोहति। समेषां सहृदयानां समाकर्षत् काव्यमिदं क्षिप्रमेव लोकप्रियतामवाप। अतः अस्योपरि अनेके विद्वांसः स्वस्वमनीषानुगुणं व्याख्यानं विदध्युः। अद्यावधि रघुवंशस्योपरि चत्वारिंशद्व्याख्यानानि संशोधकैराविष्कृतानि प्रतिभान्ति।[1] तत्र लोके सर्वप्रसिद्धं व्याख्यानं मल्लिनाथसूरेः सञ्जीविनी, एतदतिरिच्य वल्लभदेव-चारित्रवर्धन-हेमाद्रि-सुमतिविजय-दिनकरादीनामपि व्याख्यानं लोके विश्रुतानि वर्तन्ते।

परं तु एतत्सर्वमतिरिच्य मक्किभट्टनाम्नः विदुषः रघुवंशविवरणाभिधानं व्याख्यानं वनसुमवदनाघ्रातमेवास्ति अद्यावधि विमर्शकैः। मक्किभट्टः चतुर्दशशतके प्रायः मल्लिनाथस्य समकाले अथवा तस्मात् पूर्व एव काले वर्तमानः कश्चन विद्वान्। यश्च वेदव्याकरणादिनानाशास्त्रेषु पारङ्गत आसीदिति ज्ञायते। तदुक्तं तेनैव रघुवंशव्याख्यानस्योपोद्घाते–

**वेदव्याकरणाश्रयः सुकवितावेदान्ततर्कस्मृति-**

**च्छन्दोऽलङ्कृतिकाव्यनाटकपुराणाम्नायवारान्निधिः।**

**ज्योतिश्शास्त्रसुमन्त्रनीतिनिपुणो योगागमे निष्ठितो**

**मक्क्याख्यो विवृणोति भट्ट ऋतवाक् रघ्वाख्यवंशं कृती॥**[2]

विद्वद्वरो मक्किभट्टः आत्मना अधीतसकलशास्त्राणां परिचयमत्र पद्ये प्रादात्। व्याख्यानाध्ययनादपि मक्किभट्टस्य बहुश्रुतत्वमनुभवगोचरो भवति।

---

1 History of Classical Sanskrit Literature By M. Krishnamachariar, Page No. 116

2 रघुवंशविवरणव्याख्यायाः हस्तप्रतिः,(S.N. 1012) त्रिपुणितुरम्, केरलम्

अद्यावधि सिद्धान्तशेखरस्य गणितभूषणमिति रघुवंशस्य विवरणमिति च व्याख्या अनेन लिखिता समुपलभ्यते। अनेन अस्य ज्योतिश्शास्त्रकाव्यशास्त्रयोरुपरि विद्यमानं प्रभुत्वमपि विज्ञायते। अस्य रघुवंशविवरणमिति नामिका व्याख्या इतरव्याख्याकारैरचुम्बितैरनेकैः विशिष्टविचारैः समन्विता सती अध्येतारं मन्त्रमुग्धं करोति। अतः सर्वैरपि काव्याभ्यासकुतूहलिभिरस्य व्याख्या नूनं समास्वादनीया। तदत्र मक्किभट्टस्य रघुवंशस्योपरि रचितायाः विवरणव्याख्यायाः केचन विशेषांशाः कटाक्षीक्रियन्ते।

मक्किभट्टः रघुवंशस्योपरि व्याख्यानलेखनात् प्राक् नूनं तदुपरि विद्यमानानि व्याख्यान्तराणि पठितवान् स्यात्। स्वव्याख्याने तत्र तत्र दक्षिणावर्तनाथं समुल्लिखति[1]। अतः ततः पूर्वं विद्यमानं वल्लभदेवमपि अयमधीतवान् स्यात्। मध्येव्याख्यानं 'इति केषञ्चित्पाठः, इति केचन[2]' इति अन्यमतं निरूपयति परं तु तेषां नाम नोल्लिखति। प्रसिद्धे मल्लिनाथीये अविद्यमानाः क्वचित् वल्लभदेवस्य क्वचित् हेमाद्रेरपि व्याख्याने विद्यमानाः आधिक्येन पठिताः श्लोकाः केचन अस्य व्याख्याने उपलभ्यन्ते। हेमाद्रिस्तु पञ्चदशशतकस्येति निर्णीतत्वात्[3] अयमेव मक्किभट्टमनुसृतवान् इति ब्रूमः।

मक्किभट्टस्य व्याख्यानशैली मल्लिनाथादिव्याख्याकाराणां शैलीवदेव स्पष्टा निर्मला। व्याख्यानावसरे स्थाने व्याकरणांशान्, नानाकोशगतपङ्क्तीः, श्रुतिवाक्यानि, शास्त्रग्रन्थगतलक्षणानि, पुराणश्लोकान्, काव्यान्तरपङ्क्तीः च समुद्धरति। मूलपद्येषु समुपलब्धे पाठभेदे तदपि प्रदर्श्य तद्रीत्यापि अर्थसमन्वयं प्रदर्शयति। क्वचित् शास्त्रसूक्ष्मांशे समायाते तत्र सयुक्तिकं

---

1 रघुवंशविवरणव्याख्या २.११, धर्मस्थलस्था हस्तप्रतिः, (Acc. No – 369), कर्णाटकम्

2 रघुवंशविवरणव्याख्या २.४३, धर्मस्थलस्था हस्तप्रतिः, (Acc. No – 369), कर्णाटकम्

3 रघुवंशदर्पणः, डा. रेवाप्रसाद द्विवेदी, भूमिकाभागः

स्वबुद्धिप्रतिफलितां शास्त्रचर्चां विधाय अध्येतुः मनसि समुपजायमानं सन्देहं दूरीकरोति। तदेवं समग्रम् आदर्शप्रायं व्याख्यानं मक्किभट्टेन अनेन विदुषा रघुवंशस्योपरि विनिर्मितं पठितॄणां मूलपद्यानामर्थावगतिं कारं कारं तेन सह मोदप्रदायि ज्ञानसंवर्धकं च वरीवर्ति। अपि चास्य भूयिष्ठग्रन्थोद्धरणैरलङ्कृतं व्याख्यानम् अस्मान् नानाग्रन्थपठने च प्रचोदयतीति नातिशयोक्तिः।

तदत्र सम्प्रति रघुवंशविवरणव्याख्याने अवलोकिताः केचन विशिष्टांशाः सम्प्रति निरूप्यन्ते। तदत्रादौ मङ्गलश्लोकस्यैव व्याख्याने कश्चनविशिष्टोंऽशः अवलोकयितुं शक्यते।

**वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।**

**जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥**

वागर्थरूपयोः पार्वतीपरमेश्वरयोः नमस्काररूपमिदं मङ्गलपद्यं सुष्ठु व्याख्याय, अनुबन्धचतुष्टयादिकं सम्यङ्निरूप्य, पार्वतीपरमेश्वरयोः उपमानत्वेन प्रदर्शितयोः वागर्थयोः औचित्यं विशेषतया विवेच्य ततः परम् पार्वतीपरमेश्वरशब्दम् शब्दच्छलेन अन्यथापि व्याख्यातुमुद्युक्तस्सन् वदति – "पार्वतीं पातीति पार्वतीपः महादेवः रमाया ईश्वरः रमेश्वरः हरिः दक्षिणामूर्तिहयग्रीवावित्यर्थः, तयोरपि वागर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वात्। सम्बन्धस्य नित्यत्वं नाभिप्रेतं इत्याद्य एवार्थः कवेरभिप्रेतः।[1]" इति।

तदेवं वागर्थयोरधिदैवतरूपेण महद्भिः पूज्यमानयोः दक्षिणामूर्तिहयग्रीवयोरपि प्रतीतिरत्र भवतीति पार्वतीप - रमेश्वरौ इति पदविग्रहमन्यथा प्रदर्श्य निरूपितवान्। अग्रे अर्थोऽयं कवेः नाभिप्रेतमित्यपि साकूतं व्यक्तीकृत्य तत्र उमाशङ्कररूपोऽर्थः एव ग्राह्य इत्यपि उदबोधयत्।

---

1 रघुवंशविवरणव्याख्या १.१, धर्मस्थलस्था हस्तप्रतिः, (Acc. No – 369), कर्णाटकम्

रघुवंशे विद्यमानानां राज्ञां वंशावलिः श्रीमद्रामायणं नानुसरतीति विद्वल्लोके प्रथितचरम्। रामायणोक्तायां वंशावल्यां दीलीपरघ्वोः मध्ये द्वौ राजानौ भवतः। किन्तु रघुवंशे रघुः दिलीपस्य पुत्रत्वेन वर्णितः। अत्र विद्यमानं द्वैधीभावं व्याख्याकारः तृतीयसर्गस्य एकविंशतितमश्लोकस्य

**श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः।**

**अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थवित्चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम्॥**

**अस्य** व्याख्यानावसरे एवं समाधत्ते "ननु ककुस्थस्य पुत्रो रघुः कथं दिलीपपुत्र इति कथ्यते। दिलीपपुत्रो भगीरथः। तथोक्तं श्रीरामायणे – दिलीपोंऽशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः। भगीरथात् ककुस्थश्च ककुस्थस्य रघुस्तथेति। सूर्यवंशे दिलीपौ दौ भवतः एकोंऽशुमतः पुत्रः अपरस्तु विश्वसहस्य राज्ञः। विश्वसहस्य पुत्रात् खट्वाङ्गापरनामधेययात् दिलीपाद्रघुर्जात इति।[1]"

राज्ञां वंशावल्यां समाननामधेयाः अनेके राजानः भवन्तीत्येतत् अन्यत्रापि दृष्टुमवलोक्यते। तद्वत् अत्रापि सूर्यवंशे दिलीपनामधेयौ द्वौ आस्ताम्। एकः अंशुमतः पुत्रत्वेन विख्यातो दिलीपः अन्यः विश्वसहस्य पुत्रः इति। रघुवंशे वर्णितो दिलीपः खट्वाङ्गापरनामधेयस्य विश्वसहस्य पुत्र इति स्पष्टयति। तस्मात् दिलीपात् रघुर्जातः इति। एवमत्र विद्यमानं सम्भ्रमं विनिवार्य पठितृणां सम्यगर्थावगतिपुरस्सरं कथामध्ये समुद्भाव्यमानसन्देहनिवारणं व्याख्याने चकार मल्लिभट्टः।

राजा दिलीपः स्वसन्तानस्य विलम्बात् चिन्तितमानसः पत्न्या सह कुलगुरोः वसिष्ठस्याश्रमं जिगमिषति। गत्वाश्रमं तत्र स्वसन्ततेः विलम्बस्य हेतुं वसिष्ठादवगच्छति। तत्र वसिष्ठो वक्ति – भवान् पुरा कदाचित्

---

1 रघुवंशविवरणव्याख्या ३.२१, धर्मस्थलस्था हस्तप्रतिः, (Acc. No – 369), कर्णाटकम्

देवलोकात् भूमिमागच्छन् आसीत्। पत्नीं ऋतुस्नातां स्मृत्वा ऋतुस्नाता भार्या अभिगन्तव्येति धर्मवाक्यं स्मरन् तल्लोपभयात् शीघ्रं भवान् भुवमाजगाम। परं तु तवागमनमार्गे एव देवनद्याः गङ्गायाः कूलप्रदेशे कल्पवृक्षस्य च्छायायां कामधेनुः सुरभिः विश्रान्तिं स्वीकुर्वती आसीत्। यद्यपि सा सर्वैरपि अभिवन्दनीया। भवान् तामनभिवाद्य समागतः। वन्द्येष्ववन्दनीयता श्रेयःकामिनां सुतरां न शोभते। अतः तामनभिवाद्य तिरस्कृत्य अग्रतो भवान् समागत इति ते सा सुरभिरशाप्सीत्। तया दत्तः शापः गङ्गाप्रवाहघोषे त्वया सारथ्या च न श्रुतः। इति उक्त्वा शापवाक्यं वदति –

**अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भवष्यति।**

**मत्सकाशादनाराध्य प्रजेति त्वा शशाप सा॥**

'हे मूढ यस्मान्मामवजानासि तिरस्करोषि प्रसूतिमना सन्ततीच्छुस्त्वम् अतस्ते तव मत् मम सकाशादाराध्य पूज्यप्रजासन्ततिर्नभविष्यतीति त्वां शशाप[1]'। इति अस्य श्लोकस्य अर्थः मक्किभट्टेन व्याख्यातः।

श्लोकस्यास्य द्वितीयपङ्क्तिः मल्लिनाथीये मत्प्रसूतिमनाराध्येति वर्ततेl परं तु तस्मिन् पाठे स्वीकृते जायमानमनौचित्यं निरूपयति यथा – 'ये पुनर्मत्प्रसूतिमनाराध्येति व्याकुर्वते। तन्न सुरभेः प्रतिनिधिं कृत्वा आराधयेति मुनिवाक्येन विरोधात्[2]' इति। श्लोकेऽस्मिन् यदि मत्प्रसूतिमनाराध्येति पाठः स्वीक्रियतेतदा अग्रे वसिष्ठेन उच्यमाने

**'सुतां तदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः।**

**आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघा हि सा॥'**

---

1 रघुवंशविवरणव्याख्या १.७७, धर्मस्थलस्था हस्तप्रतिः, (Acc. No – 369), कर्णाटकम्

2 रघुवंशविवरणव्याख्या १.७७, धर्मस्थलस्था हस्तप्रतिः, (Acc. No – 369), कर्णाटकम्

इति वाक्यस्य अनौचित्यप्रसङ्गात्। यदि सुरभिरेव शापवाक्ये मत्प्रसूतिरेव आराधनीया भवता तदैव ते प्रजासन्ततिर्भविष्यतीति वदति, तर्हि वसिष्ठः सुरभेः अभावे तस्याः प्रतिनिधित्वेन भवान् सपत्नीकः सन् तस्याः पुत्रीमाराधय इति किमर्थं वदति। प्रतिनिधिशब्दस्य प्रसङ्ग एव नासीत्। अपि च प्रीता कामदुघा हि सा इति एषा नन्दिनी सुप्रसन्ना सती कामधेनुः सुरभिरिव भवतः कामनापूरयित्री वर्तते। अत्र ते सन्देहलेशोऽपि मास्तु इति भावं किमर्थं वदति। अतः शापवाक्यं मत्प्रसूतिमनाराध्येति न किन्तु मत्सकाशादनाराध्येत्येवेति मक्किभट्टस्य आशयः। अपि च अग्रेऽपि दिलीपस्य सेवया प्रीता नन्दिनी तं प्रति वदति –

**भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि ते पुत्र वरं वृणीष्व।**

**न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम्॥[1] इति।**

अत्रापि वरप्रदानकाले नन्दिनी मां भवान् कामधेनुम् अर्थात् सुरभिमेवावेहि। इति वदति। यदि सुरभिः शापप्रदानकाले मत्प्रसूतिमिति अवदिष्यत् तर्हि मुनेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचि इति नन्दिन्याश्च अवेहि मां कामदुघां प्रसन्नामिति च वक्तव्यस्य आवश्यकता एव नासीत्। यदि उभावपि तथा वदतः तर्हि तत्र शापवाक्यं नूनं मत्सकाशादनाराध्येत्येव स्यादिति अत्र व्याख्यातुः मक्किभट्टस्य भावः।

तदेवमितोऽपि अनेकैः विशिष्टांशैः व्याख्यानमिदमितरव्याख्यानेभ्यः वैशिष्ट्यतामावहति। तादृशाः सूक्ष्मांशाः व्याख्यानस्यास्य सूक्ष्मावेक्षणेनैव सहृदयानां मनोभूमौ प्रतिफलति। विनूतनमानन्दमपि पठितॄणां प्रदास्यति। कवेः कालिदासस्य भावं रसिकपर्यन्तं प्रेषयितुं समर्थो भवति। अतः अध्वन्यस्मिन् अस्माकं प्रस्थानं स्यादिति आशासे।

---

1 रघुवंशम्, २.६३

**अवलोकितसन्दर्भग्रन्थसूची –**


1. कालिदासः, रघुवंशम् , मुम्बईवैभवप्रकाशनम्, मुम्बापुरी- 1922
2. डॉ. रेवाप्रसादद्विवेदी, रघुवंशदर्पणम्, काशीप्रसादजैसवालः, अनुशीलनसंस्थाननिदेशकः, प्रकाशकः -1973
3. बाबुजी मिश्रः(श्रीकृष्णमिश्रः), सिद्धान्तशेखरः, कलकत्ता विश्वविद्यालयप्रकाशनम् – 1932
4. आर्यभटः, आर्यभटीयम्, ब्रह्म प्रेस, एतुवा- 1906
5. ब्रह्मगुप्तः, ब्रह्मस्फुटसिद्धान्तः, Indian Institute of Astronomical and Sanskrit Research, New Delhi-1966
6. New Catalogue of Catalogorum ,Published by IIT Madras
7. P. K. Gode, Studies in Indianliterary History, Volume -1 Published - 1953
8. Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in thelibrary of the India Office, Volume 2
9. M. Krishnamachariar, History of Classical Sanskritliterature, TTD Press, Madras -1937
10. भट्टोजी दीक्षितः, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, चौखम्बा प्रतिष्ठानम्, 1969

# भारतीय यज्ञ संस्कृति और पर्यावरण महत्व

**प्रा. दर्शना सायम**
लोकनायक बापूजी अणे महिला
महाविद्यालय, यवतमाल

**अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवम्त्विजम्।**

**होतारं रत्नधातवम्।। 1-1-1**

**.....ऋग्वेद**

(यज्ञो के अग्रणी अग्नि है। यज्ञो का प्रमुख देव वहि है। देवआतो के प्रती हर्विभाग पहुचाने वाला सन्माननीय आचार्य वही है।)

वेदों में सृष्टि को मनुष्य जीवन का अविभाज्य अंग मानकर सृष्टि के हर एक भाग की स्तुति कि गई है। प्रकृति के बिना पुरूष संपूर्ण नहीं हो सकता। नदि, पर्वत, समुद्र, पशु, पक्षी, जीव, जंतु सभी का योगदान मनुष्य जीवन में अनमोल है। अग्नि का अविष्कार हुआ और मनुष्य जीवन में उत्कारन्ती की शुरूआत हुई। अग्निशाला अग्नि का पवित्र स्थान होता था। अग्नि देवताओं को मुख्य माना जाता, और अग्नि में स्व: किया हुआ हर्विद्रव्य् देवताओं तक पहूँचाया जाता है। यजुर्वेद में यज्ञो का वर्णन मिलता है - 1) वैदिक यज्ञ, 2) तान्त्रिक यज्ञ, 3) मिश्र यज्ञ।

यज्ञो में अग्नि का स्थान महत्वपूर्ण है। शुक्ल यजुर्वेद में अध्याय

4 में मन्त्र 16 में अग्नि की विद्या प्राप्त करने हेतु तथा सद्मार्ग में प्रेरित करने के लिए और ऐश्वर्य या विज्ञान प्राप्ति हेतु हम अग्नि की स्तुति करते है।

**अग्ने नय सुपथाराये अस्मान विश्वनि देववयुनानि विव्दान्।**

**युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूमिष्ठान्ते नमोक्तिं विधमे।।**

यजुर्वेद की दो मुख्य शाखाएँ है– 1) कृष्ण यजुर्वेद, 2) शुक्ल यजुर्वेद

**शुक्ल यजुर्वेद (वाजसेनिय संहिता):**

माध्यदिन, काण्व दो शाखा

यज्ञो में अग्नि को महत्वपूर्ण स्थान है।

**अग्निर्वै सर्वो देवता:**। ..... (शतपथब्राह्मण)

यजुर्वेद में यज्ञ की संपूर्ण विधि का वर्णन किया गया है। श्री दयानंद सरस्वती इन्होनें वेदों की और चलो यह संदेश दिया तथा यज्ञ संस्कृती को पुनर्जीवित किया। मनुष्य जीवन के सोलह संस्कारों में यज्ञा विधि का निर्देश दिया है। तथा यज्ञ की सामग्री, यज्ञ में लगने वाले साहित्य तथा समिधा पुराडाश तथा अग्नि में आहूति देते वक्त ऋत्विक द्वारा बोले जाने वाले वेदों के मन्त्र इन सभी का विवरण 'संस्कार विधि' इस किताब में दिया है।

आज भी आर्य समाज में यज्ञ का प्रचलन है। तथा हमारे भारत देश में यज्ञ का प्रचलन नित्य है। यह यज्ञ संस्कार की समिधा, हविर्द्रव्य को देखा जाय तो यह सब पर्यावरण में हवा, पानी, जमीन

की शुद्धि तथा सूक्ष्म हानीकारक जीवाणु को नष्ट करने वाली आयुर्वेद औषधियाँ हैं, जिनके ज्वलन से वायु में स्थित सुक्ष्म जीवाणुओं का नाश करते है, तथा वायु शुद्ध कर ऑक्सीजन का स्तर बढाने में सहायक होते है। यज्ञ की राख को कृषि के जमीन में डालने से जमीन में स्थित बैक्टिरीया नष्ट होकर कृषि उत्पाद बढाने में सहाय्यक होता है। यही इस शोध निबंध में प्रस्तुत करने का उद्देश्य है।

**उदेश्य:**

1) भारतीय संस्कृति का महत्व का वर्णन करना।

2) यज्ञो की उपयोगिता प्रतिपादित करना।

3) वैज्ञानिक युग में यज्ञो की वैज्ञानिक महत्व बताना।

4) वेद यह संस्कृत भाषा में रहने से संस्कृत भाषा का महत्व का वर्णन करना।

5) यज्ञ संस्कृति का संवर्धन करना।

संस्कृत भाषा का महत्व अनन्यसाधारण है। वेदों का निर्माण संस्कृत भाषा में ही हुआ है। **"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।"** सायणाचार्य कहते है, इप्सित फल की प्राप्ति और अनिष्ठ निवृत्ति करने का अगम्य ऐसा मार्ग, मानव बुद्धि को जो ग्रंथ दिखाता है, उसे वेद कहते है। वेद परा वाणी है। (परा, पश्यती, मध्यमा और वैखरी)। वैदिक यज्ञोका मूलाधार यजुर्वेद है। वेद व्यास के शिष्य (कृष्णयजु) वैशंपायन ने 27 शाखा में विभाजित किया और अपने शिष्यों को पढाया और याज्ञवल्क ने सुर्य से वेद सिखा और शुक्ल यजुर्वेद की रचना की। (वाजस्नेही संहिता)

जीव के गर्भाधान से अंत्येष्टि तक सभी संस्कार और कर्मकांड यजुर्वेद में दिये है। वेदकाल ईसा पूर्व 1400 ते 1000 है। संज्ञा के मन्त्र कहने वाले पुरोहित को अध्वर्यू कहते है। इसकी 100 शाखए है। इनमें से पांच शाखा कष्ठ, मैत्रायणी, तैतिरीय, माध्यंदिन, काण्व यह शाखाए प्रमुख है। शुक्ल यजुर्वेद में कुल 40 अध्याय है। मुख्य चार पुरोहित–

(1) होता– ऋग्वेद का ज्ञाना और ऋचा का पठण करने वाला।

(2) उद्गाता– जो मन्त्रों का गाण करनेवाला (सामवेद का ज्ञाता)।

(3) अध्वर्यू– जो मन्त्रों का गद्य, पद्य, मन्त्र पठण करनेवाला।

(4) ब्रह्मा– महापुरोहित, जो यज्ञो का रक्षण करनेवाला।

यज्ञो में उपयुक्त करने वाली सामग्री और साहित्य में दूध, घी, सोमरस, पुराडाश, हवन सामग्री, दर्भ, अनाज, चावल, (चावल के आटे में रेवती जल, मधुमति जलांश मिलाकर मधुरीत पुरोडाश बनाया जाता है) जलपात्र, शूर्प, हवनी, सुप, कृष्णाजिन, दराती, जुहू (काष्ठपात्र), उलूखल, मुसल, इत्यादी यज्ञ संस्कार विधी के साथ यज्ञ सामग्री का निर्देश शुक्ल यजुर्वेद में मिलता है।

**यज्ञ समिधाः-**

पलाश, शमी, पिपल, बड, गुलर, आम, बिल्व, आदि पेड़ों की सूखी लकड़ी को समिधा करते हैं।

**होम द्रव्य–** चार प्रकार

1) सुगंधित– कस्तुरी, केशर, अगर, तगर, श्वेतचन्दन, इलायची,

जायफळ, जावित्री, आदि।

2) पुष्टिकारक– धृत, दूध, फल, कन्द, अन्न (चावल, गेहूं, उडद)।

3) मिष्ट– शक्कर, शहद, छुवारे, दारव।

4) रोगनाशक– सोमलता / गिलोय, आदि औषधिया।

5) स्थलिपाक– चावल / खिचडी।

**ओम अग्नये त्वां जुष्टं निर्वपामि। अग्नये त्वां जुष्टं प्रोक्षामि।**

यज्ञ कुण्ड में अग्नि को स्थापित किया जाता है। शुक्ल यजुर्वेद के तीसरे अध्याय में ऋत्विजों को अग्नि विधिपूर्वक प्रज्ज्वलित करके उसमें घी, समिधा, हर्विद्रव्य द्वारा प्रज्ज्वलित किया जाता है। इस प्रकार के श्लोक है।

**श्लोक 1 : "समिधाग्नि दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथितम्।**

**अस्मिन हव्या जुहोतन।"**

.....यजु. 3-1

**अर्थः-** हे ऋत्विक, विधिपूर्वक, अग्नि की सेवा करो, घी डालकर अग्नि प्रज्ज्वलित करो, अनेक प्रकार के हर्विद्र ों से अग्नि को प्रकाशमान करो।

**श्लोक 2 : "सुसमिध्दाय शोचिवे घृतं तीव्रं जुहोतन।**

**अग्नये जातवेदसे।।"**

.....यजु. 3-2

**अर्थः-** उत्तम प्रकार से प्रज्ज्वलित होने के लिए स्वच्छ, शुद्ध घी,

धूप का उपयोग करो।

**श्लोक 3 : "उपत्वाग्ने हविष्मतीर्थताचीर्यन्तु हर्यत।**

**जुषस्व समिधो मम।।"**

.....यजु. 3-4

**अर्थः-** हे अग्नि हर्विद्रव्य, घी, समिधा, तुम्हे प्राप्त होवे, यह समिधा तुम्हे तेजस्विता प्राप्त करने में सहाय्यक हो।

| | | |
|---|---|---|
| कस्तुरी | - | सुगंधी |
| केशर | - | सुगंधी |
| अगर | - | दुर्गन्ध नाशक |
| स्वेतचंदन | - | विषघ्न |
| इलायची | - | दुर्गन्धनाशक |
| जायफळ | - | दुर्गन्धनाशक |
| जावित्री | - | दुर्गन्धनाशक |
| घृत | - | गोबर के कांड पर घी जलानेसे ऑक्सीजन का निर्माण होता है। |
| गीलोय | - | ज्वरघ्न |
| आम | - | सुगंधित – ऑक्सिजन प्रदान |
| पलाश | - | कृमिघ्न, विषघ्न, ज्वरघ्न |
| पीपल | - | कफ-पित्तशामक |

| | | |
|---|---|---|
| बड | - | शोधहर, वेदनास्थापन |
| गूलर | - | कफ-पित्तनाशक |
| बिल्व | - | ज्वरनाशक, कफघ्न |
| तांदूळ | - | बुद्धिवर्धक, शोधहर |
| सोम | - | कृमिघ्न |

इन सभी पदार्थों को यज्ञकुंड में दहन करने से एक रासायनिक प्रक्रिया घटीत होती है। ऑक्सीजन से संयोग होकर पदार्थ से उष्मा और प्रकाश मात्रा अत्याधिक मुक्त होती है। दहन क्रिया में शुध्द उर्जा मुक्त होती है।

वैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुसार यज्ञाग्नि में दहन क्रिया से पदार्थ हल्का होकर शीघ्र वायुमण्डल में फैल जाता है। दहन से याज्ञिय उर्जा व्दारा प्रदूषण निवारण, जल निर्माण अथवा जल वर्षण होता है।

'सत्यार्थप्रकाश' में दयानंद सरस्वती जी यज्ञ से क्या उपकार होता है, इस प्रश्न के उत्तर में कहते है, "यज्ञीय सुगंधित वायु तथा जल से रोग नष्ट होकर योग्य आरोग्य प्राप्ती होती है। अग्नी में ही सामर्थ्य है की दुर्गन्धयुक्त पदार्थ, वायु को छीन्न भिन्न करके बाहर निकालकर पवित्र वायुको प्रवेशीत करा देता है।

यजुर्वेद के 18 वे अध्यायके 54वें श्लोक में अग्नि से जलवृष्टि करने की प्रार्थना की है।

**"विश्वस्य मूर्ध्दन्नधि तिष्ठसि श्रित: समुद्रे ते हृदयमप्स्वायुरपो**

**दत्तेदर्धि भिन्न।**

**दिवस्पर्जन्यादन्तरिक्षात्पृथिव्यास्ततो नो वृष्टयाव"।। 18-54**

'पर्जन्य वृष्टि यज्ञ' इस पुस्तक में डॉ. कमलनारायण आर्य जी ने यज्ञ से वृष्टि करने के विधी का शास्त्रोक्त विज्ञान का वर्णन ही नहीं किया बल्कि प्रयोग भी किये है।

**निष्कर्ष:-**

यज्ञ संस्कार एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। यज्ञ संस्कृति को पूर्नजिवित आर्य समाज के संस्थापक दयानंद जी ने किया तथा भारतीय जीवन में यज्ञ का महत्व सर्वश्रुत है। परंतु वैज्ञानिक दृष्टि से आज के समाज में प्रस्थापित करना और उसे जीवित रखने के लिए हम सब को यज्ञ संस्कृति को अपने जीवन में स्थान देना आवश्यक है। प्राचीन मूनि अपने आश्रम में यज्ञ क्रिया सुबह-शाम करते थे। वनो में तथा तपोवन के आसपास के खेतों में कीड़, पतंग आदि का उपद्रव नहीं होता था। वृक्षायुर्वेद में भी खेत में धुआँ करने से अनाज में कीड़े नहीं होती, ऐसा कहा गया है। इसलिए भारतीय संस्कृति का अविभाज्य अंग यज्ञ संस्कार पर्यावरण पूरक है। पर्यावरण को इससे हानी नहीं अपितु प्रदूषण मुक्त करने के लिए सहायक होगा।

**संदर्भ-ग्रन्थ-सूची :**

1) ऋग्वेद दिलिप अंबिके, 47 रिया पब्लिकेशन, 678 - ई शामराव विठ्ठल बँकेच्या शेजारी, शाहूपुरी, दुसरी गल्ली, कोल्हापूर-416001

2) यजुर्वेद दिलिप अंबिके, 15 रिया पब्लिकेशन, 678 - ई शामराव

विठ्ठल बँकेच्या शेजारी, शाहूपुरी, दुसरी गल्ली, कोल्हापूर,416001

3) संस्कारविधि, दयानंद सरस्वती 13 आर्यसंहिता प्रचार ट्रस्ट, मुख्यालय, 427, नया बांस, दिल्ली – 6

4) यजुर्वेद, दिलिप अंबिके 91 रिया पब्लिकेशन, 678 - ई शामराव विठ्ठल बँकेच्या शेजारी, शाहूपुरी, दुसरी गल्ली, कोल्हापूर, 416001

5) पर्जन्यवृष्टि, डॉ. कमलनारायण 73 से पर्यावरण परिष्कार यज्ञ आर्य 90 प्रकाशन, 490,आहुजा नगर, नारा रोड, जरीपटका, नागपूर-14

# संस्कृत नाट्यपरंपरा में भाषा और संस्कृति

**डॉ० रीतेश प्रसाद टम्टा**
असिस्टेंट प्रोफेसर संस्कृत
श्री राम सिंह धौनी राजकीय महाविद्यालय जैंती, अल्मोड़ा

संस्कृत साहित्य में नाटकों का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। अनेक नाटककारों ने अपने नाटकों की प्रसिद्धि से सम्पूर्ण विश्व में ख्याति प्राप्त की। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, उत्तररामचरित, मृच्छकटिकम् मुद्राराक्षस और स्वप्नवासवदत्तम् आदि नाटकों ने संस्कृत नाट्यपरंपरा को सुमृद्ध बनाया है। काव्येषु नाटकं रम्य के अनुसार नाटकों के द्वारा कवियों ने तत्कालीन भाषा, समाज, कला एवं संस्कृति पर प्रकाश डाला है। नाटकों के मंचन द्वारा कवियों ने उस स्थान पर निवास करने वाले लोगों की सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक स्थिति और राजशाही, प्रशासनिक व्यवस्था का वर्णन किया है।

1-नाटक, 2- संस्कृति, 3- भाषा, 4- समाज, 5- राजनीति, 6- प्रमुख नाटकों के नाम।

भाषा मानव की अभिव्यक्ति का साधन है भाषा से मानव अपने विचारों, भावों, अभिव्यक्तिको सबके सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। भाषा ही मानव के व्यवहार, गृहक्षेत्र, समाज में उसके रहन-सहन को दर्शाती है। भाषा के नाम होने पर समाज में लोगों का आपसी प्रेम, स्नेह, घृणा, विवाद आदि कोई समस्या उत्पन्न नहीं होगी। भाषा मानव की अभिव्यक्तिका साधन है भाषा से मानव अपने विचारों,

भावों, अभिव्यक्ति को सबके सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। भाषा शब्द संस्कृत की 'भाषा' धातु से बना है जिसका अर्थ है- बोलना या कहना। अर्थात् 'भाषा वह है जिसे बोलाया जाय। महान दार्शनिक प्लेटो ने सोफिस्ट में विचार और भाषा के सम्बन्ध में कहा है कि विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होती है तो उसे भाषा की संज्ञा देते हैं। स्वीट के शब्दों में ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों को प्रकट करना ही भाषा है। 'संस्कृति' शब्द की व्युत्पत्ति समुपसर्ग पूर्वक कृ (डुकृञ्) धातु से क्तिन प्रत्यय लगाकर हुई है। अतएव संस्कृति का शाब्दिक अर्थ है - उत्तम प्रकार से किया गया कार्यl

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार- समाज में रहने वाले सभ्य मनुष्य के विचार, कार्य-कलाप, वचन, आचार, व्यवहार, राजनैतिक, आर्थिक, नैतिक, आध्यात्मिक कलात्मक विचारों से मिलकर संस्कृति का निर्माण होता है।

ई०बी०टेलर के शब्दों में संस्कृति का अर्थ है - संस्कार सम्पन्न जीवनl ये संस्कार मन, कर्म और वचन के द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं। विश्व के विराट्रंच पर स्वयं प्रकृति इन संस्कारों को उत्पन्न करती है।उन सभी वस्तुओं के समूह को जिनमें ज्ञान, धार्मिक विश्वास, कला, नैतिक कानून, परम्पराएं तथा वे सभी अन्य योग्यताएं सम्मिलित होती हैं तथा जिन्हें कोई मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते सीखता है, संस्कृति कहते हैं-

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं, न सा विद्या न सा कलाl

न स योगो न तत्कर्म, नाट्येस्मिन् यन्नदृश्यतेll

(नाट्यशास्त्र)

महाकवि कालिदास जी के नाटको में राजव्यवस्था, आश्रम एवं नगरीय जीवन की भाषा और संस्कृति, श्रृंगाररस के दर्शन होते है , वहीं महाकवि भवभूति के नाटक मे राजकीय कार्यप्रणाली , राजा का जनता के प्रति उत्तरदायित्व, लोकनिंदा का भय एवं करूणरस वर्णित है। मृच्छकटिक म्में राजपरिवार के लोगों का जनता पर अत्याचार और स्त्रियों ,व्यापारियों का शोषण, दास आदि का वर्णन किया है। मुद्राराक्षस में राज्य की प्राप्ति हेतु संघर्ष, गुप्तचरव्यवस्था और राज्यभक्त मंत्री और सेवकों, दास प्रथा का वर्णन है। स्वप्नवासवदत्त म्में राजा के भोग विलास में लिप्त होने से शत्रु द्वारा राज्य का अधिकांश भाग में अपना अधिकार करना, रनिवास, अन्त:पुर में निवास करने वाली रानी और सेविकाओ के रहन- सहन, राजा अन्त:पु रकीकन्या से प्रेम आदि का वर्णन है। इन नाटकों में प्राकृत, पालि और शौरसेनी भाषा का प्रयोग पात्रानुकूल हुआ है। प्राकृतिक चित्रण, आश्रम में अध्ययन, अध्यापन और यजन, राजमहल की भव्यतापूर्ण जीवनशैली, राजा को चक्रवर्ती सम्राट बनाने में रानी का त्याग और मंत्री की कूटनीति, मंत्रियों का भ्रष्टाचार, ऐन्द्रजालिक वर्णन, प्राकृतिक चिकित्सा, आदि का स्वाभाविक वर्णन किया गया है। कविकुलगुरू कालिदासजी के नाटकों की उपमा तो विश्वविख्यात है,भवभूति का करूणरस युक्त नाटक तो एक अनूठी पहल है।शूद्रक ने द्ररिद्रता के समय मानव व्यवहार की वास्तविकता से अवगत कराया है।विशाखदत्त ने मौर्यसाम्राज्य की गुप्तचर व्यवस्था, आचार्य चाणक्य की कूटनीति, और मौर्यकालीन समाज का वर्णन किया है। स्वप्नवासवदत्तम् एवं रत्नावली में मंत्री की योजना से राजा को

चक्रवर्ती सम्राट बनाना। नाटकों में राजनीति, आर्थिक स्थिति, सामाजिक व्यवस्था और प्रेमी युगल, मदनमहोत्सव, संगीत, नृत्यशाला, ऐन्द्रजालिक वर्णन, उपवनों, तालाब, सूर्योदय, चन्द्रोदय, युद्ध, अन्त:पुर आदि का बड़ा ही सजीव वर्णन किया गया है-।

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यों भावानुकीर्तनम्।

नाना भावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।।

(मृच्छकटिक)

नाटककारों ने नाटकों में अभिनय एवं पात्रानुकूल भाषा, अंलकार, रस, छन्द और संवाद का अद्भुत समन्वय स्थापित किया है। जिससे नाटक में सहृदयजनों को मंनोरंजन एवं आनन्दानुभूति होती है। इसलिए कहा भी गया है-अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्। रूपकंतत्समारोपात्। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, उत्तररामचरितम्, मृच्छकटिकम्, मुद्राराक्षस और स्वप्नवासवदत्तम् आदि नाटकों के अनेक भारतीय एवं विदेशी भाषाओं में अनुवाद किए गये हैं। विश्वप्रसिद्ध अभिज्ञानशाकुन्तल म्विदेशी साहित्य को भी नगण्य कर देता है। इसलिए कहा गया है-काव्येषु नाटकं रम्यं, तत्र रम्या शकुन्तला।

महाकवि कालिदास ने परिमार्जित,परिष्कृत,सरल, सरस, प्रवाहपूर्ण,प्रसादगुण से युक्त स्वाभाविक भाषा का प्रयोग किया है। महाकवि ने पात्रों के अनुकूल भाषा का प्रयोग किया है। जो पात्र जिस स्तर का है उस की भाषा उसी स्तर की है। अभिज्ञानशाकुन्तल म्में मुहावरेदार भाषा को अति संक्षिप्त, सारगर्भित,सरल, तार्किकता से प्रस्तुत किया है।इस नाटक में 24 छन्दों को भावानुकूल प्रयोग हुआ

है। कवि ने प्रचलित अंलकारों की अभिव्यक्ति स्वाभाविकढंग से की है इसलिए यह उक्ति विश्वविख्यात है-उपमा कालिदास्य भारवेर्थ गौरवम् , दण्डिन पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणा:1 श्रृंगाररस के पूर्ण परिपाक हुआ है। सम्भोग श्रृंगार और विप्रलंभ श्रृंगार का अत्यंत सुंदर ढंग से प्रस्तुत किया है।

मुद्राराक्षस, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, और रत्नावली नाटिका में मंत्री की कूटनीतिक योजना से राजा को चक्रवर्ती सम्राट बनाने तथा राज्यविस्तार का वर्णन है।मुद्राराक्षस, प्रतिज्ञायौगन्धरायण में आचार्य चाणक्य और यौगन्धरायण अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर चन्द्रगुप्त और उदयन को चक्रवर्ती सम्राट बनाते हैं। मुद्राराक्षस, प्रतिज्ञायौगन्धरायण में नाट्यशास्त्र की परंपरानुसार प्राकृत भाषा का प्रयोग हुआ है इसमें महाराष्ट्री और शौरसेनी दो प्रकार की प्राकृत भाषा का व्यवहार किया है। जिसमें महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग पद्य भाग में तथा शौरसेनी का प्रयोग गद्य भाग में हुआ है। संस्कृत नाटकों में प्राकृत भाषा का प्रयोग पात्रानुकूल हुआ है।मुद्राराक्षस और प्रतिज्ञायौगन्धरायण वीररस प्रधान नाटक है, नाटक में अद्भुत, रौद्र, वीभत्स आदि अन्यरसों का भी यत्र-तत्र समावेश है। मुद्राराक्षस में मौर्य कालीन समाजिक, न्याय, राजव्यवस्था, गुप्तचर और वैश्यालय, मदिरालय का वर्णन है। तत्कालीन समाज में जुआ, दास प्रथा, वैश्यावृत्ति, श्रेष्ठी द्वारा किसानों का शोषण, आदि सामाजिक बुराईयों से जनता त्रस्त थी।

मृच्छकटिकम् के रचना काल के समय भारत की राजनैतिक स्थिति अत्यंत चिन्त्यनीय थी। सामाजिक और राजनैतिक जीवन की सभी मर्यादाएं छिन्न-भिन्न हो रहीं थीं। राष्ट्र की आर्थिक स्थिति सम्पन्न

थीं। राजा राजमहिषियों के अतिरिक्त कई भुजिष्याएं भी रखते थेlराजा के सगे-संबंधी न्यायाधीशों को धमकी देकर न्याय अपनी इच्छा अनुसार करवाते थेl शाम होते ही नगर में जुआरी , मधुशाला से मद्यपान किए लोग और लफंगे जनता को परेशान करने लगते थेl जुआ खेलने के अड्डे का मुखिया समिट कहलाता था। तत्कालीन समाज में दासप्रथा प्रचलित थी, मालिक का रुपया चुका कर दास स्वतंत्र नागरिक बन सकता था। समाज में वर्ण-व्यवस्था व्याप्त थी। राष्ट्र में बौद्ध धर्म इस काल में लड़खड़ा रहा था, लेकिन बौद्ध भिक्षुओं का चारित्रिक पतन नहीं हुआ था, समाज में उन्हें सम्मान मिलता था। मृच्छकटिकम् में शौरसेनी, मागधी, प्राच्या, अवन्तिका और प्राकृत भाषा के अतिरिक्त चाण्डाली, शकारी, चक्की जैसी विभाषाओं तथा देश भाषाओं का भी नाटककार द्वारा बड़ी सहजता से प्रयोग किया गया है। इस प्रकरण का अंगीरस श्रृंगार रस है। संस्कृत नाट्यों में वीर और श्रृंगार रस में से एक प्रधान रस होता है, अन्य रस गौण होते हैं। प्रसिद्ध नायक होता उसे नाटक कहते हैं-

वीरश्रृंगारयोरेक: प्रधानं यत्र वर्ण्यतेl

प्रख्यात नायकोपेतं नाटकं तदुदाहृतम्। (दशरूपकम्)

उत्तररामचरितम् में राम के सेवक द्वारा सीता पर लगाए गए लांछन के कारण परित्याग करना, सीता कावन में जाकर वाल्मीकि ऋषि के आश्रम में पुत्रों को जन्म देना ये सभी स्त्रीयों की सामाजिक दशा को दर्शाता है तत्कालीन समाज पुरुष प्रधान समाज था। कुलीन वर्ग को ही शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था, राम द्वारा शम्बूक का वध करना इसका उदाहरण है। करूण रस प्रधान यह नाटक है।

भारतीय नाट्य परंपरा में नाटक की भाषा और संस्कृति से यह परिलक्षित होता है कि तत्कालीन समाज में जुआरी, लम्पट, विट, वेश्याएं, चोर वर्तमान समाज की तरह व्याप्त थे1 स्त्रियों और निम्न जातियों के लोगों के लिए शिक्षा, चिकित्सा और अधिकार आदि कोई व्यवस्था नहीं थी। नाटकों में राजाओं का रानी की अतिरिक्त अन्य स्त्रियों के साथ प्रेम प्रसंग का होना एक आम बात है नाटकों में विदूषक द्वारा राजा की प्रेम लीला को विवाह में परिणित किया गया है। उत्तररामचरितम् में महाकवि भवभूति ने भाषा की प्रौढ़ता, वाणी की उदारता और अर्थगौरव इन तीनों ही गुणों का समावेश किया है। महाकवि ने वैदर्भी एवं गौडी शैली अपनाई है। यह नाटक करुण रस प्रधान होने के लिए प्रसिद्ध है। कर्पूरमंजरी में महाकवि राजशेखर ने सम्पूर्ण सट्टक शौरसेनी प्राकृत में लिखा है। यह नाटक श्रृंगार रस प्रधान है। नाटक में वैदर्भी, मागधी तथा पान्चाली रीतियां परी जाती हैं-

नाटक प्रकरण भाण व्यायोग समवकार डिमा:1

ईहा मृगाड्कवीथ्य: प्रहसनमिति रूपकाणि दशा11

(सा०द०)

रूपक और उपरूपकों सभी में प्राकृत, शौरसेनी, पाली भाषाओं का प्रयोग किया गया है। सभी रूपकों में श्रृंगार, विप्रलंभ श्रृंगार, करुण, आदि प्रधान रस हैं; वीर, रौद्र, वीभत्स, अद्भुत, भयानक आदि अंगीरस हैं। उपमा, रूपक, स्वाभावोक्ति, अर्थान्तरन्यास आदि अंलकारों का रूपकों में सुन्दर वर्णन किया गया है। वैदर्भी, गौडी, पान्चाली रीतियों का सुन्दर प्रयोग किया गया है। रूपकों में

लोकरीतियां, रूढ़िवादीता, लोककथा, पारम्परिक भोजन, वेश-भूषा, त्योहार, कौमुदी महोत्सव, का मनोरम दृश्य चित्रित किया गया है। जादू, मदारी का खेल, सांड की लड़ाई, संगीत, नृत्य शाला में नृत्य, आखेट आदि जनता के मनोरंजन के साधन थे। राजमहल में निवास करने वाली स्त्रियां वीणा बजाने, नृत्य, संगीत, अभिनय, उपवनों में विहार, जल-क्रीड़ा, चित्र-लेखन आदि मनोरंजन के साधन थे।इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि इस संस्कृत नाट्य परंपरा समृद्ध है। यह समाज में शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन एवं राजनीति को परिलक्षित करता है। नाट्यसाहित्य में अनेक राजाओं की राजव्यवस्था, प्रशासनिक व्यवस्था, कूटनीतिक गतिविधियों, आर्थिक स्थिति, सैन्य शक्ति, व्यापारियों और तत्कालीन समाज का ज्ञान होता है। यह सभी रूपक तत्कालीन समाज की भाषा और संस्कृति साहित्य, वेश-भूषा का भी परिचय देते है। इसलिए साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया हैं।

## सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1- आचार्य श्री रामकुमार कर्पूर मंजरी चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी।

2- मिश्र: आचार्य जगदीश चंद्र चौखम्बा मृच्छकटिम् सुरभारती प्रकाशन वाराणसी।

3- तिवारी डॉ० भोलानाथ भाषा विज्ञान किताब महल पब्लिशर्स अंसारी रोड, दरियागंज दिल्ली।

4- शास्त्रिणा डॉ० श्रीनिवास दशरूपकम् साहित्य भण्डार सुभाष बाजार, मेरठ।

5- महाकवि कालिदास अभिज्ञान शाकुन्तलम् व्याख्याकार डॉ० कैलाश

नाथ द्विवेदी सबलाइम पब्लिकेशन्स जयपुर।

6- आचार्य विश्वनाथ साहित्य दर्पण डॉ० विद्यालंकार निरूपण सुभाष बाजार मेरठ।

7- महाकवि भाषा स्वप्नवासवदत्तम् व्याख्याकार आचार्य श्री शेषराज शर्मा रेग्मी चौखम्भा सुभारती प्रकाशन वाराणसी।

8- महाकवि भास प्रतिज्ञायौगन्धरायण डॉ० गंगासागर राय: चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी।

9- हर्षदेव रत्नावली सम्पादक डॉ० शिवबालक द्विवेदी हंसा प्रकाशन जयपुर।

10- टण्डन डॉ किरण भारतीय संस्कृति ईस्टन बुक लिंकर्स दिल्ली।

11- भरत मुनि नाट्यशास्त्रम् सम्पादक डॉ० भवभूति शर्मा साहित्य भण्डार सुभाष बाजार मेरठ।

12-डॉ०ज्योतिवर्मा नाट्यशास्त्रम् युवराज पब्लिकेशन्स आगरा।

13- तिवारी डॉ० शशि संस्कृत साहित्य का इतिहास (एकविहंगम आवलोकन) भारतीय विद्या प्रकाशन बंगलोरोड दिल्ली

# Significance of Palilanguage in Buddhistliterature with a focus on its Origin and Development

**Ruma Mukherjee**
Research Scholar (Ph.D.), Department of Philosophy and Comparative Religion
Visva-Bharati University, Santiniketan, W.B., India.

**ABSTRACT:-**

languages usually play a vital role in socio-cultural history of a nation. In India, Pāli has occupied a prominent position in Buddhistliterature and culture. Thislanguage is an essential one to understand the canonical and non-canonicalliterature as well. But it is very saddening that the unique place of Pāli is not appreciated and valued muchlike other ancientlanguages. People even does not realize its influences on modern Indianlanguages on the one hand and on thelanguage of Ceylon, Burma and Siam on the other. Pāliliterature is one kind of depot of so many dark chapters of ancient Indian era. It is one of the oldestlanguages which has its root in thelanguage of Magadha (Māgadhi). Pālilanguage is the basis of Buddhist religion and studies. Buddha started to preach on vernacular dialects just because his target was the common masses who were not able to understand the metaphysics and formallogic but could obviously change theirlives for the betterment. India is now trying to promote Pālilanguage in different educational institution and implementing the recommendations of NEP 2020 for studying Pālilanguage. This paper aims to provide an analysis of the significance of Pālilanguage focusing on its original source and the process of its development.

**Key Words:**language, Origin, , Applications, Cultures, Importance, Status Quo.

**INTRODUCTION:**

language is nothing but the medium of conveying meaning by the human beings. Pāli is derived from one of the Prakritlanguages. Pali was thelanguage of Maghadha and Gautama Buddha used thislanguage as the sole medium to preach his teachings (vācanāmagga). But Max Walleser interprets Pāli as alanguage of Pataliputra while Rhys Davids says that it was aliterary dialect based on thelanguage of Kośala. The Pāliliterature still has its great importance on thelinguist, historians, philologist, the scholars of folklore and even of comparative religion. Usage of Pāli might categorise in three broad aspects: first is Canonicalliterature as well as Buddhist Scriptures, second is the commentaries of Buddhaghosha, and thelast one is several historical, grammatical and otherliterary works from second century till the date. As Sanskrit, alearnedlanguage, was nolonger the vernacular speech of the masses in the epoch of the Buddha, so he started to preach truth of humanlife through this particularlanguage, even his journey to attaining enlightenment is contained merely in Pālilanguage andliterature. Pāli canonicalliterature is known as Tripitaka (three baskets) and each of them contains ample of Pāli texts. There are so many non-canonical Pāliliterature mostly as the form of commentaries to explain the Canonicalliterature, e.g. Milinda Panha, Nettigandha and so many. It is very essential to practice Pālilanguage and seek out its implication for reconstructing ancient Indian history. At present people considers it as a deadlanguage while it is spoken in some subcontinent in India, Srilanka, Thailand, Vietnam and so on. Even there are so many institutions where the studies if thislanguage are taking place.

**ORIGIN AND DEVEIOPMENT OF PĀIIIANGUAGE:**

One of the middle Indo-Aryanlanguages, Prākrit used in the Indian subcontinent between 500 B.C. and 500 A.D. According to some ancient Prākrit grammarians, this term is derived from Prakriti or Sanskrit from which Māgadhilanguage arose. From Buddhaghosha's commentary it can be understood that he explained the term Chandas as a synonym for the

Sanskritlanguage and Sakānirutti for the Māgadhilanguage, to suggest Buddha;s medium of instruction in Māgadhi dialect. Few scholars also interpret Sakānirutti as one's mother tongue or vernacular. Māgadhi which is nothing but a form of Prākritlanguage was the original name of Pāli. The evaluation of Prakritlanguage went through three parts:

1. Old Prākrit Period

2. Middle Prākrit Period &

3. late Prākrit Period or Apabhraṃśa Period

Bharata in his Nātyasāstra talked about seven kinds of Prakritlanguage in that particular time period:

Māghadhavantikā prāchyā śourasenyardha-māgadhī

bāhlikā dākṣiṇātya ca sapta-bhāṣāḥ prakīrtitiāh.

Māgadhi considered as one of the famous verities of Prakrit and justlike to the Śourasenī Prākrit, Māgadhi was also used in Sanskrit dramas as a spokenlanguage of women andlower classes, though it was once the most prestigiouslanguages. There are numerous characters in mrcchakaṭikaṃ, a Sanskrit drama written by Sūdraka who usually spoke in Māgadhi and other Prākritlanguages. Even thelanguage used in Aśokan edicts which were considered as the first written inscription in India were mostly composed in archaic forms of Prakrit. pāli, one of the famous Prākritlanguages is highly appreciated in Indianlanguages and cultures and in other foreignlanguages due to its affinity with Buddha-Dhamma and it has become an international tongue gradually. According to Winternitz, Pāli is aliterarylanguage, developed gradually and started to use as the medium of instruction in Taxilā university. The educated Buddhist used its polished forms for their ownliterary purposes. But Mrs. Rhys argues that it is not anylocalizablelanguage but it means row that we have in the name of the famous courtesan of Vaishali, Ambapāli; even she points out the Visuddhimagga as an example where teeth are described in a Pāli (dantapāli). Simply she is not in fever to the theory that Pāli originates from Māgadhi. Prof.

Turner explains Pāli as alanguage of mixed dialectical forms, quite similar to north eastern as well as north-western dialects. Encyclopaedia Britanica describes Pāli as a classical as well asliturgicallanguage of Theravāda Buddhism.

Thus, we can come across with different theories regarding the origin and development of Pālilanguage.

**PĀlI CANONICAlliTERATURE:**

Rhys Davis has given a chronologicallist of Pāli Canonical texts as follows:

1. The silas, the Pārāyana, the Pātimokkha

2. The Dīgha Nikāya, Mjjhima Nikāya, Anguttara Nikāya and Samyutta Nikāya

3. The sutta Nipāta, the Thera Gāthās and Theri Gāthās

4. The Suttavibhaṅga and Khandhakas

5. The Jātakas and Dhammapadas

6. The Niddesa, the Itivuttakas, and the Paṭisambhidā

7. The Peta and Vimāna Vatthus, the Cariyā Piṭaka and the Buddha Vaṃsa

8. The Abhidhamma books

Tripitaka is a Buddhist Holy Scriptures, made up of two words, ti (three) and Piṭaka (basket) which means Three Basket. The parts of Tripitaka are as follows:

1. Sutta Piṭaka

2. Vinaya Piṭaka

3. Abhidhamma Piṭaka

Sutta Piṭaka, a basket of discourse contains dialogues, prose and verses. It is divided into five Nikāya. Among the Nikayas, Digha Nikaya contains thirty- four Suttas. Brahmajāl Sutta is very important in the history of Buddhistliterature because it explains the Sílas or the moral precepts which is essencial of Buddha-Dhamma. It also deals with several

philosophical thoughtslike S´āswatavāda or eternalism, Uddhamāghātana or condition of soul after death, Ucchedavāda or annihilationism and so on. The Ambaṭṭha Sutta highly deals with the caste matters. But it has not been much utilized as a source of caste criticism. It is sufficiently evident that at the time of the formation of Nikāyas caste was a burning question. Even the Vāseṭṭha Sutta, Madhura Sutta deals with the same things where Buddha opposed caste system with hislogical theories. Jāliya Sutta discusses on soul and body, is the soul distinct from the body, is the main concern of this Sutta. Poṭṭhapada Sutta deals with the question of soul and eternalism of the world. Mahāparinibbāṇa Sutta recors all the events of the fate of Buddhism.

Vinaya Piṭaka contains Vinaya or rules and regulations gor managing the Buddhist Saṃgha and the code of conducts for monks and nuns. In a single word, Vinaya Piṭaka is the Buddhist Church or order. It consists five books; which explain Sutta, rules for the guidance if monks, offences that require confession and expiation.

Abhidhamma Piṭaka, Basket of higher expositions, treats the same subject of Sutta Piṭaka in a more scholastic approach. It comprises seven books, commonly known as Sattapakaraṇa or seven treatises. The books deal with the exposition of Dhamma, four modes of progress and four objects of thought. Kathavatthu is a book on debate on theology and philosophy.

**THE DHAMMAPADA:**

One of the extensive works of Pāli Khuddhakanikāya is the Dhammapada. This Pāli text contains four hundred and twenty-three verses in twenty-six Vaggas or chapters. The Dhammapada makes the Buddhist way oflife easier and available to anyone who would seek an end to the dissatisfaction or Dukkha. Dhammapada consists two words: Dhamma, Skt. Dharma and Pada means song orlyrics or path. The title of the text clearly signifies a book of Buddha's sayings in the form of Gāthā, which are nothing but the collection of moral maxims.

Yo ca gāthāsataṃ bhāse anatthapada-saṃhitā

ekaṃ gāthā padaṃ seyyo yaṃ sutvā upasammati. – No. 102 (A. Das,1994, p.24)

it says Despite reciting hundred gāthas, one word oflaw is better. Dhammapada contains some gāthās which are more valuable than a gem in the world, which consist aesthetic delight, helpful in beautifies and purifies our body and mind. Dhammapada says about the nature of 'Taṇhā', Skt. Triṣṇā, the root cause of Dukkha– taṇhā vaḍḍhanti māluvā viya (N0-334); means the thirst growslike a creeper. Dhammapada simply consists buddha's messages in the form of Vedalla, Skt. Vaidurya. It is formulated in very simple and chastelinguistic style without any pedantry attempt.

**THE THERAGĀTHĀ AND THERĪGĀTHĀ:**

On the threshold of Pāliliterature, one can confront with alyrical poetry called Theragāthā. The figure of speech used here is very profound and scholastic that can't be reproduced in any otherlanguage. The Bhikkhus expressed the beauties of nature by using appropriate figure of speech, simile and metaphor. Some of them are as follows:

1. Philosophical Simile: Philosophy and poetry often go hand in hand and Theragāthās are the

living example to prove this. The desire for a son and daughter and the wrong notions are compared to the muds by saying:

Uttiṇṇā paṅika palipā, pātālā parivajjitā

Mutto oghā ca ganthā ca, sabbe mānā visaṃhatāti - Devasabha, no.89 (A. Das,1994, p.99)

Tr. "The muds and mires are crossed, the chasms are avoided. I am released from flood and tie. All conceits are exterminated" (Norman, K.R. ,1969, p.12). The similes as well as metaphors used in the gāthās, for describing Nibbāna are very appealing and distinct. Death is personified poetically by the Therās as 'Mṛtyurāja'. Sometime they used simile to explain the mental graciousness. In Theregāthās readers can see the reference of Noble Eightfold Path also.

Ogayh aṭṭhaṅgikaṃ sotaṃ sabbaṃ pāpaṃ pavāhayim. - Gayākassapa, No. 349 (A. Das,1994, p.103)

Tr. "Having plunged into the eightfold stream, I have washed all my evil away". (Norman, K.R. ,1969, p.38)

2. Natural and Poetical Similes: Similes used to enhance the poetic beauty of the nature in a skilful manner by the Therās.

Cando yathā vigata valāhake nabhe

virocati vītamalo va bhānumā

evampi Aṅgīrasa tvaṃ Mahāmuni

atirocasī yasasāsabbalokaṃ –

No. 1252 (A. Das,1994, p.116)

3. Similes from social, economic and political fields: The Therās also used similes to portray a complete picture of the society of that time along with some information of socio-economic and political conditions of this period. Thēras talk about the profession:

"Samunnamayam attānaṃ usukārova tejanam". - Hārito, No. 29 (A. Das,1994, p.123)

Tr. "Make your mind straight as an arrow-maker". (Norman, K.R., 1969, p.4)

In that time period the frontier city is ruled by the king and protected from the opponent which is described by the Therās using simile:

nagaraṃ yathā paccantaṃ guttaṃ santarabāhiram

evaṃ gopetha attānaṃ khaṇo ve mā upaccagā. -Sirimaṇḍo, No. 1005 (A. Das,1994, p.125)

Tr. "As frontier city is guarded inside and out, so you should guard yourselves". (Norman, K.R., 1969, p.93)

Theragātha also focuses on the doctrine of Karma and Rebirth with a poetic spirit:

"āsāya kassate khettaṃ bījam āsāya vuppati

āsāya vāṇijā yanti samuddaṃ dhanahārakā

yāya āsāya tiṭṭhāmi, sā me āsā samijjhatu". -Kaḷudāyi, No. 530-532 (A. Das,1994, p.128)

Tr. "The field is ploughed in hope: in hope the seed is sown; in hope merchants go to sea, bringing back wealth. (Norman, K.R., 1969, p.54)

Therās using their poeticlanguage gives emphasize on the causality and says the seed produces the fruit and fruit explains the seed. There is parallelism in Ramāyana and Theragāthā in the description of rainy season. The rainy season as described by Kālidasa in his Meghdūta is full of romantic theme where the cloud plays a role of messenger. But the rainy season mentioned by the Therā is totally different and serene; it builds a grandeur development of the beauty of nature. Thus, it becomes a devotional contribution to Pāliliterature.

Therīgāthā, the first women Anthology and most renowned contribution to Pāliliterature. It discovered very extensively about the education and culture of women of India's subcontinent. the therīs are profound scholar and formulated the gāthā in very simpler resilientlanguage than that of Theragāthā. The chief characteristics of these gāthās is that they consist very informative statements rather than any so-called tragedy. They present Indian scenery with the detailed knowledge of cultures, habits, traditions, knowledge system etc. Therīs are well skilled in using upamā and rūpaka. They use very familiar words of Pāli with it's intricated meanings so that the gāthās can facilitate memorizing and daily chanting and also got suited to the religious tempo of these Gāthās. The Therās are house-wives, widows, mothers, daughters come from poor families generally and they describe their emotion and feelings through appropriate Pāli verses with rich similes and metaphors. The brilliant poetess Sumedhā wrote the gāthās using bulk of simile with the object to make people realise the truth and attain salvation. isidāsi wrote her previouslife experience using very skilledlanguage and expression:

"na pi'haṃ aparajjhaṃ kiñci na pi hiṃs'evami na gaṇāmi

dubbacanaṃ kiṃ sakkā kātuye yaṃ maṃ videssate bhattā". (A. Das,1994, p.161)

Tr. "I have not offended at all; I have not harmed (him), I have not said any evil itterance. What can be done when my husband hates me?". (Norman, K.R., 1969, p.42)

Mahāprajāpati Gautamī praised Buddha's virtue by her song:

"sabbasattānaṃ uttamā ti apadādibhedu su sattesu sīlādiguṇehi uttamo bhagavā". - Paramatthadīpanī (E. Muller, 1893, p.142).

**PĀII AND BUDDHIST CUITURE:**

Pālilanguage andliterature always play a vital role in Buddhist Philosophy. Pāli was the medium of Buddha's teachings and the early Buddhist Philosophical concepts were recorded and disseminated in Pālilanguage. Pāli texts are integral to ensure and preserve the tradition in Theravāda and Mahāyāna Buddhism. Even the Jātaka tales, present valuablelessons and moral stories only in Pālilanguage. Thelanguage is used in every Buddhist Rituals through sacred chanting. The ancient Indian art is nothing but the Buddhist art in the form of sculptures, murals, paintings etc. which are greatly influenced by Pālilanguage. Even the Ashokan inscriptions were mostly inscribed in Pāli using the Brahmi script. Among the Pāli writers of Buddhism Nāgasenā, Buddhadatta, Buddhaghosha and Dhammapāla helped us to understand so many abstruse teachings of the Buddha. Milinda-panha supposed to be compiled by Nāgasenā is a is a comprehensive exposition of Buddhist metaphysics, ethics and Psychology. Visuddhimagga and the commentaries on Dhammapada and Jātaka (Jātakatthakatha) are extensive works of Buddhaghosha in Pālilanguage. In Sanskrit bhāsyas and tīkas, Pāli commentaries have often been used within bracket, but Indian bhāsyaliterature has nothing to compare with the Pāli Atthakatha which is of great historical importance.

**IMPORTANCE AND PRESENT STATUS OF PĀIIIANGUAGE:**

Scholar who are interested in Buddhism felt great exertion in studying Pāliliterature that means the study of teachings of the Buddha. A person who is well known in Buddhism can conjecture that according to Buddha "Dhamma is the most important" in the world; but truth is "vaso issariyaṃloke" (Sutta Piṭaka) means power is the most prominent in the world) according to the Buddha and to gain its clear elaboration one has to go through the Ṭikā of the commentary of Aṭṭakathā. The study of thislanguage is much important to reconstruct Indian History systematically. Not only for the student oflanguage, the chronological study of Pālilanguage is essential for the students of philosophy and ancient Indian history as well. In the west, Scholarslike Anderson, C.A.F. Rhys Davis, Sir Charles Eliot, James Woods, Richard Morris and so on translated many original Pāli texts and formulated valuable books on Buddhism. Very specifically T.W. Rhys Davis and C.A.F. Rhys Davis, two muchlearned researchers in the field of Pāli done some extensive works; and to understand those one must acquire the knowledge of Pāli. The famous grammarian Kaccāyana and Moggallāna extended their significant contribution to Pāli grammar.

Pālilanguage can be considered as an internationallanguage in the countries of Srilanka, Thiland, Burma, Cambodia and so on. Recently studies and researches of Pāli are taking place in several parts of the world. In Srilanka there is a Pāli university and in Thailand and other South Asian countries there are Pāli institutions also. There are so many universities in India having Pāli department who offer graduate, post-graduate, certificate and diploma courses in Pāli. Even some universities also offer Ph.D. degrees in Pālilanguage. Central Sanskrit university has translated Pāli texts into Hindi and Englishlanguages and it runs a journal (Pāli-Prākrit Anuśīlanam) in the field of Pāli and Prākritlanguages. In NEP 2020 Pālilanguagealong with other classicallanguages is given importance to be used and modernised as per needs. Para 22.5 of NEP states that "Unfortunately, Indianlanguages have not received proper attention and care under which the country haslost 220languages

in thelast 50 years" (J.K. Sharma, 2021, p.12). Therefore, the richlanguages of ancient India along with their arts and cultures must be preserved and cherished carefully.

**CONCIUSION:**

Pāli, a vernacular, reveals its distinctive peculiarities through its own grammar and vocabulary and it results that thelanguage cannot be derived from Sanskritlanguage. Pālilanguage gives a softness and flexibility for which one can easily exchange the stately but harsh regularity of Sanskritlanguage. Pāli is important to understand Buddhism both in India and outside of India. India's socio-religious condition as well as the condition of India's philosophy can be revealed through the antique Pāliliterature. In ancient India, there are Buddhist universitieslike, Nālandā, Takshilā and so many where people from several countries used to come andlearn Indian culture along with Buddhist philosophical expositions where Pāli was being taught mainly. Even in 'lalitvistara' readers are introduced with 'Kāvya-Kāraṇa' as a subject studied by Siddhartha Gautama. The Pāli works are the glories of ancient Indianliterature and it has a special genius to set out its majesty through morality and religion whichleads it to the magnificence oflanguage and always please the readers. The moral sentiment is expressed through the simplicity of Pālilanguage which is the noblest of the worldliterature.

Mātā yathā niyaṃ puttaṃ āyusā ekaputtaṃ anurakkhe,

Evam pi sabbabbhūtesu mānasaṃ bhāvaye aparimāṇaṃ - Metta-Sutta (A. Dinesh & S. Helmer, 1913).

This Gātha is as important in present day as it was in two thousand five hundred years before. It has been succeeded but never surpassed.

**REFERENCES:**

1. Anderson, D. & Smith, H. (1913). Suttanipāta: Mettā Sutta (Ed.). P.T.S.
2. Childers, R.C. (2007). A Dictionary of Pālilanguage. Oriental Book Center.

3. Das, A. (1994). Aliterary Appraisal of Pāli Poetical Works. Calcutta: Punthi-Pustak

4. law, B.C. (2000). A History of Pāliliterature (Ed.). Varanasi: Indica Books.

5. Norman, K.R. (1969). Elder's verses I.london: P.T.S.

6. Pandit, R. (n.d.). Pali Originated in India and Develop in Srilanka until Become Internationallanguage. https:// www. academia.edu/39723275/Pali_ Originated_ in _India_ and_ Developed_ in_ Srilanka_ until_ Become_ International _language.

7. Rao, C.U. (2022). Significance of Pālilanguage with a focus on its translation procedures into English: A Study. Jmbudwip the e-journal of Indic Studies, 1(1). http://journal.ignouonline.ac.in/index.php//jjis/article/view/8151.

8. Sharma, J. K. (2021). National Education Policy 2020:language Perspective. International Journal of Management and Social Science, 8(1), 7-15. 10.30726/ijmrss/v8.il.2021.81003.

9. Wallis, G. (2004). The Dhammapada: Verses on the Way. New York: Modernlibrary.

# Importance oflanguage and Culture in Vedicliterature Rigveda

**Prof. S.S. Joshi**
*HOD of Sanskrit*
KlES Nijalingappa College
IInd Block, Rajajinagar,
Bangalore - 560 010
Email : ssjoshisanp@gmail.com
Mobile No. : 9480212866

**ABSTRACT :**

The wealth of knowledge hidden in Sanskritliterature is immense. All the sources available in the world today are the ancient Vedicliterature Sanskritlanguage. It is known what a grand vision oflife the sages of our country had before the rise of civilization in other parts of the world. Vedicliterature in the form of samhitha , Brahmana , Aranyakas and Upanishads is vast in knowledge. In thisland of India, the voice of sages has flowed inexhaustibly. Rigveda Samhita is a collection of many suktas that were observed by different sages at different times. Due to the fact that they belong to different times, there is a difference in theirlanguDue to the variety of subjects, versatility is preferredge, vocabulary, style, grammar and feeling. From the ancient times to the modern times, it has been consistently shown the way to give human beings Aparajnana.

**INTRODUCTION:**

The Vedas are the most ancient in the world and are the foundation of our moral, religious, social and spiritual sentiments and ideals. The wealth of knowledge contained in the Vedas is vast and their teachings are relevant to mankind. It is not specific to one country, one time, one race. Vedic mantras contain hidden mysticism. Sadhaka's desire was to know the hidden knowledge that the Vedas advocate. Veda says It is the belief that the Vedas are eternal, supreme, immeasurable truths. These Vedas have

influenced all the religions and darshans of our country in an unmanifest way.

Sanskrit is one of the world's most importantlanguages.literature in thislanguage is unparalleled in scope and importance. It is the driving force in shaping the mindset, ideals and aspirations of Indians.

The wealth of knowledge hidden in Sanskrit Vahmaya is immense. The Vedic Vahmaya, the oldest of all the sources available in the world, is in Sanskrit. Here we get to know what a magnificentlife the sages of our country had before the rise of civilization in other parts of the world. This Veda is vast in the form of Vahmaya Samhita, Brahmana, Aranyaka and Upanishads. The words of the sages have flowed inexhaustibly herelike streams roaring from the mountains. The Upanishads are eternal beacons of knowledge that point out thelandmarks of humanlife as srutti sikharas.

In many scriptureslike Vedanta, Dharmashastra, Grammar, Nyayashastra etc., the foundation of Moolasutras for all time is in Sanskritlanguage. Even today I used to reason based on these fundamental formulas. Sruti, Smriti, History, Puranas, Shastragranthas somehow as well as rare alchemy are a feature of Samriddhi Sanskritliterature.

Sanskrit is alanguage that has grown to be a bedfellow in people'slife, it has come to be used in all aspects of humanlife. Medicine, astrology, sculpture, economics, politics, morals, decoration, mathematics, kamashastra, geometry, music, dance, etc. are all the basic scriptures composed in thislanguage. It contains the most advanced knowledge base. It gives mankind the inspiration

it needs to redeem itself. It is very extensive due to knowledge, wealth of words and happiness.

Sanskritliterature is a major part of Indian culture. Spirituality is the idealized spiritual form of Indian culture, nurtured by self-sacrifice, nourished by austerity and nurtured by sapovana. India is a manly country where religion is paramount. Indian culture is full of religious sentiments. There is atheism

and unwavering faith in the reality of God. These are the foundations of Indian religion. Indians have realized that the purpose oflife is to be united with God.

Every countryman should be united, united,live together, be active and build a strong nation. One should be prepared to make all sacrifices for its protection, be enriched by organization www and progress by independent intellectual achievements. Veda consists of two parts. Brahminical scriptures became famous for knowing the knowledge, pronunciation and usages of Brahminical mantras, thelatter as Mantra or Samhita. There are three differences in vowels. Udatta, Anudatta, are swaritas.later, Sruti became Saptaswaras.

May our voice become one with another's voice, may the intellects of God and man become one, may the brilliance become one,

A man becomes famous by what he does. Those who do deeds intelligently will be admired by all. Because of Satyaniyam you are beautiful all over the world. Always speak well.

We find thousands of elements that reflect Indian culture meaningfully in Vedicliterature.

**Conclusion:**

Vedicliterature is thelifeblood of Indian culture, the world's oldest Vedicliterature is a vast treasure of knowledge. It is a way for humans. In the Rigreda, the topics related tolanguages were useful to the next generation and hence all aspects ofliterature are found in the Vedas. It imparts knowledge that reflects Indian culture. Even the young and the old, Vedic culture informs the achievement of salvation through the knowledge that gives goodlife, pleasure and bliss.

# महाकवि अश्वघोष विरचित बुद्धचरितम् की भाषा शैलीःपञ्चम सर्ग के संदर्भ में

**समृद्धि धनंजय भालवणकर**
द्वितीय वर्ष, एम. ए. (संस्कृत तथा कोशशास्त्र)
डेक्कन कॉलेज पदव्युत्तर संशोधन संस्था, पुणे

महाकवि अश्वघोष संस्कृत साहित्य के एक विख्यात महाकवि हैं। संस्कृत के अधिकांश कवियों की तरह अश्वघोष की जीवनी के बारे में भी हमें बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। उनके जीवनकाल के बारे में भी विद्वानों में कई मतभेद है। चिनी परम्परागत कथाओं के अनुसार अश्वघोष को कश्मीर के राजा कनिष्क का समकालीन बताया जाता है।[1] इनके सौन्दरनन्द महाकाव्य के १८वे सर्ग के - 'आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतस्य भिक्षोराचार्यभदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियंll[2]' इस अंतिम वाक्य से हमें उनके माता का नाम निवासस्थान, उनकी कुछ उपाधियों तथा कौशल्यों के बारे में कुछ जानकारी हासिल होती है।

ऐसी भी मान्यता है कि उनका जन्म और अध्ययन ब्राह्मण कुल में हुआ था। बौद्ध-धर्म के गुणों से आकृष्ट होकर उन्होने बाद में उस धर्म को अपनायाll[3] बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार करना ही उनकी कृतियों का मुख्य उद्देश्य है। विद्वानों के मत अनुसार बौद्ध भिक्षु होने के साथ वे वाल्मीकि और कालिदास की कोटि के महाकवि या थेl काव्यविकास के क्रम में वे वाल्मीकि के बाद और कालिदास के पहले

आते हैं। काव्य में जिस तरह वे वाल्मीकि के ऋणी और उत्तराधिकारी थे वैसे ही कालिदास भी उनके ऋणी और उत्तराधिकारी थे।[4] अश्वघोष की गण्डीस्तोत्रगाथा, महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र, वज्रसूचि, राष्ट्रपाल, सारिपुत्रप्रकरण, सूत्रालंकार, सौन्दरनन्द और बुद्धचरित यह कृतियाँ प्रसिद्ध है। इनमें से सौन्दरनन्द तथा बुद्धचरितम् विशेष लोकप्रिय है।

बुद्धचरितम् एक चरित्रात्मक महाकाव्य है। इसके १४ सर्गों में राजकुमार सिद्धार्थ के जन्म से लेकर उनकी बुद्धत्व-प्राप्ति तक की जीवनयात्रा का श्लोकात्मक वर्णन है। बुद्धाचरितम् के तृतीय सर्ग 'संवेगोत्पत्तिः' और चतुर्थ सर्ग 'स्त्री-विघातन' की निरंतरता में आए हुए पंचम सर्ग 'अभिनिष्क्रमण' में निवृतेच्छु राजकुमार के वनगमन के निश्चय से कृति तक के वैचारिक द्वंद्व का वर्णन है। पिता शाक्यराज के उन्हें रोकने के प्रयास, उनकी पुत्र से भिन्न विचारधारा एवं पुत्रप्रेम भी इसमें वर्णित है। इनके वैचारिक टकराव को उत्तम प्रकार से दर्शानेवाली अश्वघोष की भाषाशैली निश्चय ही अध्ययनीय है।अत्यंत ऐश्वर्यशाली और सुखी जीनेवाले राजकुमार के मन में उभरी विरक्तीभावना के परिणामस्वरूप उनका निवृति-प्राप्त करने के लिए नगरत्याग इस सर्ग में होता है। यह एक ऐसी निर्णायक घड़ी है जहाँ से सिद्धार्थ का राजकुमारत्व एवं अज्ञानान्धत्व खत्म होकर उनकी परमज्ञानी 'बुद्ध' बनने की यात्रा आरंभ हो चुकी है। इस वजह से 'अभिनिष्क्रमण' सर्ग 'बुद्धचरितम्' की आत्मा है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में एक ही छंद होता है किन्तु सर्ग का अंतिम पद्य भिन्न छंद में

होता है। आभिनिष्क्रमण सर्ग में 'मालभारिणी'[5] नामक अर्धसमवृत्त प्रयुक्त है और अंत के कुछ श्लोकों में भिन्न वृत्त भी दिखता है।

**एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।**
**नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ॥**

(साहित्यदर्पण ६. ३२०)

*तथा*

**सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ॥**

(साहित्यदर्पण ६. ३२१)

इस लक्षण के अनुसार बुद्धाचरित के हर एक सर्ग के अंत में भावी कथासूत्र का सूचन है।

बुद्धाचरितम् के चतुर्थ सर्ग के अंतिम श्लोक (४.१०३) में राजकुमार का मन विषायोपभोगों से विमुख होने की वार्ता सुनकर शाक्यराज चिंतित हुए हैं। यह सूत्र पकड़कर ही पांचवे सर्ग के प्रथम श्लोक- **स तथा विषयैर्विलोभ्यमानः परमोर्हैरपि शाक्यराजसूनुः। न जगाम धृतिं न शर्म लेमे हृदये सिंह इवातिदिग्धविद्धः ॥ (५.१)** में कवि ने राजकुमार के लिए शाक्यराजससूनुः' इस विशेषण का प्रयोग करते हैं। पूरे सर्ग में कहीं भी राजकुमार का नामोल्लेख नहीं है। विशिष्ट श्लोकों में वर्णित परिस्थियों के अनुसार वें राजकुमार के लिए सर्वनामों विशेषणों, तद्धितों तथा धतुसाधित विशेषणों का प्रयोग करते हैं। उदाहरणार्थः श्लोक- **तत इन्द्रसमो जितेन्द्रियाश्वः प्रविविक्षुः पुरमश्वमारुरोह। परिवारजनं त्ववेक्षमाणस्तत एवाभिमतं वनं न भेजे ॥ (५.२२)** में जब राजकुमार अश्वारोहण कर रहें हैं, तब उनको

'जितेन्द्रियाश्व' कहा है, श्लोक (५.६) में राजकुमार के दयालु मन में उत्पन्न हुई करुणा को दर्शाते हुए कवि ने उन्हें 'परमार्य' कहा है, इसी प्रकार श्लोक- **अथ स विमलपङ्कजायताक्षः पुरमवलोक्य ननाद सिंहनादम्। जननमरणयोरदृष्टपारो न पुरमहं कपिलाह्वयं प्रवेष्टा ॥ (५.८४)** में उन्होंने अपने नगर को अंतिम बार देखने वाले कुमार को 'विमलपङ्कजायताक्ष' कहा है। यह विशेषण काव्यसौन्दर्य बढ़ाने के साथ-साथ राजकुमार के गुणों तथा विशेषताओं को भी बयाँ करते हैं।

अश्वघोष की शैली का यही लालित्य है कि राजकुमार के विशेषणस्वरूप आनेवाले शब्दों से श्लोकों में कई बार उपमा रूपकादि अलंकार अनायासही होते हैं। कवि का उदेश्य पण्डित्यप्रदर्शन नहीं है। अतः इस काव्य में अलंकार काव्य-कथावस्तु की आवश्यकता के तौर पर सहजतया आते है। उदाहरणार्थ उपरिदत्त श्लोक (५.१) में को इहलोक की अनिश्चितता क्षणभंगुरता एवं दुखदता का ज्ञान होने से अत्यधिक विह्वल हुए राजकुमार (सः) उपमेय को विषैले बाण से हृदय विद्ध हुए सिंह की उपमा कवि देते हैं।

श्लोक- **स विकृष्टतरां वनान्तभूमिं वनलोभाच्च ययौ महीगुणाच्चा। सलिलोर्मिविकारसीर मार्गों वसुधां चैव ददर्श कृष्यमाणाम् ॥ (५.४)** में होती जाने वाली धरती का वर्णन है। राजकुमार की भावनाशील दृष्टि को वह जुताई कर रहे हलों के मार्ग जलतरंगों के समान दिखाई देते हैं। यहाँ 'सलिलोर्मिविकारसीरमार्गाम्' उपमान 'वसुधाम्' उपमेय है। यहाँ पर उपमान और उपमेय का भेद प्रसिद्ध होने पर भी इनमें

अभेद दिखाया गया है। इसलिए यहाँ रूपकालंकार का सुन्दर प्रयोग हुआ है। श्लोक- **हलभिन्नविकीर्णशष्पदर्भां हतसूक्ष्मक्रिमिकीटजन्तुकीर्णाम्। समवेक्ष्य रसां तथाविधां तां स्वजनस्येव वधे भृशं शुशोच ॥ (५.५)** में हवा, सूर्ययकिरण व धूल से विवर्ण हुए कृषक पुरुषों तथा हाल में बहाने के श्रम से विकल हुए बैलों को देखकर राजकुमार के कोमल हृदय में उत्पन्न हुई करुणा एवं शोक की तुलना केवल आप्तजनों के मृत्यु से ही की जा सकती है। यहाँ पे 'कटे बाल - तृण, मरे पडे हुए कीटक' इस उपमेय के 'मृत आप्तजन' इस उपमान के साथ सादृश्य की संभावना की है। इस तरह यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होने से श्लोक में वर्णित कारुण्य की तीव्रता का अनुमान सहजतया होता है। श्लोक- **मृगराजगतिस्ततोऽभ्यगच्छन्नपति मन्त्रिगणैरुपास्यमानम्। समितौ मरुतामिव ज्वलन्तं मघवन्तं त्रिदिवे सनत्कुमारः।। (५.२७)** में मृगराजगति कहके, 'मन्त्रियों द्वारा सेवित होते राजा' को स्वर्ग के इन्द्र की तथा राजकुमार को सनत्कुमार की उपमा देते हुए इन उपमानोपमेयों का क्रम से समन्वय करके कवि रूपक और यथासंख्य अलंकारों का मनोरम मिलाफ़ करते हैं। ऐसे अर्थालंकार और कई श्लोकों में अनुप्रासादि पद्यसुलभ अलंकार इस सर्ग में विपुलता से मिलते है। इस सर्ग का अंतिम श्लोक- **हरितुरगतुरङ्गवत्तुरङ्गः स तु विचरन्मनसीव चोद्यमानः। अरुणपरुषतारमन्तरिक्षं स च सुबहूनि जगाम योजनानि ॥ (५.८७)** इस श्लोक में 'र', 'त', 'ङ्ग' और 'न' का अनुप्रास चित्तवेधी है।

इस सर्ग में आरंभ अलंकारों का आस्वादन करने के लिए सर्ग में वर्णित पात्रों के मनोव्यापारों को समझना अत्यंत आवश्यक है।

अश्वघोष की, पात्रों की मनःस्थिति के अनुकूल भाषा शैली की वजह से श्लोक में वर्णित दृश्य को रसिकों के मनःचक्षुओं के सामने आता है।

श्लोक- **कृपणं बत यज्जनः स्वयं सन्नवशो व्याधिजराविनाशधर्मी। जरयार्दितमातुरं मृतं वा परमज्ञो विजुगुप्सते मदान्धः ॥ १२ ॥**

**इह चेदहमीदृशः स्वयं सन्विजुगुप्सेय परं तथास्वभावम्। न भवेत्सदृशं हि तत्क्षमं वा परमं धर्ममिमं विजानतो मे ॥ १३ ॥ (५.१२-१३)** में राग-द्वेषादि चित्त के विकारों से मुक्त होने के पश्चात् जगत् के लिए राजकुमार में उत्पन्न हुआ निरिच्छभाव, तटस्थ दृष्टिकोण तथा इतिकर्तव्यता विवेक स्पष्ट दिखता है। यह श्लोक उनके वैचारिक परिवर्तन के निदर्शक है। श्लोक- **प्रणिपत्य च साञ्जलिर्बभाषे दिश मह्यं नरदेव साध्वनुज्ञाम्। परिविजिषामि मोक्षहेतोर्नियतो ह्यस्य जनस्य विप्रयोगः॥ (५.२८)** में अपने पिता से परिव्राजक होने की आज्ञा माँगने वाले राजकुमार की विरक्ति को पाठक भली-भाँति समझ सकते हैं। नियतों हि अस्य जनस्य वियोगः1 इस पंक्ति से राजकुमार को हुआ इहलोक की तात्कालिकता का एहसास प्रतीत होता है। सांसारिक जीवन के रिश्तों-नातो को राजकुमार मन ही मन त्याग चुके हैं। वे अपने पिता को राजशिष्टाचार के अनुरूप संबोधित करते है। हालांकि शाक्यराज उनसे एक पिता की अधिकारवाणी से प्रेमपूर्वक सम्भाषण करना चाहते हैं किसी प्रकार सन्यस्त होने से रोकने की उनकी मनीषा है। वे पुत्र के लिए 'तात' (५.३०), 'प्रियधर्म' (५.३२) जैसे संबोधनों का इस्तेमाल करते हैं। उनके हर एक शब्द से उनकी व्याकुलता तथा हतबलता साफ झलकती है। पिता और

राजा होने पर भी, वे कहीं भी राजकुमार पर अपना अधिकार जमाते हुए नहीं नजर आते। वे अपने मतों की यथोचित कारणमीमांसा करते हैं। यहाँ अश्वघोष ने संसार की सामान्य तथा सर्वमान्य धारणाओं को शाक्यराज जुबां पर डाला है। उदाहरणार्थ:

**वयसि प्रथमे मतौ चलायां बहुदोषां हि वदन्ति धर्मचर्याम् ।। (५.३०)**

**स्थिरविक्रम विक्रमेण धर्मस्तव हित्वा तु गुरु भवेदधर्मः।। (५.३२)**

**पुरुषस्य वयः सुखानि भुक्त्वा रमणीयो हि तपोवनप्रवेशः।। (५.३३)**

यहाँ एक तरह से शाक्यराज राजकुमार को भावनिक आवाहन देने की कोशिश करते हैं। यद्यपि राजकुमार उनसे अत्यंत नम्रतापूर्वक पेश आते हैं तथापि राजकुमार की वाणी से एक यौवनसुलभ स्पष्टता प्रतीत होती है। वे अपने पिता के सामने कभी पूरी न होने वाली शर्तें रखते हैं। वे कहते हैं,

श्लोक- **न भवेन्मरणाय जीवितं मे विहरेत्स्वास्थ्यमिदं च मे न रोगः। न च यौवनमाक्षिपेज्जरा मे न च संपत्तिमिमां हरेद्विपत्तिः।। ३५।।**
पिता के न माननेपर वे अत्यंत दृढ़तापूर्वक अधोलिखित वचन कहते हैं। वे इस श्लोक में सांसारिक जीवन की तुलना आग से जलते हुए घर के साथ करते हैं। यह रूपक उनकी सांसारिक जीवन के प्रति अत्यंतिक अरूचि को दर्शाता है। राजा-राजकुमार संवाद में एक तरफ सांसारिक इच्छाओं से प्रेरित मनुष्य के मनोव्यापार तथा दूसरी तरफ ऐहिक जीवन से परे देखने की इच्छा करनेवाले मुमुक्षु के मनोव्यापार अत्यंत सरल, रसपूर्ण तथा गंभीर शैली में प्रकट हुए हैं। इनसे बुद्ध की मानसिकता को जानना सरल होता है। इसी लिए यह संवाद इस सर्ग का प्राण है। अश्वघोष की वर्णन शैली का एक महत्वपूर्ण

वैशिष्ट्य यह है कि वे कथानक के प्रसंगों को पत्रों की तत्कालीन मानसिकता के अनुसार दर्शाते हैं। इस सर्ग के श्लोक ४१ से ४५ तक राजकुमार तथा अंतःपूर की स्त्रियाओं का अत्यंत श्रृंगारिक वर्णन कवि ने किया है जैसे श्लोक-

**चलकुण्डलचुम्बितानना भिर्घननिश्वासविकम्पितस्तनीभिः।**
**वनिताभिरधीरलोचनाभिर्मृगशावाभिरिवाभ्युदीच्यमाणः ॥ (५.४१)**

**स हि काञ्चनपर्वतावदातो हृदयोन्मादकरो वराङ्गनानाम्।**
**ययास सश्रवणाङ्गविलोचनात्मभावान्वचनस्पर्शवपुर्गुणैर्जहार॥**
**(५.४२)**

यह वर्णन सामान्य व्यक्ति के मन में श्रृंगार की भावना उत्पन्न करने में समर्थ है। लेकिन विरक्त राजकुमार को वही चेष्टाएं बीभत्स प्रतीत होती है। कवि सोती हुई अङ्गनाओं की गात्रचेष्टाओं का वर्णन कुछ इस तरह करते हैं की वह वर्णन बीभत्स तथा उद्वेगजनक लगता है। श्लोक- **विवृतास्यपुटा विवृद्धगात्री प्रपतद्वक्त्रजला प्रकाशगुह्या।**
**अपरा मदघूर्णितेव शिश्ये न बभासे विकृतं वपुः पुपोष।। (५.६१)**

सर्ग के हर एक पात्र का अत्यंत सूक्ष्म वर्णन इसे और भी आस्वादनीय बनाता है तथा कवि की अति सूक्ष्म विचारशक्ति से रसिकों को अवगत कराता है। राजकुमार के अभिनिष्क्रमण के समय उनके 'कन्थक' घोड़े का अपादमस्तक वर्णन कवि ने मात्र तीन श्लोकों में किया है, जिन्हे पढ़कर उस घोड़े की छवि आँखों के सामने आती है। श्लोक-

**अथ हेमखलीनपूर्णवक्त्र लघुशय्यास्तरणोपगूढपृष्ठम्।**

**वलसत्रजवान्वयोपपन्नं स वराश्वं तमुपानिनाय भत्रे ॥ (५.७२)**

**प्रततत्रिकपुच्छमूलपाणि विनतोन्नतपृष्ठकुक्षिपाव निभृतह्रस्व तनूजपुच्छ कर्णम्।**

**विपुलप्रोथललाट कट्युरस्कम् ।। (५.७३)**

**उपगुह्य स तं विशालवक्षाः कमलाभेन च सान्त्वयन् करेण।**

**मधुराचरया गिरा शशास ध्वजिनीमध्यमिव प्रवेष्टुकामः।।**

**(५.७४)**

इस प्रकार कवि वर्णित प्रसंगों को रसिकों के मनःचक्षुओं के सामने खड़ा करने में माहिर है। इस सर्ग में राजकुमार के अभिनिष्क्रमण का समय आने पर गृहद्वारों तथा फाटकों के खुलने का वर्णन कुछ हद तक भगवान श्रीकृष्ण के जन्म के बाद कारावास के द्वार अपने आप खुलने के वर्णन के सदृश लगता है। श्लोक-

**अवगम्य इति तस्य तदन्तरं विदित्वा निशि निश्चिक्रमिषा समुद्बभूव।**

**मनस्ततोऽस्य देवैर्भवनद्वारमपावृतं बभूव ॥ (५.६६)**
**कनकवलयभूषितप्रकोष्ठैः कमलनिभैः कमलानिव प्रविध्य।**
**अवनततनवस्ततोऽस्य यक्षाश्चकित गतैर्दधिरे खुरान् करायैः।।**

**(५.८१)**

सर्ग में आए सनत् कुमार, लक्ष्मी, इत्यादि. शब्दविशेष अवलोकनीय हैं। महाकवि अश्वघोष के पूर्वाश्रमी संस्कार के वर्णनों की वजह हो सकते हैं।

अभिनिष्क्रमण सर्ग के अध्ययन-अवलोकन के बाद यह कहा जा सकता है की इस सर्ग का व्यापार मुख्यतः शब्दों की अभिधा और लक्षणा शक्तियों पे निर्भर है। तथापि औचित्यपूर्ण पदयोजना के कारण अपेक्षित रसनिष्पत्ति पूरी तरह से होती है।

बुद्धचरितम् के अभिनिष्क्रमण सर्ग का अध्ययन और गहराई से किया जा सकता है।

हिन्दी अनुवाद- सूर्यनारायण चौधरी, प्रकाशक-संस्कृत भवन, कठौतीया, बिहार, सितंबर १९४२, अश्वघोष-कृत बुद्धाचरित पहला भाग, सर्ग १-१४, पृष्ठ- अश्वघोष और उसकी कृतियाँ, बिन्दु- ३।

1. संपादक और अनुवाद- सूर्यनारायण चौधरी, एम.ए. (अध्यक्ष-संपादक, संस्कृत-विभाग, पूर्णिया कालेज, पूर्णिया), सर्ग- १८, पृष्ठ- २६०, अंतिम श्लोक, अश्वघोष-कृत सौन्दरनन्द काव्य सानुवाद।

2. अश्वघोष-कृत बुद्धाचरित पहला भाग, सर्ग १-१४ हिन्दी अनुवाद-सूर्यनारायण चौधरी, पृष्ठ- ख, पंक्ति- ११-१५।

3. अश्वघोष-कृत बुद्धाचरित पहला भाग, सर्ग १-१४ हिन्दी अनुवाद-सूर्यनारायण चौधरी, पृष्ठ- ग, पंक्ति ६-९।

4. 'विषमे ससजा यदा गुरु चेत्सभरा येन तु मालभारिणीयम्'। [Sanskrit Commentary- Shri Appashastri Rashivadekar, English Translation and Notes- V. V. Sovani (1911) Buddhacharitam, Poona

City: A. C. Bhat & Co.], पृष्ठ- १०७, बालबोधिनी, पंक्ति १०-११l

❖ प्रस्तुत शोधनिबंध में दिए गए बुद्धचरितम् के पंचम सर्ग के सभी उद्धरण ' हिंदी अनुवादक - सूर्यनारायण चौधरी (१९४२) अश्वघोष-कृत बुद्धचरित पहला भाग, सर्ग १-१४ (मूल संस्कृत और हिंदी अनुवाद). कठौतिया बिहार: संस्कृत - भवन.' से लिए गए हैं।

**<u>सन्दर्भग्रंथ सूचि:</u>**

१. हिंदी अनुवादक - सूर्यनारायण चौधरी (१९४२) अश्वघोष-कृत बुद्धचरित पहला भाग, सर्ग १-१४ (मूल संस्कृत और हिंदी अनुवाद). कठौतिया बिहार: संस्कृत - भवन.

२. संपादक और अनुवाद- सूर्यनारायण चौधरी, एम.ए. (अध्यक्ष-संपादक, संस्कृत-विभाग, पूर्णिया कालेज, पूर्णिया), सर्ग- १८, पृष्ठ- २६०, अंतिम श्लोक, अश्वघोष-कृत सौन्दरनन्द काव्य सानुवादl

३. संपादक: डॉ. नगेन्द्र, एम. ए., डी. लिट्.

व्याख्याकार- आचार्य विश्वेश्वर सिद्धांतशिरोमणी,

श्री मम्मटाचार्य- विरचित, काव्यप्रकाश:,

प्रकाशन- ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी. सं- इ.स. १९६०.

४. प्रकाशक- श्रीकांत शास्त्री, श्रीमृत्युंजयऔषधालय, ऐवट रोड, लखनऊ. सं. इl स. १९९१,

श्रीविश्वनाथकविराजकृतः साहित्यदर्पणः (द्वितीयावृत्तिः)

५. Sanskrit commentary- Shri. Appashastri Rashivadekar, English Translation & Notes-V. V Sovani (1911) Buddhacharitam. Poona City: A. C. Bhat & Co.

- ई-स्रोतः https://archive.org/details/SaundaranandaKavyaAshvaGhosha

# पुराणों में भारतीय संस्कृति

**डॉ० सरोज कुमारी**
संस्कृत-विभाग
सीनियर रिसर्च फैलो
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय
शिमला-05

भारतीय संस्कृति का मूलधार वेद हैं। इसके बाद पुराणों को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त है। ये भारतीय संस्कृति के गौरव ग्रन्थ हैं जिसमें विविध विषयों में उच्च कोटि का ज्ञान प्राप्त होता है। भारतीय संस्कृति को गौरवपूर्ण स्थान दिलाने में संस्कृत-साहित्य की विशेष भूमिका रही है।

**पुरा परम्परा वक्ति पुराणं तेन वै स्मृतम् (वायु पुराण 1.2.53)**

अर्थात् प्राचीन परम्परा के प्रतिपादक ग्रन्थों को पुराण कहते हैं।

हमारी भारतीय संस्कृति में वैदिक साहित्य, धर्म, दर्शन तथा संस्कृति के सन्दर्भ में ऋषियों का विशेष योगदान है। भारत को विश्वगुरु और भारतीय संस्कृति को विश्व की प्रथम संस्कृति बनाने का श्रेय ऋषियों को ही जाता है। **सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा** अर्थात् भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीन संस्कृतियों में से एक है जो समस्त संसार द्वारा वरणीय है।अर्थात् यह संस्कृति विश्वव्यापी है। संस्कृति एक जीवन जीने की पद्धति का नाम है। जिसका विकास इस धरा पर सर्वप्रथम भारतवर्ष में हुआ, अतः वह भारतीय संस्कृति कहलायी।

पुराणों में हमें भारतीय संस्कृति से सम्बद्ध अनेक विषयों की जानकारी मिलती है।

**कूट शब्द-** संस्कृति, पृथ्वी, अतिथि-सत्कार, गंगा, कर्मयोग, अवतारवाद, गुरु-शिष्य, भारतवर्ष।

विष्णु पुराण के अनुसार राजा पृथु जो मनु के बाद के राजा हुये। उनके नाम से ही हमारी धरती का नाम पृथ्वी पड़ा। भारत राष्ट्र की पहचान सदियों पुरानी है जिसका प्रमाण विष्णु पुराण में है क्योंकि यह एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है। राजा पृथु ने प्रजा के हित के लिये पृथ्वी से समस्त धान्यों का दोहन किया उसी अन्न के आधार से आज भी प्रजा जीवित रहती है। अतः राजा पृथु प्राणदान करने के कारण भूमि के पिता कहलाये तथा सब प्राणियों को धारण करने वाली भूमि को पृथ्वी नाम मिला। अर्थात् राजा पृथु भारतीय संस्कृति में वन्दनीय हैं जिन्होंने पृथ्वी को अपनी पुत्री बनाया और प्रजा का रंजन (प्रसन्न करना) करके राजा कहलाये।[1]

विष्णु पुराण में अतिथि-सत्कार विषय अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं। प्राचीन काल से ही भारत देश में अतिथियों को भगवान् का दर्जा दिया गया है। अतिथि देवोभवः (तैतिरीयोपनिषद् 1.11.2) अर्थात् अतिथि को देव समान हर भारतीय आज भी मानता है।

---

1 स्वपाणौ पृथिवीनाथे दुहोह पृथिवीं पृथुः ।
सस्यजातानि सर्वाणि प्रजानां हितकाम्यया ॥
तेन्नानेन प्रजास्तात वर्तन्तेद्यापि नित्यशः ।
प्राणप्रदाता स पृथुर्यस्माद्भूमेरभूत्मिता ।
ततस्तु पृथिवीसंज्ञामवापाखिलधारिणी ॥ विष्णु पुराण, 1.13.87-89

देवता, अतिथि, ब्राह्मण के अतिरिक्त भिक्षुगण भी अतिथि कहलाते हैं। यदि सामर्थ्य हो तो भिक्षुओं को इच्छानुसार भिक्षा देकर लौटाना चाहिये। ये चारों ही अतिथि कहलाते हैं। इनकी सेवा करने से मनुष्य सभी पापों से मुक्त हो जाता है जिसके घर से अतिथि निराश होकर लौटता है उसके सभी शुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं क्योंकि धाता (भृगु व ख्याति के पुत्र धाता), प्रजापति, इन्द्र, अग्नि, वसुगण तथा अर्यमा (12 आदित्यों में से एक) ये सभी देवता अतिथि में प्रवेश करके स्वयं अन्न ग्रहण करते हैं।[1] अतः भारतीय संस्कृति में अतिथि यज्ञ (नृयज्ञ) को पञ्चमहायज्ञों (ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ एवं नृयज्ञ) में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। पुराणों में अतिथि यज्ञ को जीव ऋण भी कहा गया है। अतः अतिथि, याचक, पशु-पक्षी, चींटी तक सभी जीव ऋण में आते हैं।

नदियों का भारतीय जीवन में बहुत बड़ा योगदान रहा है क्योंकि ये नदियाँ धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, व्यापारिक, पर्यटन, स्वास्थ्य, कृषि, शिक्षा, औषधि तथा अन्य क्षेत्रों से जुड़ी हुयी हैं। ऋग्वेद के अनुसार नदी सूक्त में भारत की जिन प्रमुख नदियों का

---

1 दत्त्वा च भिक्षात्रितयं परिव्राड् ब्रह्मचारिणाम् ।
इच्छया च बुद्धो दद्याद्विभवे सत्यवारितम् ॥
इत्येतेऽतिथयः प्रोक्ताः प्रागुक्ता भिक्षवश्च ये ।
चतुरः पूजयित्वैतान्नृप पापात्प्रमुच्यते ॥
अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते ।
स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥
धाता प्रजापतिः शक्रो वह्निर्वसुगणोऽर्यमा ।
प्रविश्यातिथिमेते वै भुञ्जन्तेऽन्नं नरेश्वर ॥ विष्णु पुराण, 3.11.66-69

वर्णन आता है उनमें गंगा जी का प्रथम नाम आता है।[1] गंगा अनादि काल से लेकर हमारी धार्मिक श्रद्धा एवं आस्था की प्रतीक हैं। भारतीय सनातन संस्कृति में गंगा जी का सर्वोच्च स्थान है क्योंकि पवित्र, सदानीरा, आन्तरिक तथा बाह्य शुद्धि के लिये कृतज्ञतापूर्वक इनका आवाह्न किया जाता है।[2]

भगवद्गीता के अनुसार भी गंगा जी को श्रेष्ठ माना है क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं गीता जी के माध्यम से कहते हैं कि मैं स्वयं नदियों में गंगा हूँ।[3] अर्थात् भारतीय संस्कृति में गंगा वैदिक काल से लेकर आज तक अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है क्योंकि आज भी हर भारतीय अपने प्राणों की मुक्ति के बाद अपनी अस्थियों का विसर्जन गंगा जी के पावन जल में करने की कामना रखता है। अतः भारतीयों का जन्म-मरण गंगामय है। प्रत्येक धार्मिक कर्मकाण्ड की पूर्ति गंगाजल से ही होती है। इनकी गाथा भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता की पुण्यमयी गाथा है। सनातनधर्मी भारतीयों में गंगा के प्रति अटूट श्रद्धा तथा विश्वास अभी भी पहले की तरह ही है क्योंकि ये मोक्षदायिनी हैं।

---

1 इमं में गंगे यमुने सरस्वती शुतुद्री स्तोमं सचता परुष्ण्या ।
आसिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्य सुषोमया ॥ ऋग्वेद, 10.75.5

2 गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वती ।
नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥ ब्रह्मवैवर्त पुराण, 1.10.67

3 पवनः पर्वतास्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरचास्मि जाह्नवी ॥ भगवद्गीता, 10.31

प्राचीन भारत में लोग आपस में सदा भाईचारे से रहा करते थे[1] इस बात का प्रमाण पुराणों में मिलता है। परलोक की प्राप्ति के लिये सन्तजन तप, यज्ञ तथा आदरपूर्वक दान देते थे[2] जो आज भी समाज में देखने को मिलता है।

भारतीय संस्कृति सदैव कर्मप्रधान रही है, जिसमें मानवीय संवेदना, मानवीय मूल्यों तथा मानव का कल्याण का प्रसार है। कर्मयोग ज्ञानयोग से हजारों गुना प्रशस्त है क्योंकि कर्म से ही ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है अतः वह परमपद है। ब्रह्म भी कर्मज्ञान से उद्भूत होता है। कर्म के बिना ज्ञान का कोई अस्तित्व नहीं है, इसलिये कर्म से ही व्यक्ति अविनाशी तत्त्व को प्राप्त कर सकता है।[3]

पुराणों में अवतारवाद का विस्तृत एवं व्यापक वर्णन प्राप्त होता है। भारतीय संस्कृति अवतारवाद पर विश्वास करती है। जब भी पृथ्वी पर पाप का आधिपत्य होता है, तब ईश्वर का अवतार होता है। वे अपनी शक्ति और सामर्थ्य से संसार के पाप को मिटाकर पुण्य की स्थापना करते हैं जिनका प्रमाण हमें गीता में प्राप्त होता है।

---

1 वसन्ति सहिताः सदा । विष्णु पुराण, 2.3.18

2 तपस्तप्यन्ति मुनयो जुह्वते चात्र यज्विनः ।
दानानि चात्र दीयन्ते परलोकार्थमादरात् ॥ वही, 2.3.20

3 ज्ञानयोगसहस्त्रादि कर्मयोगः प्रशस्यते ।
कर्मयोगोद्भवं ज्ञानं तस्मात् तत्परमं पदम् ॥
कर्मज्ञानोद्भवं ब्रह्म न च ज्ञानमकर्मणः ।
तस्मात् कर्मणियुक्तात्मा तत्त्वमाप्नोतिशाश्वतम् ॥ मत्स्य पुराण, 52.5-7

भगवद्गीता में भगवान् ने स्वयं अर्जुन से कहा है कि जब-जब धर्म का पतन होगा तब-तब मैं स्वयं धर्म को पुनः स्थापित करने के लिये अवतार ग्रहण करूँगा।[1] श्री राम भारतीय संस्कृति के आदर्श हैं। इनके नाम से भारत की विशेष पहचान है। राम जो स्वयं विष्णु जी के अवतार थे उनका जन्म त्रेतायुग में सूर्यवंश में हुआ।[2]

भागवत पुराण के अनुसार भगवान् श्री हरि ने देवताओं के कार्यों को सम्पन्न करने हेतु राजा के रूप में राम अवतार ग्रहण किया तथा लंका में समुद्र पर सेतुबन्धन करके रावणवध आदि बहुत सी लीलायें की जो वीरतापूर्ण हैं जिससे उनकी कीर्ति समस्त लोकों में विख्यात हुई। ऐसे लोकविख्यात छवि वाले सीतापति भगवान् राम सदा-सर्वदा, सर्वत्र विजयी हैं।[3] अर्थात् भगवान् राम भारतीय संस्कृति के सार प्रतीक हैं उनका जीवन आज भी उन लोगों के लिये आदर्श है जो जीवन में कुछ पाने के लिये संघर्ष करते रहते हैं। एक योद्धा के रूप में उन्होंने भारत को उस तरह का प्रशासन दिया जो आज भी भारतीयों के दिलों में एक विशेष स्थान रखना है।

भागवत पुराण के अनुसार भगवान् श्री राम जी ने गुरु वशिष्ठ को अपना आचार्य बनाकर उत्तम सामग्रियों से यज्ञों के द्वारा अपने सर्वदेवस्वरूप स्वयंप्रकाश आत्म यज्ञ किया था। जिसमें उन्होंने होता को पूर्व दिशा, ब्रह्मा को दक्षिण दिशा, अध्वर्यु को पश्चिम दिशा और

---

1 यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतम् ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ श्रीमद्भगवद्गीता, 4.7

2 पुरात्रेतायुगे प्राप्ते वैष्णवांशो रघूद्वहः ।
सूर्यवंशे समुत्पन्नो रामोराजीवलोचनः ॥ स्कन्द पुराण, ब्रह्म खण्ड, 30.1

3 सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिः ॥ भागवत पुराण, 11.5. 21

उद्गाता को उत्तर दिशा दी थी।[1] इनके मध्य जो भूमि बची थी, वह उन्होंने आचार्य को दी थी। जिससे स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण पृथ्वी का एकमात्र अधिकारी निःस्पृहः (निःस्वार्थ सेवक) ब्राह्मण ही हैं। इस प्रकार उन्होंने समस्त भूमण्डल का दान करके वस्त्र तथा आभूषण ही अपने पास रखे थे।[2]

इस प्रकार श्री राम यज्ञ, दान तथा ब्राह्मणों को सर्वोपरि मानने वाले थे। श्री राम के पहले गुरु वशिष्ठ थे। वे गुरु शिरोमणि व ज्ञानशिरोमणि थे। वशिष्ठ ऋषि रघुवंश के लिये गुरु-शिष्य परम्परा के उदाहरण हैं। श्री राम के गुरुओं का ही प्रभाव था कि वे राजा के रूप में रामराज्य का उदाहरण दिया जाता है। अतः भारतीय संस्कृति में गुरु-शिष्य परम्परा के अन्तर्गत गुरु अपने शिष्य को शिक्षा देता है। बाद में वही गुरु-शिष्य परम्परा का क्रम चलता है। यह परम्परा सनातन धर्म की सभी धाराओं में मिलती है।

विष्णु पुराण के अनुसार जम्बूद्वीप में भारतवर्ष को सर्वश्रेष्ठ माना है क्योंकि यह एक कर्मभूमि इसके अतिरिक्त जो देश हैं वो भोग-भूमियाँ हैं।[3] देवता भी स्वयं यही गान करते हैं कि जिन्होंने इस

---

1 भगवानात्मनाऽऽत्मानं राम उत्तमकल्पकैः ।
सर्वदेवमय देवमीज आचार्यवान् मखैः ॥
होत्रेऽददाद् दिशं प्राचीं ब्रह्मणे दक्षिणां प्रभुः ।
अध्वर्यवे प्रतीचीं च उदीचीं सामगाय सः ॥ भागवत पुराण, 9.11.1-2

2 आचार्याय ददौ शेषां यावती भूस्तदन्तरा ।
मन्यमान इदं कृत्स्नं ब्राह्मणोऽर्हति निःस्पृहः ॥
इत्ययं तदलंकारवासोभ्यामवशोषितः । भागवत पुराण, 9.11.3-4

3 अत्रापि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे सदेज्यते ।
यतो हि कर्मभूरेषा ह्यतोऽन्या भोगभूमयः ॥ विष्णु पुराण, 2.3.22

स्वर्ग व मोक्ष के मार्गभूत भारतवर्ष में जन्म लिया है वे मनुष्य देवताओं की अपेक्षा अधिक धन्य हैं[1] क्योंकि जो इस कर्मभूमि में जन्म लेकर फलाकांक्षाओं से रहित होकर केवल कर्मों को परमात्म स्वरूप विष्णु जी को अर्पण कर मानते हैं तथा पाप-पुण्य से रहित होकर उन्हीं में लीन हो जाते हैं।[2] अर्थात् पुराणों में भारतवर्ष की महिमा का गान किया गया है क्योंकि यहाँ देवता भी जन्म लेने को उत्सुक रहते हैं।

आज भी भारतीय संस्कृति में श्री राम जी का निर्मल यश समस्त पापों को नष्ट करने वाला है। उनकी कीर्ति इतनी उज्ज्वल है कि दिशाओं का श्यामल शरीर भी उनकी यश रूपी उज्ज्वलता से चमक उठता है। उनकी इस कीर्ति का गायन बड़े-बड़े ऋषि-मुनि राजाओं की सभा में किया करते थे। स्वर्ग के देवता, पृथ्वी के अधिकारी भी अपने किरीटों (मुकुटों) से उनके चरण कमलों की सेवा किया करते हैं। हम उन्हीं भगवान् राम जो रघुवंश शिरोमणि हैं उनकी शरण ग्रहण करते हैं[3] जो भी मनुष्य अपने कानों से भगवान् राम के चरित्र को सुनते हैं- उन्हें सरलता, कोमलता आदि गुणों की

---

1 गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत भूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गस्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥ वही, 2.3.24

2 कर्माण्यसंकल्पिततत्फलानि संन्यस्य विष्णौ परमात्मभूते ।
अवाप्य तां कर्ममहीमनन्ते तस्मिँल्लयं ये त्वम्लाः प्रयान्ति ॥ वही, 2.3.25

3 यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनापि
गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम् ।
तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्ट
पादाम्बुजं रघुपतिं शरणं शरणं प्रपद्ये ॥ भागवत पुराण, 9.11.21

प्राप्ति होती है। वे समस्त कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। अर्थात् भारतीय संस्कृति राममय है।

**निष्कर्ष:-**

इस शोध पत्र के द्वारा पुराणों में वर्णित भारतीय संस्कृति में 1. राजा पृथु, 2. अतिथि-सत्कार, 3. गंगा, 4. कर्मयोग, 5. अवतारवाद, 6. गुरु-शिष्य परम्परा व 7. भारतवर्ष की गौरव गाथा को बतलाया गया है। वर्तमान समय में पुराणों को बढ़ावा देने हेतु प्रेरित करते हुये महर्षि वेदव्यास जी ने पुराणों के माध्यम से इस लोक को सूर्य की भान्ति प्रकाशित किया है जिससे सब प्राणियों का कल्याण हो तथा भारतीय संस्कृति समृद्ध रहे।

# Sāmmansyāni hymns in the Atharvaveda: prayers for achieving harmony

**Shilpa Sumant**

Deccan College Post Graduate and Research Institute, Pune

**Introduction**:-

The Atharvaveda (AV) is a Veda of common people and deals with the remedies to fulfill their desires. It includes many hymns related to a variety of rites that were useful throughout the life of man. The hymns recited to achieve a particular goal are grouped together. Such groups are Sāmmansyāni (hymns to secure harmony in the family as well in community), Rājakarmāṇi (Hymns pertaining to Royalty), Nirṛtikarmāṇi (hymns to ward off evil spirits), Pauṣṭikāni (Prayers to secure prosperity in house, field, cattle, business, gambling, etc..), Bhaiṣajyāni (hymns for cure of diseases), Srīkarmāṇi (hymns pertaining to women), Āyuṣyāṇi (prayers for long life), Ābhicārikāni (hymns for witchcraft), Svastyayanāni (hymns for safe journey), and so on.

The present paper aims to study the Sāmmansyāni hymns in the AV. The mantras aim secure harmony in the family as well in community and these prayers are relevant even today.

**About the word *sāmmansya*:-**

The word *sāmmansya* may be explained as follows. The prefix *saṁ* means together and attached to the word *manas* means together with mind, having one mind or united. The word *sāmmanasya* means togetherness, concord, harmony. The words *sammanas* or *sāmmansya* invariably occur in these hymns. The hymns are for securing harmony amongst various groups in the society and families. Vedic people were very determined to bring about concord or remove discord for the peaceful sociallife.

**The Sāmmansya group of hymns in the Atharvaveda and their purpose**

The hymns for harmony are designated as Sāmmansya hymns. This group according to KauśS 12.5 contains following hymns and the mantras ŚS 3.30, 5.1.5, 6.64, 6.73, 6.74, 6.94 and 7.52.

**The study of Sāmmansya hymns:-**

The Sāmmanasya hymns are for securing harmony amongst various groups in the society and families. Vedic people were very determined to bring about concord or remove discord for the peaceful sociallife. AV 3.30, 6.64, 6.73-74 may be mentioned here in this connection.

The hymn AV 3.30 speaks of harmony in the family. The verses of this hymn say: अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्॥ मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया. (AV 3.30.2-3) "The son shall be devoted to his father, be of the same mind with his mother; the wife shall speak honeyed, sweet words to her husband. The brother shall not hate the brother, and the sister not the sister. Harmonious, devoted to the same purpose, speak you words in kindly spirit." This prayer shows the expectation from the family members towards each other, whichleads to happy family life. The thoughts in the hymn are noble and the belief is that the recitation of the hymn will bring the desired effect.

In the hymns AV 6.73 and 74, various gods such as Varuṇa, Soma, Agni, Vasus, Brahmaṇaspati, Bhaga are invoked to bring about accord among people.

AV 7.52 is a charm against disagreement and bloodshed. In this hymn we find the concept of Indra's day, probably meaning the day of the battle. Here, it is said that may no arrow fall on this day. The verse says: सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन। मा घोषा उत्स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते. "May we agree in mind and thought, may we not struggle with one another, in a sprit

displeasing to the gods! May not the sound of frequent battle-carnage arise, may the arrow not fly when the day of Indra has arrived." Actually, the wish is that the day of battle shall never arise where there are the sounds of battle drums and throwing of weapons from the two fighting sides. The prayer shows that Vedic people, though engaged in battles themselves, were at times desirous peace and were against the evils of war.

In the AV, we see two charms to appease anger. They are 6.42 and 43. The first hymn says that अव॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नो म॒न्युं त॑नोमि ते हृ॒दः। यथा॒ संम॑नसौ भू॒त्वा सखा॑याविव॒ सचा॑वहै. "like a bow string from bow, I take off anger from your mind. Having become of same mind, we shall associatelike friends." अ॒धस्ते॒ अश्म॑नो म॒न्युमुपा॑स्यामसि॒ यो गुरुः. I cast your anger under the big stone. Thelast verse says that अ॒भि ति॑ष्ठामि ते म॒न्युं पाष्ण्र्या॒ प्रप॑दे॒न च. "I step upon your anger with my heel and fore-foot." In the act of appeasing the anger of a person, the hymn is recited and as per the description in the verses, a stone is brought and is kept with the recitation. The person who desires to appease spits around that stone and stands in the shadow of the wrathful person while laying the arrow on the bow. The symbolic use of bow in this act is probably because of its mention in the first verse of the hymn.

AV 6.43 is addressed to the *darbha* grass. The *darbha* grass is addressed as *vimanyuka*, appeaser of wrath.

**Conclusion:-**

In the today's world, while we are facing war-like situations, cold-wars, social unrest, it is very important to turn our attention back to Vedas, especially, to the AV, which stores many mantras and hymns containing the thoughts of harmony in a family, bringing about social accord, remove the reasons of discord, removal of wrath and so on.

**Abbreviations and Bibliography:-**

AV= Atharvaveda

*Atharvaveda (Śaunaka) with the Pada-pāṭha and*

*Sāyaṇācārya's Commentary Edited and Annotated with Text-comparative Data from Original Manuscripts and other Vedic Works* by Vishva Bandhu. 4 Vols. Hoshiarpur: Vishweshwaranand Vedic Research Institute, 1960–62.

Kauśikasūtra= KauśS

*The Kauśikasūtra of Atharvaveda with Extracts from the Commentaries of Dārila and Keśava* edited by Maurice Bloomfield. In: *Journal of the American Oriental Society* 14: i–424. (Reprint (1972) Delhi: Motilal Banarasidass.1890 (1972)).

# भाषा और महाकवि भास के नाटकों में संस्कृति

**शिल्पी प्रसाद**
गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर (पंजाब )

भाषा और संस्कृति में गहरा संबंध है। भाषा मनुष्य के विकास में सहायक रही है। भाषा चाहे कोई भी हो सबका अपना विशेष महत्व है। भाषा के माध्यम से ही हमें पूर्वजों के अनुभव प्राप्त हुए हैं। शास्त्रों से हमें जितना लाभ प्राप्त होता है वह सब भाषा का ही परिणाम है। महाकवि दण्डी के शब्दों में:-

इदमन्धतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।

यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।[1]

अर्थात् यह सम्पूर्ण भुवन अन्धकारपूर्ण हो जाता यदि संसार में शब्द-स्वरूप ज्योति(भाषा) का प्रकाश न होता। भाषा के माध्यम से ही हम मनुष्य के मनोभावों को जान सकते हैं। पशु-पक्षियों की अलग भाषा होती है जिनके द्वारा वे आपस में बातचीत करते हैं। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य संस्कृत भाषा में निबद्ध है। इसे देववाणी भी कहा गया है। संस्कृत भाषा सभी भाषाओं की जननी है। भाषा के माध्यम विचारों को बोलकर या लिखकर प्रकट किया जाता है। कवि कृति की रचना करने से पहले देववाणी को नमस्कार करते हैं यथा:-

इदं कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमोवाकं प्रशास्महे।

विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्।।[2]

पहले कवियों को नमस्कार करके प्रार्थना करते हैं कि हम परमात्मा की अंशभूता, अविनश्वर, देवरूपिणी वाणी को प्राप्त करें। हमारी संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग भाषा है। संस्कृति किसी भी देश की आत्मा होती है। संस्कृति की संरचना साहित्य, भाषा, वेश-भूषा, परम्पराएं, पूजा-पद्धति एवं पर्व आदि से मिलकर होती है। कला, संगीत, साहित्य, विज्ञान, शिल्प, धर्म, दर्शन आदि किसी भी देश की संस्कृति को प्रकट करते हैं। संस्कृत के कवियों ने अपनी कृतियों में संस्कृति का वर्णन किया है। इनमें से महाकवि भास भी है जिन्होने अपने नाटकों में संस्कृति का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है:-

1. धर्म की प्रधानता:- महाकवि भास द्वारा वर्णित संस्कृति में धर्म का स्थान सर्वोपरि है। धर्म का अर्थ यहां मनुष्य के कर्तव्य कर्म से है। मनुस्मृति में कहा गया है कि जो व्यक्ति वेदों में कहे धर्मों का पालन करता वह संसार में कीर्ति पाता है-

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।।[3]

कर्णभार नाटक में ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र कर्ण के प्रणाम करने पर उसे दीर्घायु का आशीर्वाद न देकर यषस्वी होने का आशीर्वाद देता है। इस पर सुविचारित बात कहता है-

धर्मोः हि यत्नैः पुरुषेण साध्यो भुजङ्गजिह्वाचपला नृपश्रियः।

तस्मात्प्रजापालनमात्रबुद्धया हतेषु देहेषु गुणा धरन्ते।। [4]

प्रतिमा नाटक में राम पुत्र धर्म का पालन करते हैं। वह अपने पिता की आज्ञा का पालन करते हैं। यथा:-

आरब्धे पटहे स्थिते गुरुजने भद्रासने लङ्घिते।

स्कन्धोच्चारणनम्यमानवदनप्रच्योतितोये घटे।

राज्ञाहूय विसर्जिते मयि जनो धैर्येण मे विस्मितः।

स्वः पुत्रः कुरुते पितुर्यदि वचः कस्तत्र भो! विस्मय?[5]

भारतीय संस्कृति हमें आज्ञाकारी होने का पाठ सिखाती है। इसी नाटक में सीता पतिव्रत धर्म का पालन करती है। महाराज दशरथ जब राम को वनवास जाने की आज्ञा देते हैं तो सीता भी राम के साथ जाने को उद्यत होती है यथा- अतो न खल्वनुगच्छामि।[6] राम लक्ष्मण से सीता को वन जाने के लिए रोकने का आग्रह करते हैं तब लक्ष्मण कहता है कि पतिव्रत धर्म का पालन करने वाली स्त्रियों के लिए पति ही सर्वस्व है। यथा-

अनुचरति शशाङ्कं राहुदोषेऽपि तारा

पतति च वनवृक्षे याति भूमिं लता च

त्यजति न च करेणुः पङ्कलग्नं गजेन्द्रं

व्रजतु चरतु धर्म भर्तृनाथा हि नार्यः।।[7]

मध्यमव्यायोग में कहा गया है- पतिमात्रधर्मिणी पतिव्रतेति नाम।[8] माता की निन्दा करना सदाचार और धर्म के विरुद्ध माना जाता था। धर्म कहता है- माता किल मनुष्याणां देवतानां च दैवतम्।[9] प्रतिमा नाटक में कंचुकी जब राम को बताता है कि उनका अभिषेक माता कैकेयी के कारण रुका है तब राम कहते हैं- अतः परं न मातुः परिवादं श्रोतुमिच्छामि।[10] उस समय बड़ों का सम्मान किया

जाता था यह हमारी संस्कृति को दर्षाती है। भरत सुमन्त्र से देवता समान राम विषय में पूछते हैं कि वह कहां है क्योंकि वे उनके दर्शन करना चाहते थे। यथा-

मम मातुः प्रियं कर्तुं येन लक्ष्मीर्विसर्जिता।

तमहं द्रष्टुमिच्छामि दैवतं परमं मम।। [11]

बड़ों की निन्दा को उचित नहीं समझा जाता था। जब भरत सुमन्त्र से कहता है कि वह राम को सूचित करे कि राज्यलुब्धा कैकेयी का पुत्र आया है तो इस पर सुमन्त्र कहते हैं- कुमार! अलं गुरुजनापवादमभिधातुम्।[12]

2. अतिथि सत्कारः- अतिथि का सत्कार करना हमारी संस्कृति है। तैत्तिरीयोपनिषद् में अतिथि को देवता कहा है- अतिथि देवो भव।[13] सामान्यता अतिथि-सत्कार जल, फल इत्यादि से किया जाता है परन्तु महाकवि भास ने हमें अतिथि सेवा का नया पाठ सिखाया है। अतिथि सत्कार जीवनदान देकर भी किया जाता है। मध्यम व्यायोग में भीम जब ब्राह्मण परिवार को अतिथि सत्कार ग्रहण करने के लिए कहता है तब ब्राह्मण कहता है- कृतमातिथ्यमनेनः जीवितप्रदानेन।[14] प्रतिमा में प्रेमपूर्वक बातचीत को अतिथि सेवा कहा है- वाचानुवृतिः खल्वतिथिसत्कारः।[15]

3. नैतिकता- नैतिकता के मार्ग का अनुसरण करना भारतीय संस्कृति है। महाकवि ने अपने नाटक में नैतिकता का ज्ञान प्रदान किया है-

1. झूठ न बोलना- मनुष्य को कभी झूठ का दामन नहीं

पकड़ना चाहिए। झूठ की अवधि बहुत कम होती है। कर्णभार नाटक में कर्ण ने गुरु से यह झूठ बोल कर विद्या ग्रहण की कि वह ब्राह्मण है, क्षत्रिय नहीं। गुरु केवल ब्राह्मणों को शिक्षा देते थे क्षत्रियों को नहीं1 कर्ण का झूठ बोलना सफल नहीं हुआ। उसका झूठ वज्रमुख नामक कीड़े के कारण गुरु के समक्ष आ गया। यथा-

कृत्ते वज्रमुखेन नाम कृमिणा दैवान्ममोरुद्वये।

निद्राच्छेदभयादसह्यत गुरोधैर्यात्तदा वेदना।।

उत्थाय क्षतजाप्लुतः स सहसा रोषानलोद्दोपितो।

बुद्धा मां च षषापं कालविफलान्यस्त्राणि ते सन्त्विति।। [16]

झूठ बालने का फल कर्ण को यह मिला कि वह गुरु द्वारा सीखी विद्या को आवश्यकता पड़ने पर भूल जाएगा। अतः इससे हमें ज्ञात हुआ कि झूठ का परिणाम अच्छा नहीं होता।

2. गुप्त रहस्य न सुनना:- दूसरों की बातें छिपकर सुनना नैतिकता नहीं है। चारुदत्त नाटक में जब गणिका चेटी को ढूंढती है तो उसकी दृष्टि सज्जलक और चेटी पर पड़ती है सज्जलक चेटी को रहस्य की बात सुनाने को कहता है। इतना सुनते ही गणिका वहां से हट जाने का निर्णय लेती है वह कहती है- अयुक्तं पररहस्यं श्रोतुम्, अहं गमिष्यामि।[17] इससे पता चलता है कि गोपनीय बातें सुनना संस्कृति के विरुद्ध है।

3. दानशीलता- हमारी संस्कृति में दान देने का महत्व है। हमें अपने धन का कुछ भाग दान जैसे पुण्य कर्म में लगाना चाहिए। कर्णभार नाटक में कहा गया है-

शिक्षा क्षयं गच्छति कालपर्ययात्।

सुबद्धमूला निपतन्ति पादपाः।।

जलं जलस्थानगतं च शुष्यति।

हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति।।[18]

कर्ण यह जानता था कि पुण्य का फल अवश्य मिलता है इसलिए वह दान देने से पीछे नहीं हटता।

4. कर्मशील- भारतीय संस्कृति हमें यह सीखाती है कि मनुष्य को कर्मशील होना चाहिए। कर्मशील प्राणी ही शोभा पाता है। भगवद्गीता में कहा गया है-

कर्मण्येवाधिकारास्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। [19]

पंचरात्र नाटक में बृहन्नला ने यह सिद्ध किया कि कर्म से ही मनुष्य की पूजा होती है। बृहन्नला नंपुसक थी जो अपने रूप के कारण अपमानित होती थी। उसने शत्रु संहार का ऐसा प्रशंसनीय कर्म किया जिससे वह आदर का पात्र हो गई। यथा-

अकारणं रूपमकारणं कुलं महत्सु नीचेषु च कर्म शोभते।

इदं हि रूपं परिभूतपूर्वकं तदेव भूयो बहुमानमागतम्।। [20]

5. पतिव्रता नारीः- पतिव्रत धर्म का पालन करना हमारी संस्कृति है। हमारी संस्कृति में नारियां पति की सेवा में तल्लीन रहती है। प्रतिमा नाटक में महाकवि ने सीता जैसी पतिव्रता नारी का चित्रण प्रस्तुत करके भारतीय संस्कृति के प्रति सम्मान की प्रेरणा दी

है। राम के वनवास जाने की बात सुनकर सीता भी उनके साथ चलने को तत्पर हो गई। सीता ने स्वयं को सहधर्मिणी कहकर साथ चलने की बात कही:- ननु सहधर्मचारिणी खल्वहम्। अतो न खल्वनुगच्छामि?[21] पत्नी का धर्म होता है कि वह अपने पति का हर परिस्थिति में साथ दे। स्वप्नवासवदत्ता में अवन्तिका वेष में वासवदत्ता भी पतिव्रता नारी है। वह अपने पति के अतिरिक्त दूसरे पुरुष को देखना उचित नहीं मानती यथा- परपुरुषदर्शनं परिहरत्यार्या।[22] वासवदत्ता दूसरे पुरुष के चरित्र के बारे में भी नहीं सुनना पसंद करती थी- अयुक्तं परपुरुष संकीर्तनं।[23] वासवदत्ता ऐसी नारी थी जिसने अपने पति के हित के लिए सब कुछ त्याग दिया। चारुदत्त नाटक में चारुदत्त की पत्नी ब्राह्मणी पति परायणा नारी के रुप में प्रस्तुत हुई है। ब्राह्मणी को जब पता चलता है कि वसंतसेना की सुवर्णभाण्ड जो कि चारुदत्त के पास धरोहर रखी हुई थी चोरी हो गई है तब वह उसके बदले अपनी शत् सहस्त्रमूल्य वाली मुक्तावली सहर्ष देने को तत्पर हो जाती है:- किन्नु खलु तस्मै जनाय दातव्यं भविष्यति अथवैतद् दास्यामि। हा धिक्! तालीपत्रं खल्वेतत्। स इदानीं परिचयो मां विडम्बयति। किमिदानी करिष्यामि भवतु, दृष्टम्। मम ज्ञातिकुलाद् लब्धा शतसहस्त्रमूल्या मुक्तावली। तामप्यार्यपुत्रः शौटीरतया प्रतीच्छति। भवतु एवं तावत् करिष्यामि।[24]

अंत में यह कहा जा सकता है कि भाषा के बिना महाकवि भास द्वारा वर्णित संस्कृति को नहीं समझा जा सकता।

**सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची:-**

1. काव्यादर्श 1/14
2. उत्तररामचरित 1/1

3. मनुस्मृति 2/12
4. कर्णभार 1/17
5. प्रतिमा 1/5
6. प्रतिमा, प्रथम अंक, पृष्ठ-50
7. प्रतिमा 1/25
8. मध्यम, प्रथम अंक, पृष्ठ-14
9. मध्यम 1/37
10. प्रतिमा, प्रथम अंक, पृष्ठ-42
11. प्रतिमा 4/3
12. प्रतिमा, चतुर्थ अंक, पृष्ठ-126
13. तैत्तिरीयोपनिषद् 1/11/2
14. मध्यम, प्रथम अंक, पृष्ठ-46
15. प्रतिमा, पंचम अंक, पृष्ठ-159
16. कर्णभार 1/10
17. चारुदत्त, चतुर्थ अंक, पृष्ठ-92
18. कर्णभार 1/22
19. भगवद्गीता 2/47
20. पंचरात्र 2/33
21. प्रतिमा, प्रथम अंक, पृष्ठ 50
22. स्वप्नवासवदत्त, प्रथम अंक, पृष्ठ 35
23. स्वप्नवासवदत्त, तृतीय अंक, पृष्ठ- 66
24. चारुदत्त, तृतीय अंक, पृष्ठ

# विष्ववारा वैदिकी संस्कृति : एक विमर्ष

**डॉ0 सूर्यकान्त त्रिपाठी**
सहायक आचार्य
संसकृत एवं प्राकृत भाषा विभाग
दीनदयाल उपाध्याय गोरखपुर विश्वविसालय, गोरखपुर

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति है। इस संस्कृति को सर्वश्रेष्ठ संस्कृति मान जाती है। संस्कृत में संस्कृति शब्द सम उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। संस्कृति शब्द का अभिप्राय प्रबोधित करना अथवा शिक्षित करना है।

हिन्दी भाषा में संस्कृति शब्द की व्युत्पत्ति अंग्रेजी के Culture शब्द से हुई है। जिसका अभिप्राय कर्षण(to cultivate) करना है।

उपर्युक्त विवेचना के आलोक में यह बात कही जा सकती है कि परिमार्जन व्यक्ति का अपना प्रयास है। संस्कृति व्यक्ति के सम्पूर्ण तत्त्वों का समष्टिगत रूप है। के0 एम0 मुंशी के अनुसार "हमारे रहन–सहन के पीछे जो हमारी मानसिक अवस्था है जिसका उद्देश्य हमारे जीवन को परिष्कृत, शुद्ध और पवित्र बनाना है तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति करना है वही संस्कृति है।"[1]

भारतीय संस्कृति के अनेक घटक तत्त्व हैं। इन तत्त्वों को किसी सीमा में नहीं बाँधा जा सकता है। डॉ0 रामजी उपाध्याय ने भारतीय संस्कृति के कुछ तत्त्वों को आरेखित किया है जिसमें सार्वजनिकता, सर्वांगीणता, देवपरायणता, धर्मपरता, आश्रम व्यवसथा, आध्यात्मिकता, कर्मफल तथा आदर्श आदि का उल्लेख हैं। संस्कृति का प्रबल पक्ष है–प्रकृति से आत्मीयता, तालमेल और सामंजसय का भाव।

भारतीय संस्कृति विश्ववारा संस्कृति है– सांस्कृतिः प्रथमा विश्ववारा। भारतीय संस्कृति में प्रकृति और पर्यावरण की अभ्यर्चना का पवित्र भाव सन्निहित है। हमारे साहित्य में अन्तःकरण तथा पर्यावरण के मधुर सम्बन्धों को अनेकशः व्याख्यायित किया गया है। हमारे लोक की अवधारणा अत्यन्त व्यापक है। स्थावर और जंगम सम्पूर्ण जगत् को हम लोक की परिधि में स्वीकार करते हैं। वैदिक ऋषियों को पर्यावरण एवं प्राणियों के मध्य अन्तःसम्बन्धों का स्पष्ट ज्ञान था यही कारण है कि मानव जाति के इतिहास के साथ ही साथ पर्यावरण संरक्षण की अवधारणा भी विकसित हुई।

मत्सयपुराण में भृगु, अत्रि, वशिष्ठ, विशालाक्ष तथा गर्ग आदि 18

मनीषियों का उल्लेख मिलता है जो पर्यावरण तथा प्राणियों के अन्तःसम्बन्धों के गम्भीर गवेषक थे। जैसा कि मैंने पहले ही कहा है कि हमारी लोक की अवधारणा अत्यन्त व्यापक है। भगवान् श्री कृष्ण ने गोवर्धन पूजा के माध्यमसे इस महनीय चिन्तन को उपन्यसत किया है।

भारतीय संस्कृति में वृक्ष एवं वनस्पतियों का अति महत्वपूर्ण स्थान है। समस्त धार्मिक अनुष्ठानों में इनको अत्यन्त महत्त्व दिया जाता है। अश्वत्थ (पीपल) को हमारे यहाँ पवित्र वृक्ष माना गया है। तुलसी की पवित्रता सहज रूप से देखी जा सकती है। विल्वपत्र को भगवान् शिव की पूजा में विशेष रूपसे प्रयोग किया जाता है।

हमने नदियों को जीवन प्रदायिनी माना है। न केवल भारत की अपितु विश्व की अनेक संस्कृतियाँ नदियों के किनारे ही बसी। आदिकाल में नदियाँ ही हमारा मार्ग होती थी। वर्जनाहीन समाज और सतत पतनोन्मुखी जीवनचर्या में भले ही मूल्य बदल गए हो पर हमारी पुरातन संस्कृति में सरिताओं, कुओं, तालाबों, तथा पोखरों में मल–मूत्र सर्वथा वर्जित रहा है–

**नात्सु मूत्रं पुरीषं वा ष्ठीवनं वासमुत्सृजेत्।**
**अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणि वा ।।**[2]

अर्थात् पानी में मल–मूत्र थूक अथवा अन्य दूषित पदार्थ रक्त या विष का विसर्जन न करें।

वैदिक ऋषि जल की पवित्रता की भी बात करते है–

**शुद्धा न आपसतन्वे क्षरन्तु ।**[3]

जल की शुद्धता नितान्त आवश्यक है। आज गंगा, यमुना, आदि नदियों की शुद्धता के लिए अनेक अभियान चलाए जा रहे हैं। इसकी संचेतना कहीं न कहीं हमें वेदों से मिलती है। राजा भगीरथ के पूर्वजों का पाप धोने वाली गंगा शहरों का मल और फैक्ट्री कारखानों का प्रदूषण धोते–धोते इस तरह दूषित हो चुकी है कि आज वह पीने तो क्या नहाने के योग्य भी नहीं रही।

वैदिक ऋषिसपष्ट कहते है कि जल में अमृत तत्त्व का वास है –

**अप्सवन्तरमृतमप्सु भेषजम्।**[4]

शतपथ ब्रह्मण में तो जल को साफ तौर पर प्राण रूप कहा गया है –

**आपो वै प्राणाः।**[5]

इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में संदर्भित है –

**अमृतं का एतदसिमन् लोके यदापः।**[6]

प्रकृति ने जिन साधनों को प्रदान किया है, उसमें जल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जल से ही संसार की उत्पत्ति होती है और जल में ही संसार समाहित हो जाता है।

इस प्रकार जल की महत्ता के परिज्ञान के बाद भी आज हम जलसंरक्षण के प्रतिसचेष्ट नहीं है।

आज विश्व के समक्ष सांस्कृतिक प्रदूषण एक विकराल समस्या के रूप में दृष्टिगोचर हो रहा है। हमारे वेदों में पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक, तथा धार्मिक जीवन में सामंजस्य स्थापित करने की प्रबल कामना दृष्टिगोचर होती है। इन सूत्रों को सांमनस्य, संवनन, संमनस्, सौमनस एवं संज्ञान आदि नामोंसे कहा गया है। वैदिक ऋषि कहते है–

**समानो मन्त्रःसमितिःसमानीसमानं व्रतंसह चित्तमेषाम् ।**

अर्थात् आप सभी के विचार मन, बुद्धि, चित्त तथा व्रतसमान हों। आगे ऋषि कहते है–

**समानी व आकूतिःसमाना हृदयानि वः।**
**समानमसतु वो मनो यथा वःसुसहासति।**[7]

अर्थात् तुम्हारे हृदय एक समान हो, तुम्हारे मन एक जैसे हों, तुम्हारे संकल्प एक जैसे हों ताकि तुम संगठित होकर कार्य सम्पादित कर सको।

अथर्ववेद में विसमानसौमनसयसूक्त में इस विचारधारा का चरम निदर्शन होता है। इनसूक्तों में पिता–पुत्र, पति–पत्नी, भाई तथा भाई के बीच सामंजस्य पर जोर दिया गया है–

**अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतुसंमनाः।**
**जाया पत्ये मधुमतीं वाचंवदतु शन्तिवाम्।।**[8]

भाई–भाई से विद्वेष न करे। बहन–बहन से विद्वेष न करे। वैदिक ऋषि कहते है–

**मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् यासवसारमुतसवसा ।**
**सम्यञ्चःसव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।।**[9]

एतदतिरिक्त अथर्ववेद में जीवन को सुखमय बनाने के लिए इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट के परिहार की बात की गयी है।

आज कोरोनाकाल में कृषि ने अर्थव्यवसथा को अत्यन्तसंबल प्रदान किया। वैदिक ऋषि उत्तम कृषि के सन्दर्भ में कहते है–

**शुनं वाहा शुनं नरः शुनं कृषतु लांगलम्।**[10]

सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य सार्वभौमिक सार्वकालिक एवं सार्वजनिक

चिन्तन से अनुप्राणित है। आज कोरोना से न केवल भारत देश अपितु सम्पूर्ण विश्व आक्रान्त है। मनुष्य के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण है–जीवन रक्षण। कोरोना संक्रमण के अनेक कारण कहे जा रहे हैं, परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण कारण हमारी भोगवादी दृष्टि रही है।

आज हम प्रकृति का उपभोग नहीं अपितु भोग कर रहे हैं। भारतीय संस्कृति ने प्रकृति पर विजय की भाषा का प्रयोग न कर, सहयोग और मित्रवत् भाषा का प्रयोग किया है। आज का विज्ञान प्रलाप करता है कि उसने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर ली है। विज्ञान के भोगवादी चिन्तन के कारण प्रकृति और उसके पर्यावरण घटक तत्त्वों का अन्धाधुन्ध प्रयोग किया जा रहा है। यही कारण है कि मनुष्य और प्रकृति के मध्य का सामंजस्य तिरोहित होता जा रहा है। प्रकृति के अन्धाधुन्ध दोहनसे ही कोरोना जैसे संक्रमण से सम्पूर्ण विश्व आक्रान्त हुआ।

यदि हम सबको सुरक्षित रहना है तो भारतीय संस्कृति के आधार पर त्यागपूर्वक भोग के सिद्धान्त को स्वीकार करना होगा। कण–कण में चेतनता को स्वीकार करना होगा।

**सन्दर्भ–ग्रन्थ–सूची–**

1. भारतीय संस्कृति पृष्ठ 1
2. मनुसमृति 4/56
3. ऋग्वेद 10/137/2
4. अथर्ववेद 1/1/14
5. एतेरेय ब्राह्मण 8/20
6. शतपथ ब्राह्मण 3/8/2/4
7. अथर्ववेद 6/64/3
8. अथर्ववेद 3/30/2
9. अथर्ववेद 3/30/3
10. अथर्ववेद 3/17/6

:

# श्रुति-साहित्य में रूप-दर्शन की परिकल्पना

**डॉ. विनोद चौधरी**
अतिथि व्याख्याता, संस्कृत
एस.एम. कॉलेज, भागलपुर
तिलकामाँझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

रूप समान्यतः नेत्र का विषय है। यह वस्तु विशेष का समन्वित आभास है। यह द्रष्ट्रा के चित्र पर अंकित कोई आन्तर छवि है, जो बाह्यतः प्रकट होने की बाट जोहता है। रूप की कलागत अभिव्यक्ति सौन्दर्य है। यदि रूप है, तो कोई रूपी है जिसका आभास हमारी दृष्टि में प्रतिबिम्बित होता है। रूपी का स्वरूप कोई चित् तत्त्व है, जो स्वयं में पूर्ण और अपने अंशों की क्रियाशीलता का केन्द्र है। वेद विश्व का निसंदेह आदि वाङ्मय रूप है। छंद में उद्गीत यह स्फुरित काव्य है। विविध विज्ञान दर्शन का बीजभूत रूप इसमें विद्यमान है। रूप परिकल्पना का यत्र-तत्र भास्वर निदर्शन यहाँ उपलब्ध है। सीमा से निःसीमता की ओर, रूप से अरूप की कल्पना का जन्म होता है। अरूप में, निःसीम सीमा में, लय-छन्द में और वायु गंध में बाँधने के लिए विकल है। बंधनमुक्ति की यह आकुलता कला में मूर्त्त होकर शाश्वत होती है। सुन्दर, रूपी का रूप है। इसकी बहिरंग सत्ता रूप और अन्तरंग स्वरूप है। स्वरूप का बाह्य प्रकटन नहीं हो पाता। कांट के शब्दों में यह स्वयं में निहित वस्तु (थिंग इन इटसेल्फ) है, किसी चीज की बाहरी झलक मिलती है भीतरी अदृश्य रहती है। अतएव यह स्वयं में लीन अकथनीय तत्त्व है। वृक्ष के स्कंध, पत्र आदि दीखते हैं, किन्तु उसमें प्रवाहित प्राण, प्राण से सूक्ष्म चेतना किन्तु

आत्मा, सूक्ष्माति सूक्ष्म है। जैसे- अग्नि भुवन में प्रविष्ट होकर रूप-रूप का प्रतिरूप होता है उसी तरह आत्मा सभी भूतों में अन्तर्व्याप्त है। जगत् के रूप-रूप प्रतिरूप होकर अवस्थित है।[1]

**कूटशब्द:-** रूप, रूपी, द्रष्टा, चित्तत्व, दृश्यमान प्रपंच, मूर्त्त-अमूर्त्त, मर्त्य- अमृत, यत्, सत्, त्यत्, नेति-नेति।

**विधि:-** लघु शोध आलेख, मौलिक, तथ्यपरक, विश्लेषणात्मक समन्वयात्मक एवं सुसंगठित है। लघु होते हुए भी विधायक पद्धति में आलेख सर्वाङीण है।

**भूमिका:-** काव्य एक संरचना है, इसका रूप समनिष्ठ है। यह स्वयं में पूर्ण है, इस पूर्ण मै अनेकशः अवयव, अंश या उपादान एक दूसरे से अंतः सम्बन्धित होकर सतत सक्रिय एवं प्रगतिशील रहते हैं। रूप सृजन के वे आधारभूत अवयव जो मनः उर्जा की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप एक साम्यावस्था में स्थापित्व होकर उसे पूर्णत्व प्रदान करते हैं।[2] वे प्रकृति दृश्य प्रपंच के अगिणत रूपों का प्रतिक्षण नव-नव निर्माण करती है, इसके अन्तर्गत निश्चय ही कोई शक्ति है जिसकी प्रेरणा से वह क्रियाशील है। कवि की सिसृक्षा से अनुप्रेरित होकर कल्पना द्वारा रूप एवं बिम्ब का निर्माण करता है। चित्र में रूप का प्रत्यंकन अवबोधन (पर्सेप्शन) क्रिया द्वारा सम्पादित होता है। यह रूप विशेष का चयन, ग्रहण और मूर्ति विधान करती है। इसका स्थिरीकृत रूप बोध है।

रूप स्थिति मूलक नहीं, विकसनशील तत्त्व है। यह आवयविक जीवंत ईकाई है। इसके अव्यव विकास की दिशा में गतिशील रहते हैं। रूप का रूपान्तरण द्रष्टा के चित्तगत भाव में होता

है। भाव की कल्पनात्मक व्यंजना रूप सौन्दर्य बोध है। पूर्ण से एकीकृत होने के पूर्व रूप की स्थिति की संज्ञा रूपण (कैन फिगरेशन) है। निश्चय ही रूप के अनेक अवयवों की अंतः सम्बन्धित वह स्थिति है, जहाँ बलों की क्रिया-प्रतिक्रिया से संरूपण प्राग् का अर्विभात होता है। यह स्वयं में एक ग्राम या निकाय है।

द्रष्टा के रूप का अवलोकन दो प्रकार से होता है। किसी परिपूरित संरूपण (कैन फिगरेशन) का चाक्षुष परिज्ञान जिसमें वस्तु का पूर्णत्व अनेकथः अशों पर प्रभुख स्थापित किये रहता है, मेक्साल्टे दृष्टि है। इसमें रूप के प्रचूरतः अंगों पर व्यक्ति का ध्यान तिलभर नहीं टिक पाता है। वह उसका दर्शन अखंडनः समग्रतः करता है। अंश की व्यक्तिगत सत्ता से मुक्ति यह मनोविज्ञान का सिद्धान्त है। इसके विपरीत दूसरी दृष्टि है मँजाइक जो रूप के अर्थो का अविच्छन्तः भिन्नतः अवलोकन करती है।

काव्य का वैज्ञानिक विश्लेषण और रूप का प्रयोग विभिन्न विद्या शाखाओं में भिन्न प्रकार से होता है। संरचना (स्ट्रक्चर), संबंधों की प्रणाली (सिस्टम और रिलेशन्स), व्यस्थित ग्राम (आर्गनइज्ड ऑव रिलेशन्स) रूपांतरण (ट्रांसफॉरमेशन) है, स्पष्टतः प्रकृति या पदार्थ का कोई रूप है, उसके अनेकशः अंशों में एक व्यवस्था है, एक श्रृंखला है, यह रूप पदार्थ-विशेष के अंगो में भिन्नतः परन्तु अंगी (आर्गनिज्म) में समग्रतः प्रतिभासित होता है।

प्रकृति या पदार्थ के विश्लेषण की दो वैज्ञानिक प्रणालियाँ हैं. - परमाणु मूलक और रूपमूलकl इनमें पूर्व के प्रवर्तक डेमोक्रीट्ब और अपर के प्लेटो एक अरस्तुl अरस्तु आकृति शेप या रूप (फोर्म) को

भी प्रकृति कहते हैं।[3]

अरस्तु ने घोषित किया कि प्रकृति का अवश्य ही कोई रूप है अतएव इसका विज्ञान रूप प्रधान है रूप की सत्ता देशगत है जिसके दो भेद है। बाह्य एवं आन्तरl आन्तर रूप संरचना में आकृति में निर्मित होता है। रूप निर्माण में विभिन्न तत्वों रूपान्तरण की प्रक्रिया सतत् चलती रहती है। वास्तव में काव्य भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है।[4] रूप रूप किसी वस्तु का होता है, रूपी माध्यम से अभिव्यक्त होता है। रुपी कोई वस्तु है और रूप उसकी व्यंजनाl रूप की कार्य प्रणाली के तीन रूप है. यांत्रिक, आवयविक और अमूर्तl क्रौंचे ने अभिव्यक्ति की सफलता को सुन्दर और उसकी, असफलता की कुरूप कहा है।[5] प्लेटो ने आइडिया या प्रत्यय को मूलतत्व स्वीकार किया है। यह प्रथमतः ईश्वर के मानस में तब प्रकृति में अन्ततः वह अनुकृत रूप कला में व्यक्त होता है हिगेल ने जी कला में प्रत्यन के संप्रकायन को स्वीकार किया है।[6]

**विषय प्रवेश -**

वेद-वाक दैवी वाक् है। यह वाकू मानव की उत्पत्ति से बहुत पूर्व अन्तरिक्षस्थ तथा धुलोकस्थ देश और ऋषियों अर्थात् ईश्वर की भौतिक विभूतियाँ द्वारा प्रकट हो, चुकी थी। ओम्, अथ, व्याहतियां और हिरण्यगर्भ आदि से तन्मात्रारूप वागिन्द्रय द्वारा उचारे जा चुके थेl यह वाक् क्षीण नहीं हुई, परम व्योम आकाश में स्थिर रहीl मानव सृष्टि के प्रारंभ के जब ऋषियों ने आदि शरीर धारण किए तो वह दैवी वाक् ईश्वर प्रेरणा से उनमें प्रविष्ट हुई। उसे उन्होंने सुना इस कारण वेद का एक नाम श्रुति है।[7]

श्रुति साहित्य देशकाल का अतिक्रमण कर सार्वभौमिक रूप से सर्वत्र वेदित है। यह ज्ञान का अक्षय कोश एवं उत्तम-विचारों का नित्य नवीन आगार है। विविध-विज्ञान दर्शन का बीजभूत रूप इसमें विद्यमान है। रूप- कल्पना का यंत्र-तंत्र भास्वर निदर्शन यहाँ उपलब्ध है।

वेदों में रूप के विभिन्न अर्थ और इसके पर्यायवाची शब्दों का संकलन है। रूप किसी सारभूत तत्त्व की अभिव्यक्ति है। सत् सृष्टि का आधारभूत तत्त्व है, जो गोचर नहीं अव्यक्त है। इसकी सत्ता स्फुरण ओर व्यक्त रूप है। तैत्तिरीय उपनिषद[8] के अनुसार यह दृश्यमान प्रंपच पहले अव्यक्त रूप में विद्यमान था, किन्तु जिस तत्त्व से इसके जन्मादि होते हैं, वह कारण ब्रह्म तो सत् ही है। अतः व्यक्त रूप का कारण अव्यक्त सत् है। सत् की गोचर अभिव्यक्ति रूप है। सत् 'अस्ति' है। अस्ति के अस्तित्व का संमूर्त्तन रूप है। 'भू' धातु मात्र सत्ता है। प्रत्यय लगते ही यह भवति, भवतः आदि रूपों में प्रकाशित होता है। 'भू' के मूर्त्त रूप या भूत का अधिष्ठान भुवन (भवन्नि अस्मिन् भूतानि) है। भूत व्यापक अर्थ में पदार्थ, प्राणी और तत्त्व का वाचक है।

रूप नेत्र का विषय है। इसलिए यह समस्त दृश्य प्रपंच रूप जगत् है। इसके स्पष्टः दो प्रकार हैं सामान्य एवं विशेष। मृतिका और जल अपने-अपने सूक्ष्म तत्त्व का व्यक्त सामान्य रूप है। किन्तु घट और हिमखण्ड उनके विशेष रूप हैं। सामान्य द्रव्य का कोई अंश जब किसी वस्तु के साँचे में ढलता है तो वह रूप विशेष होता है। स्वर्ण से निर्मित कुण्डल का कंगण विशिष्ट आकृति ग्रहण करता है। इसका

प्रथम रूप सामान्य और द्वितीय विशेष है। यह बहुशः रूपों में अभिव्यक्त होता है। प्रथम रूप इसका कारण और द्वितीय कार्य है। कालक्रम में दूसरा विगलित होकर पहले में समा जाता है। अतः श्रुति का वचन है; मृतिका ही सत्य है घट नहीं, सुवर्ण ही सत्य है, कुंडल नहीं। यह रूप का परमार्थिक निरूपण है। व्यवहारिक दृष्ट्या तो वे सत्य हैं ही। सभी जीवंत रूपों का सत्यप्राण है, और प्राण का सत्य आत्मा है, क्योंकि यह सत्यस्य सत्यम् है। ऋग्वेद के कुछ दृष्टान्त उद्धृत किये जाते हैं।

वे (मरूद्गण) अपने सामसूक्तों सहित वास्तव में मानो अंगिरस (मंत्र द्रष्टा ऋषि या अग्निदेव हैं, जो अनेक रूप धारण करते हैं। मरूत देवता सामसूक्त का उद्गान करते हुए बहते रहते हैं। पृथिवी और अन्तरिक्ष में वे अनेकशः रूप धारण करते हैं। भरूत का बोध स्पर्श द्वारा होता है। यह ब्रह्म का अमूर्त्त रूप है।[9] ऋग्वेद में उल्लेखित हैं- वह (सोम देवता) ऋक् के वक्ताओं के साथ सब रूपों को चारों ओर से घेरता है। सोम, रस की धारा के सदृश शुभ्र, पवित्र और दीप्तिमान है। वह अपनी आनंद धारा से जगत् की सभी रूपवान् वस्तुओं को सभी ओर से आवृत्त करता है। रूप सूख कर मुरझा जायेगा यदि वह रस (आनंद) से परिवेष्टित न हो) इसके कण-कण में रस है, अथवा यह स्वतः उसमें रूपान्तरित होता है। तो सोम विश्व रूप को अक्षय रस से आवृत्त करता है।[10] ऋग्वेद वह (इन्द्रदेवता) दुहनेवाले के लिये अतीव दुधार गुरू है। यह सर्व (पूर्ण) रूप का निर्माता है।

द्यावा पृथिवी में समस्त रूपों का निर्माता वह परमात्मा है। वह हमारा परमप्रिय है। अपनी समृद्धि के लिए हम उसे प्रतिदिन पुकारते

हैं। यहाँ इन्द्र (ब्रह्म) रूप का स्रष्टा है। इसका कारण माया है।[11]

ऋग्वेद[12] वह स्रष्टा (कवि) सभी रूपों को स्वयं धारण करता है। यह सृष्टि सभी रूपों के साथ उसमें अव्यक्त भाव से निहित है। उर्णनाभ अपने उदर से सूत निकालता है और फिर उसे समेट लेता है। इस प्रकार ब्रह्म की सृष्टि का निमित्तोपादान कारण है। अपनी इच्छा से वह स्वतः अभिव्यक्त होता है।

ऋग्वेद[13] में कहा गया है:- जब विपरीत रूपवाली दो उषायें उससे उन्मुक्त होती हैं, तब वह सूर्य दिनों के अग्रभाग में श्वेत अश्व के रूप में उत्पन्न होता है।

प्रकाश और अन्धकार की ओर उन्मुख दोने वाली उषा एवं संध्या अन्यान्य विपरीत है। यहाँ रूप प्रतिपक्ष विरूप का आख्यान किया गया है। सो, द्वन्द्वात्मक भाव द्रष्टव्य है। उज्ज्वल अश्व के रूप में गतिमान सूर्य की कल्पना भव्य है।

ऋग्वेद[14] में वर्णित है:- अनेक रथोंवाला अर्यमा (पितृगण के प्रधान) अक्षत मार्ग वाला है। यह विविध रूपों वाले जन्मों से यज्ञ के सप्त-विध होता की तरह निवास करता है।

मनुष्य की अनेक योनियों में उसके जन्म के साथ सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहकर, यज्ञ के होता की तरह वह उसका हित साधन करता है। ऋग्वेद[15] में कहा गया है सत्य से प्रादुर्भूत स्थावर और जंगम स्वरूप जिस अग्नि को विभिन्न रूपों वाली अनेक रात्रियों ने संवर्धित किया है। अग्नि अंगार के रूप में स्थितिशील एवं शिखा के रूप में वह गत्यात्मक है। रात्रि के अंधकार में उसकी ज्योति सुतीव्र होती है। निशा के अनेक रूपों में क्रिया की निरंतरता इसका वैशिष्ट्य है। जैसे-

कुहरा (नभ!) रूप को धुँधला कर देता है, वैसे ही बुढ़ापा हमें क्षीण कर देता है। हम पर उसका आधात पड़ने से पूर्व, हे अग्ने, तू आ पहुँच। सूर्य के स्वर्णाभ रूप को कुहरा और यौवन के भास्कर रूप को बुढ़ापा नष्ट प्राय कर देता है। यहाँ रूप से कान्ति या दीप्ति का भास होता है।[16]

उस (परमात्मा) ने रात्रि और उषा को भिन्न रूपों वाली बनाया। और, काले तथा लाल रंग को संयुक कर दिया। यहाँ रूप के साथ वर्ण का उल्लेख ध्यातव्य है। दो विरोधी वर्णों की एक में अन्विवति सुन्दर है। वाद-प्रतिवाद की परिणति संवाद में होना स्वाभाविक है। सूर्य की किरणों में सात रंगों का मेल है। ये विभिन्न होते हुए भी अंततः एक है।[17]

तो फिर वे (भूरी गौएँ या ज्ञान राश्मियाँ) संवर्धित होती हैं और दिव्य अवस्था को प्राप्त करती हैं। संयुक्त होकर (सचा) वे माता-पिता के लिए दूसरे रूप (वर्पः) का निर्माण करती हैं। दिव्य ज्ञान, दिव्य रूप का निर्माण करता है।[18] अग्निदेव उसकी अंधकारमय स्थूलसत्ता तथा उसके प्रकाशमय (महिवर्पः) का निर्माण करते हैं।[19]

**उपनिषद् की रूप अवधारणा:-**

अन्तः प्रज्ञा द्वारा वस्तुरूप का सह्ज ज्ञान एक प्रकार का बोध है और अनुभावन द्वारा उसका स्थिरीकृत रूप भावना या धारणा है। वेद में रूप का बोध और उपनिषद् में उसकी भावना है। प्रथम में दृष्टिगत भाव और द्वितीय में चिन्तनगत प्रत्यय की प्रधानता है। किन्तु, कोई भाव प्रत्यय विहीन नहीं और कोई प्रत्यय मूलतः या आद्यतः, भावरहित नहीं। दोनों वास्तव में एक ही मनः उर्जा के

विभिन्न रूप हैं। वेद् का बीजभूत अंकुरित सत्य उपनिषद् में यदा कदा, रूपक, आख्यायिका, दृष्टान्त और संवाद द्वारा पल्लवित होता है, प्रथम का सत्य द्वितीय के लिए संश्लिष्ट दर्शन है। हमारे षड्दर्शन के सूत्र प्रायशः उपनिषदों में निहित हैं। इनसे कहीं-कहीं रूप के साथ नाम का भी विवेचन किया गया है।

रूप का आन्तर तत्त्व स्वरूप है। द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थिति योगदर्शन का विषय है। निराकार, निर्गुण ब्रह्म तप के द्वारा उपचय को प्राप्त होता है।[20] उपचय का आशय राशिभूत स्थूलता से है। बीज अंकुर रूप में उपचय को प्राप्त होता है। सृष्टि की कामना से वह तप द्वारा स्थूलता (रूपत्व) को प्राप्त होता है। रूप का प्रकाशन तपः क्रिया के माध्यम से होता है। तब निराकार साकार रूप ग्रहण करता है। उपचय का अर्थ, शांकरभाष्य के अनुसार हर्ष से उल्लसित होना है। पुत्र उत्पन्न करने के क्षण में पिता हर्ष से प्रफुल्लित होता है। रूप दृष्टि के मूल में मनः उर्जा का उर्ध्वगमन, हर्ष का उल्लेसित रूप है।

रूप गुण है, किसी रूपवान् या रूपी का। यह द्यावपृथिवी अनेकशः वस्तुओं से आपूरित है। परन्तु कोई एक तत्त्व या सत्ता है जो विश्व के प्रत्येक रूप के अन्तर में तत्त्वतः विद्यमान है। उस एक में यह अनेक अनुस्यूत है। यह आत्मा अनित्य विस्तुओं में नित्य तथा चेतन वस्तुओं में चेतना के रूप सर्वदा वर्तमान है।[21] विश्व की प्रत्येक वस्तु को रूप विशेष की दृष्टि से प्रत्यक्ष करना इस श्रुति की विलक्षणता है। साथ ही इस विविधता के अनन्तरतर सर्वत्र एक आत्मतत्त्व विद्यमान है। यह सबों को आकाशवत् आवृत कर उसे बाहर भी अविकारी रूप में अवस्थित है। ये अनित्य रूप किसी

नित्यतत्व का आश्रयग्रहण कर व्यावहारिक- सत्ता में दृश्यमान होते हैं। एक ब्रह्माण्ड चेतना है जो प्रत्येक पिण्ड चेतना में उसका अनुरूप होकर वर्त्तमान है। विज्ञान की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु परमाणु का पुंजीभूत रूप है जो अन्ततः ऊर्जा की तरंग है। प्रत्येक रूप के अन्तर में ऊर्जा उसका अनुरूप हो रही है।

यह रूपमय जगत् किसमें 'स्थित है? इस प्रपंच में त्रयी की सत्ता एक साथ देखी जाती है। यह है क्या ? शंकर के अनुसार ये भोक्ता, भोग्य और भोग, किंवा विराट् और हिरण्यगर्भ द्वारा रचे हुए नाम, रूप और कर्म हैं, अथवा ये जाग्रत स्वप्न और सुसुप्ति है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार[22] प्रपंच से पृथकरूपेण वर्णन किया गया यह ब्रह्म सर्वोत्कृष्ट दी है। उसमें ये तीनों स्थित है। वह इनकी सुप्रतिष्ठा है। वह स्वयं अविनाशी है। इसके भाष्यक्रम में शंकर ने त्रय को एक प्रकार नाम, रूप और कर्म कहा है। इससे स्पष्ट है कि रूप तत्त्व के प्रति वे सतर्क हैं। उपर्युक्त श्रुति[23] का मत्रांश (1-9) है; अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्रयकर्ता।' उनके अनुसारः विश्वरूप अर्थात् विश्व इसी का रूप है। क्योंकि परमात्मा तो स्वयं विश्वरूप है नहीं। अर्थात् विश्वरूप में उसका परिणाम कदापि नहीं। इस सन्दर्भ में उनकी उक्ति है:-

**इति रूपस्य रूचि व्यतिरेकेण भवाद् विश्वरूपत्वाद् अप्यानत्यं सिद्धमिव्यर्थ।**

अर्थात् विकार, वाणी से आरंभ होने वाला नाम मात्र है। इस छान्दोग्य ऋुति के अनुसार रूप रूपी से भिन्न नहीं होता, इसलिए विश्वरूप होने से इस ब्रह्म की अनन्तता ही सिद्ध होती है।

उपर्युक्त श्रुति[25]- (4-10) कहती है, उस चिद्ररूप ब्रह्म के- अवयवरूप, कार्य-कारण संद्यात से यह दिखाई देता हुआ भूर्लोकादि सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है; यद्यपि यह विश्वरूप माया के कारण प्रतिभासित होता है; किन्तु यह सब उसका अवयवभूत रूप है। यहाँ रूप को अवयवभूत कहने में विज्ञान के 'आर्गोनिक फार्म' का स्पष्ट संकेत है। अवयव शरीर अंगभूत जीवंत अंश है। जैव, प्राणवन्त अवयव कार्यकारण संघात से उत्पन्न होता है। शंकर का यह संघात, अवयवों के विभिन्न संबधों का द्योतक कोई ग्राम या कम्पलेक्स है। उसके रूप को रूपी से अभिन्न मानकर रूपी के स्वरूप के आलोचन के लिए हमें उत्प्रेरित किया है। साथ ही, त्रयी में नाम-रूप-कर्म या समावेश भी एक विशेष गुण है। क्योंकि, जहाँ रूप है, अरस्तु के अनुसार वहाँ क्रिया अवश्यंभावी है। रूप यदि माया है तो ब्रह्म मायावी है। रूप को सत्ता, स्फूर्ति, क्रिया आदि धर्म प्रदान करने वाला वह मायावी ही है।

छान्दोग्य उपनिषद[26] में आचार्य-शिष्य संवाद द्वारा यह घोषित किया गया है- हे सोम्य, इस सृष्टि से पहले सत् ही था। वह एक निश्चय ही अद्वितीय है। इसके तीसरे मंत्र में कहा गया है कि उस सत् ने संकल्प किया' मैं बहुत प्रजा को उत्पन्न करूँ। उस सत् ने तेज को रचा। तेज ने संकल्प द्वारा आपः (अप्) को रचा और अप् ने अन्न (पृथिवी) को रचा। इस अध्याय के तृतीय खण्ड में श्रुति की उक्ति है, कि सत् ने संकल्प किया कि मैं इन तीन प्रकार के देवताओं- तेज-आप-अन्न में जीवरूप से प्रवेश कर जाऊँ नाम-रूप का सृजन करू और उनमें एक-एक देवता को त्रिवृत्त करूँ-

**'अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्'**

इसी अध्याय के चतुर्थखण्ड के प्रथम मंत्र का वचन है-[27]

यदग्ने रोहिरूपं तेजसस्तद्रूपं..... अर्थात् अग्नि मैं जो लाल वर्ण है, वह तेज का रूप है, जो श्वेत है, वह जल का रूप है, और जो कृष्ण है, वह अन्न (पृथिवी) का रूप है। इस प्रकार, अग्नि का अग्नित्व समाप्त हो गया। विकार, वाणी से प्रारम्भ होनेवाला नाम मात्र है। ये तीन रूप ही सत्य है। इस तरह अगले मंत्रों में आदित्य, चन्द्रमा और विद्युत के त्रिवृत्त का उल्लेख कर प्रत्येक को वाचारम्भणंविकारोनामधेयं..... से अभिहित किया गया है। उक्त अध्याय के पचंम खंड के चतुर्थ मंत्र में कहा गया है; हे सौम्य, अन्न का कार्य मन है, जल का कार्य प्राण और तेज का कार्य वाणी है।

उपर्युक्त उद्धरण का आशय है कि सृष्टि प्रकट होने के पूर्व सत् (ब्रह्म) के मानस में अव्यक्ततः विद्यमान थी। इसके पहले यह सत् ही था। ब्रह्म के मन में कामना हुई कि वह बहुत सी प्रजा को उत्पन्न करें। क्योंकि वह, एकाकी रमण नहीं कर सका। अतः वह एक से बहु होना चाहता है। उसने संकल्प द्वारा तेज को, तेज ने आप को और आप ने अन्न को रचा। स्रष्टा अपनी सृष्टि में जीवरूप से प्रवेश करता है। अर्थात् तेजादि तीन देवताओं में सत् ने प्राण-शक्ति का संचार किया। उनमें अनेक रूप गुण, धर्म-प्रकृति का संनिवेश किया। और साथ ही, उसने प्रत्येक देवता को त्रिवृत्त कर उसके भिन्न-भिन्न नाम रूप का सृजन किया। अर्थात् अभिव्यक्ति तत्त्वों के स्थूल आकार को परमात्मा ने उनके अनुकूल रूप प्रदान किया। और व्यावहारिक सत्ता की उपयोगिता के लिए अलग-अलग नाम भी सिरजे गए। तेज

आप- अन्न इन आधारभूत तत्वों के मेल से उसने आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत आदि का सृजन किया; उनका नामकरण किया। अग्नि आदि के नाम विभिन्न देशों, विभिन्न भाषाओं में अलग-अलग होंगे किन्तु अग्नि महत्व का रूप (दाहकत्व) सर्वत्र एक समान है। वस्तु के नाम शब्द प्रतीक हैं। व्यवहार की सुगमता के लिए ये मात्र आरोपित हैं। अतः नाम वाणी का विकारभाग है, इसका रूप तत्त्व से कोई संसर्ग नहीं। अतएव तीन रूप ही सत्य हैं, देशकाल में अपनी प्रकृति का कभी परिवर्त्तन नहीं करते।

इसका आशय है कि वस्तुरूप में अग्नि का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं। इसकी ज्वाला का रक्तवर्ण तेज से, शुक्लवर्ण आप से और कृष्ण पृथिवी से प्रकट होते है। यदि ये तीनों देवता अपने तत्त्व के साथ इससे निकल जाय तो अग्नि का अग्नित्व समाप्त हो जाएगा। अतः मूलतीन तत्त्वों का विकार रूप अग्नि सत्य नहीं, वे तीन देवता ही सत्य है। इसी प्रकार, जल से यदि हम हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के परमाणुओं को निकाल लें तो उसका जलत्व समाप्त हो जाएगा। तो जल, वाणी का विकार मात्र एक नाम है, सत्य तो वे परमाणु हैं। अतः रूप रूपी में अभिन्नतः विद्यमान है।

वस्तु का रूप, सत् के जीव रूप में अनुप्रवेश के कारण, जैविक या आव्यविक है। अव्यक्त सत् की अभिव्यक्ति रूप है। इनके नाम सत्य नहीं , वे विकार मात्र हैं, रूप ही सत्य है जो रूपी के साथ एकात्मभाव से अवस्थित है। वृहदारण्यक28 मैं छांदोग्य के नामरूपे व्याकरवणि का उल्लेख एवं प्रकारेण है -

'वह यह जगत् (उत्पत्ति से पूर्व) अव्याकृत था। वह नाम- रूप

के योग से व्यक्त हुआ' तन्नाम रूपाभ्यामेव व्याक्रियत' अर्थात् वह इस नामवाला और इस रूपवाला है। वह यह (व्याकर्त्ता) इस (शरीर) में नखाग्र पर्यन्त प्रवेश किए हुए है- ..... जैसे अग्नि अपने काष्ठादि आश्रम में गुप्त रहता है। आगे इसी श्रुति[29] का वचन हैं- 'रूप क्रिया के निमित्त से युक्त अव्याकृत जगत् ही व्याकृत होता है। व्यक्त के भाव को प्राप्त होता है। कठोपनिषद् के रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव का उल्लेख यहाँ भी है ....

रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूत तदस्य रूपं प्रति च क्षरणाय इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप इंयते।' उपर्युक्त का शांकरभाष्य निम्नप्रकारेण है - 'वह इस आत्मा के रूप के प्रति चक्षुण प्रतिख्यापन के लिए है। क्योंकि, यदि नाम- रूपों की अभिव्यक्त् न होती, तो इस आत्मा का प्रज्ञानघनसंज्ञक निरूपाधिक रूप प्रकट नहीं हो पाता। किन्तु, जिस समय कार्यकारण भाव से नाम रूप की अभिव्यक्ति होती है, तभी इसका रूप प्रकट होता है अर्थात् वह प्रज्ञानघन एक रूप ही होते हुए अविद्याजनित प्रज्ञा से अनेकरूप भासता है। अपने विषय को प्रकाशित करने के लिए ईश्वर माया से अनेक रूप होता है। भाष्य का सारांश है कि रूप (जगत्) अपने रूपी (आत्मा) से एकात्म है। आत्मा का स्वरूप सत्-चित् आनन्द है, यह उसका लक्ष्यधर्म है, यद्यपि है वह निरूपाधिक। रूप के माध्यम से ही उसके आनंदादि गुणों का प्रकाशन संभव है। अतः अव्याकृत तत्त्व (आत्मा) का स्वगुण प्रकाशनार्थ व्याकृत होना रूपाभिव्यक्ति अनिवार्य है। इसी श्रुति[30] मैं एक स्थल पर याज्ञवल्क्य और शाकल्य के संवाद में दूसरे के प्रश्नों के उत्तर का सार इस प्रकार है- प्राची दिशा का देवता आदित्य है, जो नेत्र में प्रतिष्ठित है। और नेत्र रूपों में प्रतिष्ठित है क्योंकि पुरूष नेत्र से

ही रूपों को देखता है। पुनः यह रूप हृदय में प्रतिष्ठित है क्योंकि यह पुरूष हृदय से ही रूपों को जानता है। (हृदयेन हि रूपाणि जानन्ति हृदये हेव रूपाणि प्रतिष्ठितानि) वासनारूप रूपों का हृदय से ही स्मरण होता है। रूप हृदय से आरंभ होनेवाला है। हृदय, मन और बुद्धि का एकीकृत रूप है।

बृहदारण्यकोपनिषद्[31] के द्वितीय अध्याय के तृतीय ब्राह्मण में छः मंत्र हैं जो रूप के मूर्त्त और अमूर्त्त भेद का हृदय स्पर्शी विवेचन करते हैं-

(1) ब्रह्म के दो रूप है:- मूर्त्त और अमूर्त्त, मर्त्य और मृत, स्थित और यत् तथा सत् और यत्। निरूपाधिक ब्रह्म अरूप, अशब्द, निगुर्ण, निराकार है। किन्तु सोपाधिक या सोपाख्य ब्रह्म पंचभूत जनित देह और इन्द्रियों से बद्ध है। इसके ही मूर्त्तामूर्त्त आदि रूप है। स्थित का अर्थ है:- परिचिछन्न, जो गतिपूर्वक स्थित रहने वाला है (गतिपूर्वकं यत् स्थानु शंकर) यत् (यातीति यत्) जो चलायमान है, अपरिच्छिन्न है। यह यत् स्थित् का विपरीत है। जो असाधारण 'धर्म विशेषवाला है। दूसरों की अपेक्षा विशेष रूप से निरूपित किया जाने वाला है, वह सत् है। सत् से विपरीत स्वभाववाला त्यत् है अर्थात् जो सर्वदा परोक्ष रूप से कहे जाने योग्य है। 'त्यत्' वह है। ब्रह्म के ये मूर्त्तामूर्त्तादि में विशेषण परस्पर विपरीत है। और अन्योन्य विरोधी धर्म एक वस्तु में, एक समय में, विद्यमान नहीं रह सकते, इसलिए ये मायाकृत है, अविद्या द्वारा आरोपित है। वस्तुतः यह अरूप और अमृत ही है।

(2) जो वायु और अन्तरिक्ष से भिन्न है, वह मूर्त है। इस मर्त्य

का यह स्थित है और यह सत् है। उस मूर्त्त का, इस मर्त्य का इस स्थित वा, इस सत् का यह रस है जो कि यह तपता है। यह सत् का ही रस है। वायु और अंतरिक्ष जो तीन भूत भिन्न है पृथ्वी, जल और अग्नि इनमें प्रथम दो अमूर्त शेष तीन मूर्त हैं। मूर्त का आशय शंकर के अनुसार मिले हुए अवयव वाला है। इसके अवयव एक दूसरे में अनुप्रविष्ट घनीभूत अर्थात संहत है। शंकराचार्य ने दूसरे मंत्र के मूर्त्त का लक्षण इस प्रकार किया है - तदेतन्मूर्त्तं मूच्छितावयम् इतरेतरानुप्रविष्टो वयं घनं संहत मित्यर्थः। अर्थात मूर्त्त रूप विभिन्न अवयव का मूच्छित मीलित एकीकृत रूप है। मूर्च्छित संगठित रूप का संकेत करता है। पूनः मूर्त्त के ये अवयव इतरेतर एक दूसरे के साथ परस्परतः अनुप्रविष्ट अंतः संगठित है इस उक्ति में प्राणिविज्ञान के ऑर्गनिज्म एवं इंटररिलेशन का सिद्धांत ध्वनित होता है। घन मेटर का ठोस रूप है। तरल, चलायमान या चंचल रहता है। गैस रूप वाति आकास में विखरा रहता है। पृथ्वी के गुरूत्वाकर्षण एवं दबाव के कारण उसका रूप मूर्त्त में होकर अमूर्त्त हो जाता है। यदपि अमूर्त्त ही एक रूप ही है।

(3) श्रुति ब्रह्म के अमूर्त्त रूप और उसके रस का आख्यान करती है। वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त्त है, यह अमृत हैं, ये यत् हैं और ये ही व्यत् हैं। उस इस अमूर्त्त का, इस अमृत का इस यत् का इस व्यत् का यह सार है जो कि इस मंडल में पुरूष है। यही इस व्यत् का सार है। यह अधिदैवत दर्शन है।

(4) जो प्राण से तथा जो देहान्तर आकाश है, उससे भिन्न है यही मूर्त्त है। यह मर्त्य है। यह स्थित है। यह जो नेत्र हैं; वही इस

मूर्त्त का; इस मर्त्य का स्थित का एवं इस सत् का सार है।

(5) सत्यस्य सत्यमिति प्राण वै सत्यं तेषामेव सत्यम्।' नेति-नेति' यह ब्रह्म का आदेश है। इससे बढ़कर कोई उत्कृष्ट आदेश नहीं। 'सत्यम्य सत्यम्' इसका नाम है। प्राण ही सत्य है, पंचम मंत्र में अमूर्त्त का लेखन है। प्राण और शरीर के अन्तर्गत आकाश है वे अमूर्त्त है। यह अमृत है। यह यत् है। और यही त्यत है। उस इस अमूर्त्त का, अमृत का, यत् का यह रस है जो कि दक्षिण नेत्रान्तर्गत पुरूष अमृत और चेतन है।

(6) षष्ठ मंत्र में इद्रियात्मा पुरूष के स्वरूप का वर्णन है। इस पुरूष का रूप ऐसा है जैसे महारजन (हल्दी कुसुम) से रंगा हुआ वस्त्र जैसे श्वेत ऊनी वस्त्र जैसे इन्दगोप, जैसे अग्नि की ज्वाला, जैसे श्वेत कमल, जैसे विद्युत की चमक होती है, यह पुरूष देह, इन्द्रिय, प्राण चेतना से परिपूर्ण है। उसके नेति-नेति कहकर घोषित करती है कि उपरि वर्णित ब्रहम के नाम रूप सत्य नही है, प्राण ही सत्य है और यह ब्रहम प्राण सत्य का भी सत्य है। बृहदारण्यक श्रुति रूप की तीन भूमियों का उल्लेख करती है; अधिभूत, अधिदैवत और अध्यात्म। कोई रूप है, तो उसका सार। रस या मूलकारण भूत कोई तत्त्व है। भूतत्रय का सार सविता है जो सतत् तपता रहता है।

भूत रूप का कारण भी भूत रूप सविता है। शंकर की उक्ति है- 'समानजातीयम्' अर्थात् पदार्थ कार्य का कारण भी उसी जाति का कोई पदार्थ होगा। किन्तु जब वायु या आकाश का उद्भव होगा तो प्राण रूप का रस सूर्यमण्डल अन्तर्गत कोई पुरूष हिरण्यगर्भ (प्राण तत्त्व) होगा पुनः शरीर के अन्तर्गत प्राण का कारण मनुष्य के दक्षिण

नेत्र हैं जो पुरूष नेत्र में- प्रतिबिम्बित है, वह है जो चेतन है। अमृत रूप रस अमृत और चेतन रूप का रस चिद् रूप आत्मा है। रूप के साथ रस का अनुचिंतन यह श्रुति की अपनी विशेषता है। अध्यात्म निरूपण में रूप के साथ वर्ण का आख्यान उसे पूर्णता प्रदान करता है। श्रुति मनुष्य की वासना को भी रूप का एक विकसित प्रकार मानती है। मनुष्य के मन में सत्व, रज या तम जब-जब अतिशयता के साथ उद्रेक होगा, तो उसकी वासना का रंग भी तत्-तत् गुण के अनुरूप प्रतिभासित होगा। रूप की प्रतिच्छवि वर्ण हैं। यह रूप स्मृति में पुनः-पुनः प्रकट होता है।

श्रुति का रूप-दर्शन विविधता को पार कर आत्मा के एकत्व में संलीन होता है। रूप, नाम, रस और वर्ण की चतुरस्तता से यह चिन्तन अपनी दृष्टि से पूरा है और अन्त में इन सभी रूपों को मायाकृत या अविद्या जनित कहकर 'नेति-नेति' के महामंत्र द्वारा आत्मा को अरूप, अशब्द, निरूपाधिक आदि घोषित किया जाता है। फिर भी यथा स्थान श्रुति रूप का सम्यक् उद्गान करती है -

**वाचारम्भणं विकारोनामधेयं**

**त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्।**[32]

**सन्दर्भ-गन्थ-सूची:-**

1. कठोपनिषद् (2.2.9)
'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं-रूपं प्रतिरूपों बहिश्च॥
2. आचार्य शिवबालक राय - ''मानस का रूप विज्ञान एवं मौलिकता''
पृष्ठ - 32

3. देवेन्द्र नाथ शर्मा - पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पृष्ट - 43
4. डॉ. नगेन्द्र - अरस्तु का काव्यशस्त्र, पृष्ठ - 26
5. देवेन्द्र नाथ शर्मा - पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पृष्ट - 184
6. देवेन्द्र नाथ शर्मा - पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पृष्ट - 09
7. पंडित भगवद्धत्त - वैदिक वाड्.मय का इतिहास, पृष्ट - 01
8. तैत्तिरीय उपनिषद्- (2.7)- असद्वा इयमग्र आसीत्l
9. ऋग्वेद- 10.78.2- 'विश्वरूपा अङ्गिरसो न सामभिः- श्री अरविन्द - वेद रहस्य का उद्धरण एवं भाषारूपान्तरण।'
10. ऋग्वेद- 1.4.1- 'विश्वयद्रूपा परियातुक्रभिः।'
11. ऋग्वेद- 9.111.1. 'सुरूप कृत्नमूतये सुदुधामिव गोदुहे।'
12. ऋग्वेद- 5.81.- 'विश्वरूपाणि प्रतिमुंचयते कविः।'
13. ऋग्वेद- 5.1.4- 'यदीं सुवाते उषसा विरूपे
श्वेतो वाजी जायते अग्रे अहनाम्।'
14. ऋग्वेद - 10.64.5- 'अतूर्तपन्थाः पुरूरथो अर्थमा
सप्त होता विषुरूपेषु जन्मसु।'
15. ऋग्वेद- 1.70.4 - 'वर्धान्यं पूर्वीः क्षपो विरूपाः
स्थातुश्चरथमृत प्रवीतम्।'
16. ऋग्वेद- 1.71.10- 'नभो न रूपं जरिमा मिनाति।
पुरा तस्या अभिशस्तेत धीहि।'
17. ऋग्वेद- 1.73.7 - नक्ता च चक्रुषरूसा विरूपे
कृष्णं च वर्णमरूणं च संधु।
18. ऋग्वेद- 1.140.7- ' पुनर्वर्धन्ते अपियन्ति देव्यमन्यद्
वर्पः पित्रोः कृण्वते सचा।
19. ऋग्वेद- 1.140.7.- कृष्णमश्वं मविर्पः करिक्रतः।

20. मुण्डकोपनिषद् - (1-8) तपसा चीयते ब्रहम ततोऽ नमभिजायते
अत्रात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्।
21. कठोपनिषद् (7.2-2-13) नित्योऽनित्यानां चेतनश्चचेतनाम्।
22. श्वेताश्वतरोपनिषद् (1-7)
'उद्गीतयेतत् परमं तु ब्रह्म तस्मिंरस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षं च
23. श्वेताश्वतरोपनिषद् (1.9)
24. श्वेताश्वतरोपनिषद् (4-10)- तस्यावयवभूतैस्तु व्यावंृ सर्वमिदं जगत्।
25. छान्दोग्योपनिषद् (6.2.2) - सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।.
26. छान्दोग्योपनिषद् (6.4.1)- यदग्ने रोहिरूपं तेजसस्त द्रूपं यच्छुल्कं तदपायत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद्यग्नेरग्नि त्वम वाचारम्भणं विकारोनामधेयं
27. बृह्दारण्यक (1.4.7.)
28. बृह्दारण्यक (2.5.9)
29 बृह्दारण्यक (3.9.20)
30. बृह्दारण्यक (2.3. 1-6) द्वे वाव ब्रह्मणों रूपे मूर्त्त चैवा मूर्त्तम् च। मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च।
31. छांदोग्योपनिषद् - (6.9.1)

# वेदकालीन कृषि संस्कृति

**वन्दना जानी**

संस्कृति शब्द संस्कृत से निष्पन्न है। इसलिए अंग्रेजी शब्द 'Culture' से उसकी तुलना करके इसके व्यापक अर्थाभिव्यक्ति को ग्रहण करना सम्भव नहीं है। इसकी व्युत्पत्ति देखे तो- 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में 'सुट्' आगम करके और 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर 'संस्कृति' शब्द बनता है।[1] भारत को सदैव सबसे प्राचीन संस्कृतियों में से एक का भंडार माना गया है। भारत में कई विदेशी जातियाँ आयी और बस गयी। भारतीयों के आचार-विचार, रहन-सहन आदि पर उनका कुछ प्रभाव भी पड़ा पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय संस्कृति का आधार ही बदल गया। भारत हिंदुओं का देश है, अतः उन्ही की 'संस्कृति' अर्थात् 'भारतीय संस्कृति' है, जिसके मूल स्त्रोत वेदादि शास्त्रों में निहित है। अत एव लौकिक-पारलौकिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, उन्नति का वेदादिशास्त्र सम्मत मार्ग ही भारतीय संस्कृति है। दर्शन, भाषा, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, कला आदि संस्कृति के सभी अङ्गों पर वेदादिशास्त्र मूलक सिद्धांतों की ही छाप दिखाई देती है। संस्कृतियाँ हर देश में होती है, लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति सबसे प्राचीन में से एक मानी जाती है। संस्कृति के स्वरूप के अंतर्गत वैदिक संस्कृति, उपनिषदों की तर्कप्रधान संस्कृति, दर्शनों की विचार प्रधान संस्कृति, पुराणों की धर्म प्रधान संस्कृति, महाकाव्यों की आदर्श प्रधान संस्कृति, जैन धर्म की आचार प्रधान

संस्कृति, बौद्धधर्म की समन्वय प्रधान संस्कृति देखने मिलती है। इसके अंतर्गत वर्णाश्रम, धर्म, कर्म, आचार और संस्कार, सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन, न्याय और शासन, कला, सौन्दर्य इत्यादि मिलते है। इसमें आर्थिक जीवन के अंतर्गत कृषि संस्कृति की चर्चा यहाँ की गई है। भारत प्राचीन काल से ही कृषिप्रधान देश रहा है। लोगों का प्रमुख व्यवसाय कृषि और पशुपालन रहा है। इसके प्रमाण हमें सिंधु घाटी की सभ्यता से मिलता है। वैदिक काल में भी लोगों का व्यवसाय कृषि और पशुपालन था। ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों से हमें कृषि तथा पशुपालन करने के प्रमाण मिलते है। आर्य लोग खेतों की जुताई, बुआई, सिंचाई, कटाई आदि बहुत अच्छी तरह से संपन्न करते थे। भूमि के उपजाऊपन के लिए पशुओं की खाद का प्रयोग भी करते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे भारत में कृषि का क्रमिक रूप से विकास होता गया। इस प्रकार यहाँ वैदिक साहित्य के अंतर्गत कृषि संस्कृति मिलती है उसकी चर्चा की गई है।

वैदिक काल से कृषि व्यवस्था तथा अन्य विषयों के सम्बन्ध में लिखित प्रमाण मिलते थे। संपूर्ण वैदिक साहित्य कृषि से सम्बन्धित शब्दों से भरा पड़ा है, आर्यो को कृषि का ज्ञान ईरान में ही हो गया था। अवेस्ता में 'करेश', 'हत्थ' एवं 'यवो' शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो वैदिक शब्द 'कृष', 'सस्य' एवं 'यव' के रूपान्तरण है।[2] वैदिक आर्य कृषिजीवी थे। ऋग्वेद[3] में उल्लिखित 'कृष्टि' शब्द से समस्त आर्यजनों के कृषक होने का प्रमाण मिलता है। आज की तरह तब भी कृषि को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता था। कृषि आर्यत्व और श्रेष्ठत्व की पहचान मानी जाती थी। समाज के सभी लोग प्राण रक्षण एवं जीवन निर्वाह के लिए धरती के प्रति अत्यन्त आदर सम्मान

का भाव रखते थे। ऋग्वेद में कहा गया है कि 'यह विशाल धरती हमारी माता है'-

**'माता पृथिवी महीयम्।'[4]**

इस प्रकार अथर्ववेद में मिलता है- 'पृथिवी मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ।'

**'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।'[5]**

इस प्रकार आज भी धरती के प्रति मातृत्व का श्रद्धाभाव अनेक कारणों से है। उनमें से एक कारण वह अन्नदात्री होने के कारण समस्त मानवता का आधार है।

वैदिक आर्यों के कृषि प्रेम के अनेक उदाहरण वेदों में मिलते है। वैदिक कवियों ने **'कृषिमित्कृषष्व'** अर्थात् 'खेती करो' ऐसा अभियान चलाकर समाज को कृषि की ओर प्रेरित किया। कृषि जीवन की इस प्रगति ने तत्कालीन जनजीवन को जो आत्मनिर्भर प्रदान की उसके अतिरिक्त दुर्व्यवहार में फँसे हुए लोगों को अच्छे मार्ग पर लगाकर उनके लिए यह भी निर्देश किया है- **'अक्षैर्मा दीव्यः, कृषिमित्कृषष्व'**[6] अर्थात् 'जुआ न खेलो, खेती करो'।

**• कृषि के विभिन्न रूप और सिंचाई:-**

वेदों में कृषि की दृष्टि से भूमि के दो भागों का वर्णन मिलता है। (१)कृष्टपच्य और (२)अकृष्टपच्य ऋग्वेद में कृषि योग्य भूमि के अनेक रूपों का वर्णन हुआ है। यजुर्वेद में कृषि के द्वारा उत्पन्न अन्न के लिए 'कृष्टपच्या' तथा बिना कृषि किए उत्पन्न अन्न के लिए 'अकृष्टपच्या' शब्द का प्रयोग किया गया है।[7] अथर्ववेद में भी कृषि

योग्य भूमि को 'कृष्य' कहा गया है।[8] संहिताओं में भूमि के दोनों प्रकारों का उल्लेख मिलता है।[9] इनके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में कृषि भूमि के अन्य तीन प्रकारों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में भूमि के तीन प्रमुख भेद मिलते है-

(१)आर्तना:- मैक्डोनल एवं कीथ के अनुसार ऋग्वेद में यह बंजर भूमि का द्योतक है।[10] वैदिक कोश के अनुसार ऋग्वेद में इसका आशय उसे क्षेत्रों से है।[11] शतपथ ब्राह्मण में इस भूमि को अकृष्ट कहा गया है।[12]

(२)अप्रस्वती:- वैदिक इण्डेक्स तथा वैदिक कोश के अनुसार ऋग्वेद में यह शब्द उर्वर भूमि का बोधक है।[13] शतपथ ब्राह्मण में इस भूमि को कृष्ट कहा गया है।[14]

(३)उर्वरा अथवा क्षेत्र:- यह भूमि कृषि की दृष्टि से सबसे अधिक उपयुक्त थी। ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में उपजाऊ भूमि के लिए उर्वरा[15] तथा खेत के लिए क्षेत्र[16] शब्द मिलते है। शतपथ ब्राह्मण में भी कृषि भूमि को क्षेत्र अथवा उर्वरा कहा गया है।[17]

पाणिनि[18] ने फसलों के नाम पर क्षेत्रों का विभाजन किया है- व्रैहेय(व्रीहि का खेत), शालेय(जडहन का खेत), यव्य(जौ का खेत), षष्टिक्य(साठी का खेत), तिल्य-तैलीन(तिल का खेत), माष्य-माषीण(उडद का खेत), उम्य-औमीन(अलसी का खेत) इत्यादि। पाणिनि ने कृषि के अयोग्य भूमि का ऊषर(ऊसर) कहा है। जुती हुई भूमि को सीत्य, हल्य आदि नाम दिए गए थे।

नारदस्मृति में दर्शाया गया है कि– जिस भूमि में एक वर्ष तक खेती न की गई हो वह 'अर्द्धखिल' है, जिसमें तीन वर्षों तक खेती न

हो वह 'खिल' है।[19]

अमरकोश में बारह प्रकार की भूमियों का वर्णन प्राप्त होता है- उर्वरा(उपजाऊ भूमि), उषर(उसर भूमि), मरु(रेगिस्तान), अप्रहत(जिस पर खेती नही होती), शाद्वल(घास का मैदान), पंकिल(कीचड़ की भूमि), जल से भरी भूमि, कच्छ(पानी के निकट की भूमि), शर्करा(कंकडयुक्त भूमि), शर्करावती(रेतीली भूमि), नदी मातृक(नदी से खींची जाने वाली भूमि), देव मातृक(बरसात से खींची जाने वाली भूमि)।

ऋग्वेद[20] तथा अथर्ववेद[21] से ज्ञात होता है कि उस समय कृषि की सिंचाई के लिए समुचित व्यवस्था थी। नदी तथा कूप दोनों से सिंचाई की जाती थी। ऋग्वेद[22] के अनेक स्थलों पर 'अवत' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिससे प्राकृत स्त्रोतों के विपरीत कृत्रिम रूप में बनाये गए कूपों का अर्थ किया गया है। ऐसे कूपों को ढाक कर व्यवस्थित रूप में रखा जाता था। वे सदा जल से परिपूर्ण रहते थे। उनसे पत्थर के चक्र से पानी निकाला जाता था। इन पहियों में एक वस्त्रा लगा रहता था, जिससे पात्र सन्नद्ध रहता था। पानी को खींच कर लकड़ी की बाल्टियों में संग्रह किया जाता था।[23] कृषि को अधिकाधिक उपजाऊ बनाने के लिए सिंचाई के अतिरिक्त खाद का उपयोग होता था। इस प्रकार यहाँ कृषि के विभिन्न रूप और सिंचाई की बात की गई है।

**● कृषि के साधन:-**

वेदों एवं वैदिक साहित्य में स्पष्ट और व्यापक रूप से देखने को मिलता है कि आज की तरह तब भी कृषि के लिए विभिन्न प्रकार के

साधनों का उपयोग होता था। ऋग्वेद[24] में कृषि कार्य से सम्बन्धित जोताई-बोवाई, हल, बैल, जुआ, हंसिया, गाडी, नाद, गोलाशा, प्रस्थर, कुठार और लौहदात्र आदि विभिन्न प्रकार की सामग्री का उपयोग होता था।

कृषि की जोताई-बोवाई करने सम्बन्धी अनेक उल्लेख वैदिक साहित्य में प्रचुर मात्रा में मिलता है। ऋग्वेद के एक मंत्र में कृषि को जोतने और उसके लिए बैलों का उपयोग करने का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद इत्यादि में जोत कर बोए हुए बीज और उससे उत्पन्न अन्न को 'यवंकृत्' तथा 'सस्य' कहा गया है।[25] अथर्ववेद[26] में कृषि आरम्भ करने का श्रेय वेन के पुत्र पृथु को दिया गया है। ऋग्वेद[27] में अश्विनों को हल जोतकर बीज बोते हुए दर्शाया गया है।

कृषि के लिए आज की तरह वैदिक युग में भी हल को प्रमुख साधन माना जाता था।[28] ऋग्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता, निरुक्त और आपस्तम्ब सूत्र इत्यादि में हल के अनेक प्रकारों का उल्लेख हुआ है।[29] अथर्ववेद, तैत्तिरीय ब्राह्मण और वाजसनेयि संहिता में हल को 'सीर' कहा गया है।[30] उस युग में कृषि कितने व्यापक तरीके से की जाती थी ऐसा अनुमान लगाया जाता है। बैलों को हाँकने के लिए हलवाहे जिस छड़ी का उपयोग करते थे उसे 'आष्ट्रा' कहा गया है।

शतपथ ब्राह्मण[31] में जोतना, बोना, काटना, दँवाई करके अन्न अलग करना (कृषन्तः, वपन्तः, लुनन्तः, मृणन्तः) आदि विभिन्न कृषि क्रियाओं का स्पष्ट उल्लेख है। यहाँ फसल को हँसिया से काटे जाने उसे गठ्ठरों में बाँधे जाने और अन्न को 'अन्नागार' में रखने का उल्लेख

मिलता है। अथर्ववेद[32] में 'अन्नागार' को 'शाला' और गृहस्वामी को 'शालापति' कहा गया है। यहाँ अन्न को चलनी(तितउ) और सूप(शूर्प) से साफ करने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

● **अन्न के प्रकार:-**

वैदिक युग में किन-किन अन्नों का उत्पादन होता था इसकी जानकारी स्त्रोतों के माध्यम से पता चलती है। वाजसनेयि संहिता[33] में व्रीहि(चावल), यव(जौ), मुद्ग, माष, तिल, अणु, खर्व, गोधूम(गेहूँ), नीवार, प्रियङ्गु, मसूर और श्यामा का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद्[34] में कृषित अन्न के दस प्रकार बताये गए है:- (१)व्रीहि(धान), (२)यव(जौ), (३)तिल(तिलाः), (४)माष(उड़द), (५)अणु(साँवा), (६)प्रियङ्गु(काँगनी), (७)गोधूम(गेहूँ), (८)मसूर(मसूराः), (९)खल्व(बाल) और (१०)खलकुल(कुलथी)।

वैदिक आर्यों धान्य, आटा और सत्तू बहुत उपयोग में लेते थे।[35] अथर्ववेद, मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण और छान्दोग्योपनिषद् में तण्डुल का उल्लेख चावल के अर्थ में हुआ है।[36] ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा वैदिक साहित्य के ग्रन्थों से वैदिक युग में धान की खेती का व्यापक रूप से प्रचलन होता है।[37] तैत्तिरीय संहिता[38] में काले और श्वेत चावलों का उल्लेख मिलता है। काले धुनों को अच्छा बढने वाला बताया है। उसी को 'षष्टिक'(साठ दिनों में पकने वाला) कहा है।

ऋग्वेद[39] में घी के साथ मीठी रोटी के लिए 'अपूप' शब्द का प्रयोग मिलता है। शतपथ ब्राह्मण[40] में चावलों(व्रीहि) की बनी रोटी

का वर्णन है। ऋग्वेद[41] से पता चलता है कि वैदिक आर्यों के खेत जौ से परिपूर्ण होते थे। सत्तू को ऋग्वेद में देवान्न कहा गया है।[42] इसलिए इसे दान में भी दिया जाता था। तैत्तिरीय संहिता[43] के अनुसार जौ की खेती ग्रीष्म ऋतु में बोने का वर्णन है। सत्तू के सूप का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है।[44]

खाद्य अन्नों में गेहूँ का प्रमुख स्थान माना जाता है। मैत्रायणी संहिता, वाजसनेयी संहिता, शतपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यक उपनिषद में गोधूम का गेहूँ के अर्थ में बहुवचन में प्रयोग हुआ है।[45] तिल और माष का वर्णन अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता, वाजसनेयि संहिता, शतपथ ब्राह्मण आदि अनेक ग्रन्थों मिलता है।[46] उर्द और तिल को हेमन्त और शिशिर ऋतु में उगने वाला अन्न कहा गया है। वाजसनेयि संहिता तथा बृहदारण्यक उपनिषद में मसूर की गणना दालों में की गई है।[47] वैदिक युग के अन्नों में ईख(ईक्षु) का वर्णन प्राप्त होता है।[48]

**● भूमि स्वामित्त्व, उत्तराधिकार और अविभाजन:-**

भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व, उसका उत्तराधिकार और उसके अविभाजन सम्बन्धी निर्देशों से पता चलता है कि वैदिक युग में उसका अधिक महत्त्व था। ऋग्वेद[49] के एक मंत्र से पता चलता है कि खेतों की तब नाप जोख होती थी। इस प्रकार कृषि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का पता चलता है। ऋग्वेद के एक मंत्र के अनुसार अपाला का अपने पिता की भूमि पर वैसा ही व्यक्तिगत अधिकार था, जैसा कि अपने शिर के बालों पर। यहाँ सन्तान भावना का वैयक्तिक अधिकार दिखाई देता है।[50] छान्दोग्य उपनिषद्[51] में भूमि और घर

को सम्पत्ति में परिगणित किया गया है।

वैदिक युग में भूमि का बहुत महत्त्व था। ऋग्वेद में उपहारों या दान में दी जाने वाली वस्तुओं में केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति की वस्तुओं की गणना की गई है जैसे कि– गाय, अश्व, भेंस, ऊँट और अलंकार इत्यादि।[52]

भूमि पर राजा का स्वामित्व होता था। राजतन्त्र के सुदृढ़ होने पर राजाओं के अधिकार में भी वृद्धि होती है और राजा अपने राज्य की सम्पूर्ण भूमि का स्वामी है। मनुस्मृति के अनुसार भूगर्भ से निकली सम्पत्ति पर राजा का अधिकार होता है।[53] अर्थशास्त्र के अनुसार राजा भूमि एवं जल दोनों का स्वामी होता है। महाभारत में राजा को समस्त भूमि का स्वामि माना गया है। किन्तु इन तथ्यों से राजा का भूमि पर स्वामित्व सिद्ध नही होता। सैद्धांतिक रूप से राजा भूपति है क्योंकि वह भू-राजस्व प्राप्त करता है। परंतु व्यावहारिक रूप से भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व होता था। कौटिल्य ने लिखा है कि जो व्यक्ति अपने खेतों में कृषि न करे राजा उसके खेतों पर अधिकार रख सकता है। अर्थशास्त्र में दो प्रकार की भूमि में अन्तर किया गया है। प्रथम प्रकार की भूमि राजा की अपनी भूमि होती थी जिस पर कृषि अधिक्षक, श्रमिकों या किसानों द्वारा खेती करवाता था। इस भूमि से होने वाली आय को कौटिल्य ने 'सीता' कहा है। दूसरे प्रकार की भूमि किसानों की होती थी जिससे राजा भू-राजस्व प्राप्त करता था। इसे 'भाग' शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है।[54] इसके उपरांत कई जगह पर व्यक्ति का स्वत्व सिद्ध होता है। इन सबसे यह सिद्ध नही होता कि व्यक्तिगत स्वामित्व नही था। मैक्डोनल आदि का भी यही

मत है कि भूखण्डों के स्वामी व्यक्ति ही होते है, राजा नहीं भूमि प्रबन्धन देखे तो प्रशासन व्यवस्था हर जनपद में थी। सर्वोच्च अधिकारीयों को राजा के मंत्री का पद मिला होता था, उनसे नीचे के अधिकारी समितियों में बैठते थे। जनपद की भूमि की दो सुस्पष्ट कोटियाँ थी : राष्ट्र को कर देने वाली और सीधे राज्य के निरीक्षण में बसाया और जोती जाने वाली 'सीता' भूमि। यहाँ भूमि का अधिकतम उपयोग होने से धन लाभ प्राप्त होता था।[55] इस प्रकार यहाँ भूमि का स्वामित्व, उत्तराधिकार और अविभाजन व्यक्ति पर निर्भर करता था।

**● निष्कर्ष:-**

प्रस्तुत शोधपत्र में हमने वेदकालीन कृषि संस्कृति का अध्ययन किया है। इस शोधपत्र में वेद और वैदिक साहित्य में कृषि संस्कृति का वर्णन प्राप्त होता है यह दर्शाने का प्रयास किया है। वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि आर्यों के जीवन में कृषि का महत्त्वपूर्ण स्थान था। कृषि से प्राप्त हुआ अन्न ही आजीविका का मुख्य साधन माना जाता था। इस प्रकार वैदिक कालीन सभ्यता के लोग कृषि के विभिन्न आयामों से भलीभांति परिचित थे। जनसंख्या में वृद्धि होने पर अधिक उपज के लिए विभिन्न तरीकों का प्रयोग करते थे। कृषि व्यवस्था आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एवं उन्नतिशील मानी जाती थी। इस प्रकार यहाँ कृषि के विभिन्न रूप और सिंचाई, कृषि के साधन, अन्न के प्रकार, भूमि स्वामित्त्व, उत्तराधिकार और अविभाजन दर्शाया गया है।

**• संदर्भ-ग्रन्थ-सूची:-**

(१) हिंदू संस्कृति पृ.-२४
(२) वैदिक इण्डेक्स भाग-१ पृ.-१८१, भाग-२ पृ.-४४१
(३) ऋग्वेद-१/५२/११
(४) वही-१/१६४/३३
(५) अथर्ववेद-१२/१/१२
(६) ऋग्वेद-१०/३४/१३
(७) यजुर्वेद सुबोध भाष्य-१८/१४
(८) अथर्ववेद-२/४/५
(९) तैत्तिरीय संहिता-४/७/५/१,२ मैत्रायणी संहिता-२/११/५ काठक संहिता-१८/१०
(१०) वैदिक इण्डेक्स हि. अनुवाद भाग-१ पृ.-१११
(११) वैदिक कोश पृ.-४०
(१२) शतपथ ब्राह्मण-७/२/४/१७
(१३) वैदिक इण्डेक्स हि. अनुवाद भाग-१ पृ.-१११, वैदिक कोश पृ.-१७
(१४) शतपथ ब्राह्मण-७/२/४/१७
(१५) ऋग्वेद-१/१२७/६, ४/३८/१, ५/३३/४, ६/२०/१, ६/२५/४
(१६) वही-१/३३/१५, १/१००/१८, १/११०/५, ३/३१/१५, ४/३८/१
(१७) शतपथ ब्राह्मण-१/४/१/१६
(१८) वासुदेवशरण अग्रवाल पाणिनि कालीन भारतवर्ष पृ.२००
(१९) नारदस्मृति-१/८७/९१
(२०) ऋग्वेद-७/४९/२
(२१) अथर्ववेद-१/६/४, १९/६/१
(२२) ऋग्वेद-१/५५/८, ४/१७/१६
(२३) वही-१०/१०१/६,७
(२४) ऋग्वेद-१०/१०१/२-११

(२५) वही-१/२३/१५

(२६) अथर्ववेद-८/१०(४)/११

(२७) ऋग्वेद-१/११७/२१

(२८)वही-१०/७१/९

(२९) वही-४/५७/४, अथर्ववेद-२/८/४, तैत्तिरीय संहिता-६/६/७/४, निरुक्त-६/२६, आपस्तम्ब सूत्र-२२/४/७

(३०) अथर्ववेद-६/३०/१, तैत्तिरीय ब्राह्मण-१/७/१/२, वाजसनेयि संहिता-१८/७

(३१) शतपथ ब्राह्मण-१/६/१/२

(३२) अथर्ववेद-५/३१/५

(३३) वाजसनेयि संहिता-१८/१२

(३४) बृहदारण्यक उपनिषद-६/३/१३

(३५) ऋग्वेद-३/५२/१

(३६) अथर्ववेद-६/१४०/२, १०/९/२६, मैत्रायणी संहिता-२/६/६, काठक संहिता-१०/१, ऐतरेय ब्राह्मण-१/१, शतपथ ब्राह्मण-१/१/४/३, छान्दोग्य उपनिषद-३/१४/३

(३७) ऋग्वेद-५/५३/१३, अथर्ववेद-६/१४०/२

(३८) तैत्तिरीय संहिता-१/८/१०/१

(३९) ऋग्वेद-३/५२/७

(४०) शतपथ ब्राह्मण-२/२/३/१२,१३

(४१) ऋग्वेद-१०/१३१/२

(४२) वही-६/५६/१

(४३) तैत्तिरीय संहिता-७/२/१०/२

(४४) ऋग्वेद-१/१८७/१०

(४५) मैत्रायणी संहिता-१/२/८, वाजसनेयि संहिता-१८/१२, शतपथ ब्राह्मण-१२/७/१/२, बृहदारण्यक उपनिषद-६/३/१३

(४६) अथर्ववेद-२/८/३, तैत्तिरीय संहिता-७/२/१०/२, मैत्रायणी संहिता-४/३/२, वाजसनेयि संहिता-१८/१२, शतपथ ब्राह्मण-९/१/१/३

(४७) वाजसनेयि संहिता-१८/१२, बृहदारण्यक उपनिषद-६/३/१३

(४८) अथर्ववेद-१/३४/५, मैत्रायणी संहिता-३/७/९, ४/२/९, वाजसनेयि संहिता-२५/१

(४९) ऋग्वेद-१/११०/५

(५०) वही-८/९१/५-६

(५१) छान्दोग्य उपनिषद-७/२४/२

(५२) ऋग्वेद-१/१२६/१-४

(५३) मनुस्मृति-८/३९

(५४) हिन्दू रेवन्यू सिस्टम पृ.२९-३४

(५५) भूमि का प्रबन्ध पृ.-१८१

**• संदर्भ-ग्रन्थ-सूची:-**

(१) वैदिक साहित्य और संस्कृति वाचस्पति गैरोला चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली-११०००७ सं.-२०१३

(२) वैदिक इण्डेक्स मैक्डोनल और कीथ भाग-१,२ लंडन सं.-१९१२

(३) वैदिक कोश सूर्यकान्त बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी सं.-१९६३

(४) ऋग्वेद डो.गंगासहाय शर्मा संस्कृत साहित्य प्रकाशन नई दिल्ली-११०००१ सं.-२०१६

(५) यजुर्वेद सुबोध भाष्य डो.श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मंडल पारडी सं.-१९८५

(६) अथर्ववेद डो.गंगासहाय शर्मा संस्कृत साहित्य प्रकाशन नई दिल्ली-११०००१ सं.-२०१५

(७) काठक संहिता श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मंडल सं.-१९९९

(८) तैत्तिरीय संहिता श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मंडल सं.-

२००२
(९) मैत्रायणी संहिता श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मंडल सं.-१९९८
(१०) वाजसनेयि संहिता श्रीशुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिनी शाखा
(११) पाणिनिकालीन भारतवर्ष वासुदेवशरण अग्रवाल मोतीलाल बनारसीदास बनारस वि. सं.-२०१२
(१२) मनुस्मृति डो.सुरेन्द्रकुमार आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली-११०००६, सन्-२०१७
(१३) कल्याण हिन्दू संस्कृति अङ्क गीताप्रेस गोरखपुर सं.-१९५०
(१४) शतपथब्राह्मण स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती दयानन्द संस्थान नई दिल्ली-५ सं.-२०३०
(१५) शतपथब्राह्मणम् सायणाचार्यकृतवेदार्थप्रकाशाख्यभाष्यसहितम् एशियाटीक सोसायटी कलकत्ता सं.-१९०५
(१६) प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता डी. डी. कोसाम्बी राजकमल प्रकाशन दिल्ली-६ सं.-१९६९
(१७) वैदिक इण्डेक्स मैक्डोनल एवं कीथ (हिन्दी अनु. रामकुमार राय) भाग-१ चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१ सं.-१९६२
(१८) વૈદિક કૃષિવિધા ડો. નારાયણ મંદિર કંસારા મહર્ષિ વેદવિજ્ઞાન અકાદમી અમદાવાદ-૩૮૦૦૧૫
(१९) Hindu Revenue System U. N. Ghoshal University of Calcutta 1929

# Language and Culture in Epic Literature

**Yogesh Ramnath Khalkar**
Malpani College, Sangamner

Sanskrit literature extends from the Vedic literature to the present day Sanskrit literature. It is very vast and varied. It is broadly classified into the Vedic literature and a the classical literature. The epic literature connects the Vedic and the classical literature. The Ramayana and the Mahabharata are the two national epics. In order to differentiate these two epics from the five great poems written by the great poetslike Kalidas and others are term ***Arsha.***

language spoken by the people gets naturally reflected in the literature. The language used by both the sages is the simple. It is rich in its content. The culture as described in both the epics throws high on the way oflife of people. The culture touches the physical, mental, social, political and moral aspects of man. Both the epics narrate the Vedic culture Which mainly guide people tolead morallife even under adverse situation. Both the stages have concern for the welfare of people.

**Introduction:-**

Sanskrit literature is very vast and varied. It extends from the ancient Vedic literature to the present day Sanskrit literature. It is broadly divided into the Vedic and the classical literature. The epic literature connects the Vedic and classical literature. The Ramayan and the Written by the great sages Valmiki and Vyasa are the two national epics. The five great poems namely Kumarasambhav (Kalidas), Raghuvansham (Kalidas), Kiratarjuneeyam (Bhairvi), Shishupalavadham (Magh), Naishadhcharit (Shri harsha) Are famous as ***Panch mahakavyas***. In order to differentiate the two national epics from the above mentioned work of the great poets like Kalidas and others They are termed as ***Arsha*** which means that relating or belonging to sages. Both the epics are written in the classical Sanskrit language Which differentiate from the Vedic Sanskrit and both the Valmiki and Vyas have presented humanistic Vedic culture

in the Ramayana and the Mahabharat. The epics are mainly written for common man with the purpose to guide them in their persona, socia, political and moral matters. Both the stages have great concern for the welfare of people.

**Language in the Epics:-**

Both the epics are written in the ***Anushtubh*** and the ***Upajati*** meters. The Anushtubh Has eight alphabets in all the four quarters Again in it the sixth alphabet in every quarter is ***Deergha*** The fifth alphabet in every quarter is ***Rhasva***. The seventh alphabet is ***RhasvaIn*** the second and the fourth quarter and it is ***Deergha*** in the remaining two. The upajati contain eleven alphabets in all the four quarter it is mixture of ***the Indravajra*** and ***the Upendravajra***. Thelast two alphabets in all the four quarters of the Upajati are ***Deergha.*** Both the sages occasionally and frequently use the Upajati meter.

The language used by the sages in both the apics is very simple.It has reach content. Both the services have command over the Sanskrit language. C. V. Vaidya while commenting upon the language of the Mahabharata Bhagavadgita states Whoever wishes to realise the Beauty of language of the mahabharat should read bhagavad gita which indeed what the author has said about in the nectar and essence of the whole poem. It not only contains highest philosophy which the Mahabharata has to teach What is exhibit the authors command over the Sanskrit language. In the whole of non Vedic Sanskrit literature. There is not a single work which can equal the bhagavad gita in simplicity of languages in Correctness of exploration and deep sonorousness of its period. The words and the sentence in the best top songs are indeed custIn pure gold for they are small in compass weighty and brilliant. [2]

Language spoken by people gets naturally reflected in the literature. This is exactly true in the case of the ramayana and the Mahabharata. Similarly tradition, convontions, culture, ideas and ideal get reflected in the literature. Indeed context what Arvindo observe is perfect. He says that, the Mahabharata especially is not only the story of Bharatas, the epic of an early event, which had become a national tradition but on a vast scale the epic of the

seal and religious and ethical mind and social and political ideals and culture and the life of India. It is said popularly off it and with the certain measures of truth that whatever is in India is in the Mahabharata. [3]

**Culture in the Epics:-**

The Ramayana and Mahabharat describe in detail what is known as the Vedic culture which is considered as the source of happiness. Both the sages have described the ancient Indian or vedical culture with all its aspect through the Medium of Nobel characters and way they led their personal, social, political and moral life. It is stated in the Ramayana that lord Ram beloved in certain limits and sets the limits for the people.[4] The Mahabharata is treated as the ***fifth Vedas.*** It is also considered as the best commentary on the Vedic culture. The epic describes the four stages or ashramas and considers them as the ladder with the four steps and by climbing up it man altain ***Moksa.*** [5] The four classes or varnas add described in the Mahabharata were considered equal they based on ***Gun and Karma.*** [6]and not only on birth man could change varna. The Mahabharata describes the four aspiration are Purusharthas. The discussion of these four purusharthas in the epics touches the physical, mental, emotional, Social political, ethical and spiritual life of man. About the discussion of these four purusharthas the epic states that as regards to Dharma artha kam and moksh whatever is found here, is found elsewhere, but what is not found here, is found no where. [7]

The Mahabharata also described the Ideal political system. According to the epic at for political situation is concerned everything depends upon the king. The king who makes and changes the situation. [8]The ramayana and Mahabharata are also the books on morality. Both the apex describe good and bad characters. The epic expect that people should follow good characters and should not follow bad characters. People should behavelike ram and yudhishthir and not like ravan and duryodhan. These both the epics insist on leading a moral life under any conditions or in any adversity. Both the epics illustrate the noble Vedic culture that has welfare of the world at its heart.

**References:-**

1) Apte V. S., ***The Student's Sanskrit Dictionary*** : Delhi : Motilal Banarasidas, 1929, P 86

2) Vaidya C. V., ***Mahabharata : A Criticism*** : Delhi : The Sanskrit Book Depot, 1966, P 62

3) Shri Aurobindo, ***Vyasa and Valmiki*** : Pondicherry : Aurobindo Ashram Press, 1956, P214

4) Sunderkanda, 35.11

5) Shantiparva, 241. 15

6) Bhismaparva, 28.14

7) Adiparva, 62.52

8) Shantiparva, 69.79

# आदि शंकराचार्य रचित अन्नपूर्णास्तोत्रम् में प्राप्त विशेषण की भाषा और भारतीय संस्कृति

**कणझरिया हरेश. जी**
सरदार पटेल विश्वविद्यालय, वल्लभ, विद्यानगर

**प्रस्तावना** : - जब से सृष्टि में मानव का सर्जन हुआ, तब से लेकर अब तक मानव के दिल में सदैव प्यार बहता रहा है। ये दिल के प्यार का संबंध स्तोत्र के साथ है। जीवन के सुख और दु:ख में मानव ईश्वर के पास नतमस्तक हो जाता है। इस समय दिल से जो उद्गार निकलते है, उसको हम "स्तोत्र" कहते है।

**अन्नपूर्णास्तोत्रम् के यह स्वरूप मूलक विशेषण है।**

**सौन्दर्यरत्नाकरी, त्रिनयनी, सुन्दरी**

सुन्दरी - स्वाभाविक सुन्दरी।

अन्न से जीवन रक्षा करने वाली देवी से अधिक सुंदर और कौन हो सकता है ? अपनी यादाश्त की रक्षा करने वाली देवी से अधिक सुंदर कौन हो सकता है ? महाभारत में भीम को कुन्ती भोजन देती है तब वह तृप्त हो जाता है। इस प्रकार भोजन देने वाली माँ सभी से सुंदर है।

नानारत्नविचित्रभूषणकरी- रत्न से युक्त आभूषण।

पृथ्वी रत्न से युक्त है। यहाँ अन्न देने वाली देवी शक्ति की कल्पना रत्नों के आभूषण के साथ की गई है। मेरी दृष्टि से अन्न ही सच्चा रत्न है। यह स्वरूप मूलक विशेषण इसलिए बहुत उत्तम है। स्वरूप मूलक विशेषण देवी के एक सगुण रूप का सर्जन कर रहे है।

**योगानन्दकरी रिपुक्षयकरी धर्मार्थनिष्ठाकरी**
**चन्द्रार्कानलभासमानलहरी त्रैलोक्यरक्षाकरी।**
**सर्वैश्वर्यसमस्तवाञ्छितकरी काशीपुराधीश्वरी**
**भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी माताऽन्नपूर्णेश्वरी॥** [1]

योगानन्दकरी- योगी पुरुषों के योग के द्वारा तुम्ही आनन्द देती है, पतंजलि मुनि का योग दर्शन जिस का वर्णन है वह योग का आनंद देने वाली।

रिपुक्षयकरी- अपने भक्त जनों के शत्रुओं का नाश करती हो। विनाशय च दुष्कृताम।

धर्मार्थनिष्ठाकरी- धर्म और धन के साधन में भी तुम्ही सहाय करती हो, अत एव उन कार्यों में दृढ़ निष्ठा निर्माण करने वाली। महापुरुष का जन्म धर्म की स्थापना के लिए होता है। [2]

चन्द्रार्कानलभासमानलहरी- तेज चन्द्रमा और सूर्य समान प्रकाशित है।

त्रैलोक्यरक्षाकरी- त्रिलोक की रक्षा करती हो।

सर्वैश्वर्यसमस्तवाञ्छितकरी- भक्तों के समस्त मनोरथों को पूर्ण करके संपूर्ण ऐश्वर्य प्रदान करती है-

**कैलासाचलकन्दरालयकरी गौरी उमा शङ्करी**
**कौमारी निगमार्थगोचरकरी ओङ्कारबीजाक्षरी।**

---

1 अन्नपूर्णास्तोत्रम्, श्लोक - ३, अनु. रत्नभट्टाचार्य, प्रका. खेमराज श्री कृष्ण दास, सन् - २००५,
पृष्ठ. ७

2 સૌદર્યલહરી શંકરાચાર્ય રચિત, સંપા. ગિરીજાશંકર વિશ્વનાથ પાઠક, પ્રવીણ પ્રકાશન, રાજકોટ, ત્રીજી આવૃત્તિ, સન્ - ૨૦૧૮, પૃષ્ઠ ૯

**मोक्षद्वारकपाटपाटनकरी काशीपुराधीश्वरी**

**भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी माताऽन्नपूर्णेश्वरी ॥** [1]

कैलासाचलकन्दरालयकरी- तुमने कैलास पर्वत की कन्दाओं में अपना स्थान बनाया है।

गौरी- अत्यन्त गौरवर्ण वाली।

शङ्करी- शंकर महादेव की पत्नी।

कौमारी- शक्तिस्वरूपा

निगमार्थगोचरकरी- वेदशास्त्रादिकों के अर्थ करनेवाली [2]

ओङ्कारबीजाक्षरी- ओंकार स्वरूप बीजाक्षर वाली

मोक्षद्वारकपाटपाटनकरी- मोक्ष मार्ग के कपाट खोलने में केवल एक तुम्ही समर्थ-

**दृश्यादृश्य विभूतिवाहनकरी ब्रह्माण्डभाण्डोदरी**

**लीलानाटकसूत्रभेदनकरी विज्ञानदीपाङ्कुरी।**

**श्रीविश्वेशमनः प्रसादनकरी काशीपुराधीश्वरी**

**भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी माताऽन्नपूर्णेश्वरी ॥** [3]

दृश्यादृश्य विभूतिवाहनकरी- संपूर्ण स्थूल सूक्ष्म जीवों को भोजन दान कर उनको सब प्रकार की शक्तियों से संपन्न करने वाली हो।

ब्रह्माण्डभाण्डोदरी- निखिल ब्रह्माण्ड तुम्हारे उदर रूप भाण्ड (पात्र) में स्थित है।

---

[1] अन्नपूर्णास्तोत्रम्, श्लोक - ४, तदेव, पृष्ठ ०८

[2] अन्नपूर्णास्तोत्रम्, तदेव, पृष्ठ ०७

[3] अन्नपूर्णास्तोत्रम्, श्लोक - ५, तदेव, पृष्ठ ०७

लीलानाटकसूत्रभेदनकरी- अपनी शक्ति द्वारा संपूर्ण चराचर को स्वकीय कार्यों में प्रवृत्त करती हो।

विज्ञानदीपाङ्कुरी- ज्ञानरूप दीपक की शिखा हो।

श्रीविश्वेशमनःप्रसादनकरी- अपने विशेष मन से श्रीमान् विश्वनाथ भगवान् के मन को संतुष्ट करती हो।

**उर्वी सर्वजनेश्वरी भगवती माताऽन्नपूर्णेश्वरी**
**वेणीनीलसमानकुन्तलधरी नित्यान्नदानेश्वरी।**
**सर्वानन्दकरी सदाशुभकरी काशीपुराधीश्वरी**
**भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी माताऽन्नपूर्णेश्वरी॥** [1]

उर्वी सर्वजनेश्वरी- पृथ्वी के सभी जीव की श्रेष्ठ माता।

भगवती- भगवत तत्व का मातृ स्वरूप।

माताऽन्नपूर्णेश्वरी- अन्न रूपी औषधि प्रदान करने वाली।

वेणीनीलसमानकुन्तलधरी- जिनके केश नीले वर्ण से शोभित है वह।

नित्यान्नदानेश्वरी- सभी प्रकार के समय अन्न देने वाली।

सर्वानन्दकरी- सभी को आनन्द देने वाली।

सदा शुभकरी- सदा शुभ करने वाली।

**आदिक्षान्तसमस्तवर्णनकरी शम्भोस्त्रिभावाकरी**
**काश्मीरा त्रिजलेश्वरी त्रिलहरी नित्याङ्कुरा शर्वरी।**
**कामाकाङ्क्षकरी जनोदयकरी काशीपुराधीश्वरी**
**भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी माताऽन्नपूर्णेश्वरी॥** [1]

---

[1] अन्नपूर्णास्तोत्रम्, श्लोक - ९, तदेव, पृष्ठ ०९

आदिक्षान्तसमस्तवर्णनकरी- दीक्षित होकर शिक्षा देने वाली।

शम्भोस्त्रिभावाकरी- सभी संसार को भाव देने वाली।

काश्मीरा- भारत के उपदेश प्रदेश की अधिष्ठात्री साहित्य की निर्मिती जो प्रदेश में अधिक मात्रा में हुई है वह प्रदेश।

त्रिजलेश्वरी- सभी जल प्रदान करने वाली।

त्रिलहरी- सत्व रज और तम की लहर।

नित्याङ्कुरा- नित्य नूतन

कामाकाङ्क्षकरी- सभी कि मनोकामना पूर्ण करनेवाली।

जनोदयकरी- सभी जन का उदय करने वाली।

काशीपुराधीश्वरी- ज्ञानी लोगों की अधिपति।

**भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी माताऽन्नपूर्णेश्वरी।** [2]

है अन्न पूर्णेश्वर माँ मुझे भिक्षा प्रदान कर।

**देवी सर्वविचित्ररत्नरचिता दाक्षायणी सुन्दरी**
**वामे स्वादुपयोधरा प्रियकरी सौभाग्य माहेश्वरी।**
**भक्ताभीष्टकरी सदाशुभकरी काशीपुराधीश्वरी**
**भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी माताऽन्नपूर्णेश्वरी॥** [3]

देवी सर्वविचित्ररत्नरचिता- तुम्हारा शरीर विचित्र रत्नों के आभूषणों से अलंकृत है।

दाक्षायणी- सती रूप से दक्ष- प्रजापति के घर उत्पन्न होकर

---

1 अन्नपूर्णास्तोत्रम्, श्लोक - ७, तदेव, पृष्ठ १०

2 પ્રશિષ્ટ સંસ્કૃત છન્દો, લેખક - ડૉ. એમ. કે. મોલિયા, પ્રકા. પાર્શ્વ પબ્લિકેશન, અમદાવાદ, ત્રીજી આવૃત્તિ સન્ - ૨૦૧૫, પૃષ્ઠ ૬૫

3 अन्नपूर्णास्तोत्रम्, श्लोक - ८, तदेव, पृष्ठ ११

दाक्षायणी।

वामे स्वादुपयोधरा- स्तनों का मधुर दुग्धपान करा के हित करनेवली।

प्रियकरी- सभी को प्रिय

सौभाग्य- सच्चा सौभाग्य

माहेश्वरी- सबकी महा ईश्वरी

भक्ताभीष्टकरी- अपने भक्तों के मनोरथों को पूर्ण करने वाली

सदाशुभकरी- सभी समय शुभ करने वाली

**चन्द्रार्कानलकोटिकोटिसदृशा चन्द्रांशुबिम्बाधरी**
**चन्द्रार्काग्निसमानकुण्डलधरी चन्द्रार्कवर्णेश्वरी।**
**मालापुस्तकपाशसाङ्कुशधरी काशीपुराधीश्वरी**
**भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी माताऽन्नपूर्णेश्वरी॥** [1]

चन्द्रार्कानलकोटिकोटिसदृशा- तुम करोड़ों चन्द्रमा असंख्य सूर्य और अनगिनत अग्नि के समान हो

चन्द्रांशुबिम्बाधरी- चन्द्र समान

चन्द्रार्काग्निसमानकुण्डलधरी- सूर्य, चन्द्रमा और उनके तुल्य देदीप्यमान कुंडल धारण किये हैं।

चन्द्रार्कवर्णेश्वरी- चन्द्रमा और सूर्य के समान तुम्हारा उज्ज्वल वर्ण है।

मालापुस्तकपाशसाङ्कुशधरी- तुमने अपने एक एक हाथमें क्रम से माला, पुस्तक, पाश और अंकुश को धारण किये हैं।

---

[1] अन्नपूर्णास्तोत्रम्, श्लोक - ९, तदेव, पृष्ठ १२

**क्षत्रत्राणकरी महाऽभयकरी माता कृपासागरी**
**साक्षान्मोक्षकरी सदा शिवकरी विश्वेश्वरी श्रीधरी।**
**दक्षाक्रन्दकरी निरामयकरी काशीपुराधीश्वरी**
**भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी माताऽन्नपूर्णेश्वरी॥** [1]

क्षत्रत्राणकरी- तुम्ही अपना आश्रय देकर सबकी रक्षा करती है।

महाऽभयकरी- सबको अभयदान देती है।

माता कृपासागरी- तुम्ही कृपा के सागर रूपा है।

साक्षान्मोक्षकरी- मोक्षपद को देने वाली भी है। श्रीमद् भगवद्गीता गीता के अध्याय २ में स्थितप्रज्ञ की उत्तम अवस्था का वर्णन किया गया है, यह साक्षान्मोक्षकरी विशेषण का अर्थ है। [2]

सदा शिवकरी- सदा सबका मंगल विधान करती है।

विश्वेश्वरी श्रीधरी- अखिल विश्व का पालन पोषण करने वाले।

दक्षाक्रन्दकरी- यज्ञ में विघ्न करके उसे रोदन करानेवाली तुम्ही है।

निरामयकरी- सबको आरोग्य दान करती है।

अन्नपूर्णे- जीवन का पोषण करने वाली।

सदापूर्णे- समस्त सौभाग्य से सदा भरपूर।

**अन्नपूर्णे सदापूर्णे शङ्करप्राणवल्लभे।**
**ज्ञानवैराग्यसिद्ध्यर्थं भिक्षां देहि च पार्वति॥** [3]

---

1 अन्नपूर्णास्तोत्रम्, श्लोक - १०, तदेव, पृष्ठ १३

2 श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य, अनुवादक केशवलाल वि. शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, सप्तम आवृत्ति सन् - २०१७, पृष्ठ ३८

3 अन्नपूर्णास्तोत्रम्, श्लोक - ११, तदेव, पृष्ठ १३

शङ्करप्राणवल्लभे- कल्याण कर्ता महादेव के प्राणों के समान प्यारी हो।

ज्ञानवैराग्यसिद्ध्यर्थं भिक्षां देहि च पार्वति- ज्ञान और वैराग्य की सिद्धि का अर्थ मुझे भी भिक्षा प्रदान करो।

**माहेश्वरीमाश्रितकल्पवल्लीमहम्भवोच्छेदकरी भवानीम्।**

**क्षुधार्तजायातनयाद्युपेतस्त्वामन्नपूर्णे शरणं प्रपद्ये॥** [1]

यह श्लोक में स्तोत्र का एक विशेष अर्थ प्राप्त हो रहा है। भूख के कारण माँ के पास बच्चा जा रहा है यह जीवन का एक सत्य है की जब भूख लगती है तब बच्चा माँ के पास ही जाता है। इस तरीके से बेटा अपनी माँ के पास जाता है।

दारिद्र्यदावानलदह्यमानं- दरिद्रता का दावानल दूर करने वाली।

गिरिराजकन्ये- गिरिराज कन्या।

कृपाम्बुधौ मज्जय मां त्वदीये- तुम्हारी कृपा मुझ पर सदैव रहे।

त्वत्पादपद्मार्पितचित्तवृत्तिम्- मेरा चित्त तेरा ही ध्यान करे।

शंकराचार्य का यह स्तोत्र बहुत विशेषण से युक्त है। जीवन पोषण करने वाली देवी शक्ति को अन्नपूर्णा कहकर देवी शक्ति के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है।

## संदर्भ-ग्रंथ-सूचि:-

१. अन्नपूर्णास्तोत्रम्, श्लोक - ३, अनु. रत्नभट्टाचार्य, प्रका खेमराज श्री कृष्ण दास, सन् - २००५

[1] अन्नपूर्णास्तोत्रम्, श्लोक - १२, तदेव, पृष्ठ १५

२. સૌદર્યલહરી શંકરાચાર્ય રચિત, સંપા. ગિરીજાશંકર વિશ્વનાથ પાઠક, પ્રવીણ પ્રકાશન, રાજકોટ, ત્રીજી આવૃત્તિ, સન્ - ૨૦૧૮
३. प्रशिष्ट संस्कृत छन्दो, लेखक - डॉ. એમ. કે. મોલિયા, પ્રકા. પાર્શ્વ પબ્લિકેશન, અમદાવાદ, ત્રીજી આવૃત્તિ, સન્ - ૨૦૧૫
४. श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य, अनुवादक केशवलाल वि. शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, सप्तम आवृत्ति सन् - २०१७

## कोशग्रन्थ

१. अमरकोष, (काशी संस्कृत ग्रन्थमाला), पं. हरगोविन्द शास्त्री, प्रका. चौखम्बा संस्कृत सीरीज, प्रथम संस्करण, वि. सं. - २०२५

# भगवान शिव की अष्टमूर्ति या प्रकृति के अष्टरूप

**डॉ. सुबोध कुमार साहू**
सहायक प्राध्यापक, संस्कृत विभाग
संत कोलम्बा महाविद्यालय, विनोबा भावे विश्वविद्यालय

शोध सारांश:– समस्त प्राणिजगत् प्रकृति पर आश्रित है। प्रकृति में रहकर ही सभी प्राणी जीवन धारण करते हैं। प्रकृति के आठ रूप हैं- जल, अग्नि, होता, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायु। प्रकृति के ये आठों रूप यदि स्वच्छ और निर्मल तथा प्रसन्न हैं तो इनके सहयोग से यह जीव-जगत् सदा स्वस्थ रहता है। महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् के नान्दीपाठ में प्रकृति के इन आठों रूपों का भगवान् शिव की अष्टमूर्तियों के रूप में स्मरण किया है-

**या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री**
**ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।**
**यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः**
**प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।।**

अभिज्ञान शाकुंतलम १.१

यहां महाकवि कालिदास ने प्रकृति को शिव और प्रकृति के अष्टरूपों को शिव की अष्टमूर्तियाँ माना है। इन अष्टमूर्तियों का सीधा संबंध पृथ्वी के जीव-जगत् से है। पौराणिक ग्रन्थों में भी भगवान

शिव की अष्टमूर्तियों का विवेचन प्राप्त होता है।

**'भूमिरापोऽनलो वायुरात्मा व्योम रविश्शशी। इत्यष्टौ सर्वलोकानां प्रत्यक्षा हरमूर्तयः ॥**

**'सूर्यो जलं मही वह्निर्वायुराकाशमेव च। दीक्षितो ब्राह्मणः सोम इत्येतास्तनवः स्मृताः।।'**

विष्णुपुराण १.८.८

इस प्रकार भगवान शिव की अष्टमूर्ति या अष्टरूपा प्रकृति तो निरन्तर हमारे कल्याण मे लगी रहती है, किंतु आज समस्त वातावरण, समस्त परिवेश, अन्न, जल, वायु सभी कुछ दूषित होता जा रहा है तो फिर रोग बढ़ें, कोरोना आदि महामारी फैले, प्राकृतिक प्रकोप बढ़ें तो इसमें आश्चर्य कैसा। आज के दूषित समय में सर्वथा आरोग्य रह पाना बड़ा कठिन हो गया है। प्रकृति के साथ की जा रही छेड़छाड़ को यदि हमने नहीं रोका तो वह दिन दूर नहीं, जब हम सबका सर्वनाश सुनिश्चित होगा।

**संकेत शब्दः–** पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्र, होता, प्रकृति

सभी प्राणी प्रकृति में रहकर उनकी सत्ता से ही जीवन धारण करते हैं, उसे प्रकृति के आठ रूप आरोग्य प्रदान करते हैं। प्रकृति के आठ रूप हैं- जल, अग्नि, होता, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायु प्रकृति के ये आठों रूप यदि स्वच्छ और निर्मल तथा प्रसन्न हैं तो इनके सहयोग से यह जीव-जगत् सदा स्वस्थ रहता है। महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् के नान्दीपाठ में प्रकृति के इन

आठों रूपों का भगवान् शिव की अष्टमूर्तियों के रूप में स्मरण किया है-

**या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या या च होत्री**
**ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।**
**यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः**
**प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।।**

यहां महाकवि कालिदास ने प्रकृति को शिव और प्रकृति के अष्टरूपों को शिव की अष्टमूर्तियाँ माना है। इन अष्टमूर्तियों का सीधा संबंध पृथ्वी के जीव-जगत् से है। इसे निम्नतया स्पष्ट किया जा सकता है:–

प्रथमा मूर्तिः- जब विधाता ने सृष्टि की रचना की तो सर्वप्रथम उन्होंने जल की रचना की। जैसा कि मनु का कथन है- 'सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत् शतपथ ब्राह्मण में भी इसी प्रकार के संकेत प्राप्त होते हैं- आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्।

द्वितीया मूर्तिः- प्रकृति अर्थात् शिवका द्वितीय रूप 'अग्नि' है, जिसे कालिदास ने 'वहति विधिहुतं या हविः' के रूप में स्मरण किया है, जिसका अर्थ हैं कि जो मूर्ति विधिपूर्वक हवन की गयी हव्य-सामग्री को ग्रहण कर उसका वहन करती है अर्थात् अग्नि। अग्नि द्वारा हवि का वहन किये जाने के विषय में श्रुति में भी उल्लेख प्राप्त होता है– "इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यम् वहतु प्रजानन्। अग्नि समस्त प्रकार के रोगों को अपने प्रभाव से नष्ट कर देती है। इस

प्रकार अग्नि प्राणी के बहुत से रोगों- मन्दाग्नि आदि को नष्ट करके उसके शरीर को आरोग्य प्रदान कर स्वस्थ बनाती है। मनुस्मृति में कहा गया है कि यज्ञवेदी की अग्नि में डाली जानेवाली आहूति सूर्य के पास पहुँचती है। सूर्य ही वर्षा के कर्ता हैं, वर्षा से ही खेतों में अन्न पैदा होता है और इसी अन्न से प्रजा का पालन होता है।

**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।**

**आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥**

चतुर्था और पञ्चमा मूर्ति- 'ये द्वे कालं विधत्तः ' महाकवि कालिदास के इस वाक्य से जो दो मूर्तियाँ अर्थात् सूर्य और चन्द्र काल-विधात्री है, अर्थात् दिन, रात्रि, मास, ऋतु, वर्ष आदि काल का विधान करने वाली है। वे प्रकृति अर्थात् शिव के चतुर्थ और पञ्चम रूप हैं, जिनका इस सृष्टि से अटूट सम्बन्ध है। सूर्य समस्त जगत् की आत्मा हैं। "सूर्य आत्मा जगतस्थुषश्च" ये जगत् के नेत्र और सविता अर्थात् जनक हैं। इनके बिना हम सब अन्धे हैं। यदि ये न हों तो पृथ्वी पर कुछ भी उत्पन्न नहीं होगा। इन्हीं के प्रतिदिन उदित होने से संसार की गतिविधियाँ चलती हैं। अपनी किरणों से ये जीव जगत्को आरोग्य प्रदान करते हैं। "सूर्यस्ते तन्वे शं तपाति" इसीलिये आरोग्य के अभिलाषी को सूर्योपासना करने का निर्देश शास्त्रों में प्राप्त है- 'आरोग्यं भास्करादिच्छेत्। '

सूर्यदेवता की नित्य आराधना से व्यक्ति कभी भी किसी बड़ी बीमारी का शिकार नहीं होता है। भगवान सूर्य धन और यश भी देते हैं--

**शरीरारोग्य-कृच्चैव धनवृद्धि-यशस्करः।**

**जायते नात्र संदेहो यस्य तुष्येत् दिवाकरः।।**

चन्द्रमा निशापति और ओषधिपति हैं। "नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः" ये औषधियों में रसों का सञ्चार करते हैं और उन्हें पुष्टकर प्राणियों को आरोग्य प्रदान करते हैं। उन पुष्ट औषधियों का सेवन प्राणी करते हैं, जिससे शरीर नीरोग होता है। ओषधियों को पुष्ट करने के कारण चंद्रमा को महाकवि कालिदास ने ओषधीनां पतिः कहा है -

**यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनामाविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।**

**तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां लोको नियम्यत इवैष दशान्तरेषु॥**

चन्द्रमा की किरणों से ओषधियों की वृद्धि होती है अतः उसे 'ओषधीश' कहा जाता है। ओषधियां प्राणों को बचाती हैं और वे रोगनाशक हैं। किन्तु समय बदल जाने पर ओषधियों की तो बात ही क्या है ओषधीश (चन्द्र) भी नहीं बच पाता। भाव यह है कि चन्द्र और सूर्य अपनी उन्नति और अवनति के द्वारा मानो हमें यह शिक्षा दे रहे हैं कि उन्नति और अवनति परिवर्तन-शील है। जो आज उन्नत है वह कल अवनत हो जाएगा और जो आज अवनत है वह कल उन्नत हो जाएगा।

षष्ठी मूर्ति- प्रकृति का छठा रूप आकाश है, जिसे 'श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्' कहकर कालिदास ने शिव

की छठी मूर्ति बताया है। इस आकाश में अनन्त ब्रह्माण्ड और अनेक गङ्गाएँ समाहित हैं। इसका रूप सर्वाधिक विशाल है। यह समस्त जीव जगत् को श्रवणशक्ति प्रदान करता है। अर्थात् आकाशरूप मूर्ति का श्रावण प्रत्यक्ष होता है। यथा - 'शब्द गुणकमाकाशम्'। 'आकाशस्य च विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः'- (सिद्धान्तमुक्तावली)। 'श्रोत्रेन्द्रिग्राह्यो गुणः शब्दः'।

सप्तमी मूर्ति- प्रकृति का सप्तम रूप पृथ्वी है, जिसे कालिदास 'यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति' अर्थात् जिसे समस्त बीजों को उत्पन्न करने वाली कहकर स्मृत किया है। पृथ्वी अन्नादि समस्त बीजों की जननी है। अन्नादि से प्राणियों की क्षुधा शान्त होती है और शरीर हृष्ट-पुष्ट होता है। अतः पृथ्वी अपने से उत्पन्न अन्न, वनस्पति आदि से प्राणियों को आरोग्य प्रदान करती है। अतः इसे सभी बीजों का कारण कहते हैं। यथा- 'इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते'।

पौराणिक ग्रन्थों में भी भगवान शिव की अष्टमूर्तियों का विवेचन प्राप्त होता है।

**'भूमिरापोऽनलो वायुरात्मा व्योम रविश्शशी।**

**इत्यष्टौ सर्वलोकानां प्रत्यक्षा हरमूर्तयः ॥**

**'सूर्यो जलं मही वह्निर्वायुराकाशमेव च।**

**दीक्षितो ब्राह्मणः सोम इत्येतास्तनवः स्मृताः।। '**

इस प्रकार भगवान शिव की अष्टमूर्ति या अष्टरूपा प्रकृति तो निरन्तर हमारे कल्याण मे लगी रहती है, किंतु आज समस्त वातावरण, समस्त परिवेश, अन्न, जल, वायु-सभी कुछ दूषित होता

जा रहा है तो फिर रोग बढ़ें, कोरोना आदि महामारी फैले, प्राकृतिक प्रकोप बढ़ें तो इसमें आश्चर्य कैसा। आज के दूषित समय में सर्वथा आरोग्य रह पाना बड़ा कठिन हो गया है। प्रकृति के साथ की जा रही छेड़छाड़ को यदि हमने नहीं रोका तो वह दिन दूर नहीं, जब हम सबका सर्वनाश सुनिश्चित होगा।

पहले हमारे समस्त कर्म यज्ञ द्वारा प्रकृति के इन अष्टरूपों में से अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि की आराधना और उपासना की दृष्टि से होते थे। यज्ञ हवन-होमादि में निक्षिप्त घृतादि हव्य-सामग्री से उत्पन्न सुगन्धित धूमों से समस्त पर्यावरण सहित वातावरण शुद्ध तथा सुगन्धित होता रहता था, किंतु आज हमारे कर्म उद्योग तथा व्यापार की दृष्टि से हो रहे हैं, जिसके कारण धुआं उगलते वाहनों और घर विस्फोटकों के जहरीले धुएँ से न केवल नगरों की अपितु ग्रामीण क्षेत्रों का वायु भी इतना कलुषित तथा प्रदूषित हो चुका है कि उसे इन फेफड़ों में भरना खतरे से खाली नहीं है। यह सब हो रहा है और हम सब ऐसा करते रहे तो प्रकृति अर्थात् शिव के इन अष्टरूपों को विकृत (रुद्र) रूप धारण करना ही होगा, जिससे विभिन्न घातक रोगों की उत्पत्ति अनिवार्य है।

**दुस्तोयपानाद्विषमाशनाच्च दिवाशयाज्जागरणाच्च रात्रौ।**

**संरोधनान्मूत्रपुरीषयोश्च षड्भिः प्रकारैः प्रभवन्ति रोगाः ॥**

अर्थात् दूषित जलपान, विषम भोजन, दिन में शयन, रात्रि में जागरण, मूत्र और पुरीष (मल)-के रोकने से रोग उत्पन्न होते हैं। प्रथम दो कारणों को छोड़कर शेष चार कारणों से जो रोग उत्पन्न होते हैं, उन्हें व्यक्ति अपने उस आचरण को छोड़कर रोगों से मुक्त हो

सकता है और आरोग्य का लाभ प्राप्त कर सकता है। प्रथम दो कारणों में दूषित जल को उबालकर शुद्ध किये गये जलपान से और विषम भोजन त्याग कर सम भोजन करने से व्यक्ति नीरोग रह सकता है। हमारे द्वारा की गयी अनुचित छेड़छाड़ के कारण आज न तो जल ही शुद्ध रहा है और न ही अन्न। दूषित अन्न के सेवन से न जाने कितने विषैले तत्त्वों को हम उदरस्थ कर शारीरिक विकृतियों को प्राप्त कर रहे हैं।

हमारे पूर्वज प्रकृति के इन अष्टरूपों की आराधना और उपासना करते थे। ऋग्वेद उपासना सूक्तों से भरा पड़ा है, जिनमें उषः सूक्त, अग्निसूक्त, वरुणसूक्त, सूर्यसूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त आदि पठनीय हैं। सूर्य के विषय में तो सविता, पूषा, मित्र आदि सूक्तों में भी वर्णन प्राप्त होता है। वरुण जल के देवता हैं। वरुणसूक्त में जल के विषय में वर्णन मिलता है। इनके अतिरिक्त विष्णु, रुद्र, मरुत्, पर्जन्य आदि पर उपासनासूक्त मिलते हैं, इनमें वायु के विषय में मरुत्सूक्त है। प्रकृति पूर्वजों की पूज्या थी, किंतु हमारे लिये भोग्या है। इसलिये हमारे समस्त कार्य जो विकास, प्रगति और उन्नति के नाम पर हो रहे हैं, वे सब प्रकृति-विरोधी हैं। प्रकृति का विरोध विनाश और मरणको आमन्त्रित करना है।

अब भी समय है कि हम उन कार्यों से विरत हों, जिन कार्यों के करने से प्रकृति कलुषित और प्रदूषित हो रही है। जब प्रकृति के अष्टरूप पूर्ववत् स्वच्छ, निर्मल और प्रसन्न होंगे तो फिर हमें कोई रोग नहीं होगा और हम नीरोग रहेंगे। अतः हम महाकवि कालिदास के शब्दों में प्रकृति (शिव) के उन प्रत्यक्ष अष्टरूपों (मूर्तियों) की स्तुति

करते हैं, वे सबको रक्षा (आरोग्य) प्रदान करें-

**प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।**

**संदर्भ-ग्रन्थ-सूची:-**


१. अभिज्ञानशाकुंतलम्, मालवीय डॉ. सुधाकर , चौखंभा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, २०१७

२. अथर्ववेद संहिता, शर्मा पं श्रीराम, युगनिर्माण योजना प्रेस, हरिद्वार २०१५

३. ऋग्वेद संहिता, शर्मा पं श्रीराम, युगनिर्माण योजना प्रेस, हरिद्वार २०१५

४. यजुर्वेद संहिता, शर्मा पं श्रीराम, युगनिर्माण योजना प्रेस, हरिद्वार २०१५

५. मनुस्मृति, जायसवाल सुरेश, साधना पब्लिकेशन , दिल्ली, २००७

६. लिंगपुराण, शास्त्री पं द्वारका प्रसाद मिश्र, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी

७. मत्स्य पुराण, गीता प्रेस गोरखपुर

८. विष्णु पुराण गीता प्रेस गोरखपुर

९. शांकरभाष्य ईशादि नौ उपनिषद , गीता प्रेस गोरखपुर, २००४

१०. पद्मपुराण, द्विवेदी आचार्य शिवप्रसाद, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, २०१६

११. तर्कसंग्रह, रेग्मी आचार्य शेषराज शर्मा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, २०२२

१२. सुभाषित पद्य रत्नाकर, विशाल विजय, जिनशान आराधना ट्रस्ट, २०२०

१३. रघुवंश महाकाव्य, मिश्र पं श्री ब्रह्मशंकर, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, २०१३

# भाषा और संस्कृति का वर्तमान सामाजिक संदर्भ

**शीतल जोशी**
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविधायालय, अलीगढ़

**प्रस्तावना:**

भाषा और संस्कृति हर समाज की नींव होती है, जो उसकी विशेषता और विविधता को परिचित कराते हैं। इन दोनों के बीच गहरा संबंध है, जिसे समाज में विभिन्न समाजिक परिवर्तनों के साथ देखा जा सकता है। इस लेख में, हम बात करेंगे "भाषा और सांस्कृतिक वर्तमान सामाजिक संदर्भ" के विषय पर।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में उसे सदैव विचार-विनिमय करना पड़ता है। भाषा वह साधन है जिसके माध्यम से हम सोचते हैं और अपने विचारों को व्यक्त करते हैं।

**'भाषा' शब्द संस्कृत की 'भाष' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'बोलना' या 'कहना' और' व्यक्त वाणी '**

**स्वीट के अनुसार**- "ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा विचारों को प्रकट करना ही भाषा है"।

समाज के परिप्रेक्ष्य में भाषा का अध्ययन समाज भाषा-विज्ञान के अंतर्गत आता है, इसमें भाषा और उसे बोलने वाले समाज के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों का अध्ययन करते हैं।

भाषा और संस्कृति दो ऐसे महत्वपूर्ण स्तम्भ हैं जो हर समाज की नींव को मजबूती से बाँधते हैं। आधुनिक समय में इन दोनों के

बीच का संबंध न केवल सामाजिक परिवर्तनों का प्रतीक है, बल्कि यह समय की धाराओं, तकनीकी प्रगति और व्यक्तिगत दृष्टिकोणों की परिस्थितियों को भी प्रतिबिंबित करता है। आधुनिक समय में भाषा और सांस्कृतिकता एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं और इससे समाज में बदलाव आया है।

भाषा और संस्कृति का वर्तमान सामाजिक संदर्भ से तात्पर्य यह है कि भाषा ही मानव को समाज और संस्कृति से जोड़ती है। इसका तात्पर्य है कि जब भाषा सीखी जाती है तब उसे सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश को भी ध्यान में रखना चाहिए जिसमें वह देखी जा रही है और ज्ञान को भी उसी से जोड़ना चाहिए। भाषा और संस्कृति का हमारे समाज पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। तत्कालीन समाज पर उस स्थान की भाषा और संस्कृति का विशेष प्रभाव देखने को मिलता है।

उदाहरण के लिए एक विज्ञापन तभी प्रभावी बनता हैं जब उस संस्कृति से संबंधित क्रिया को उचित भाषा के प्रयोग द्वारा प्रस्तुत किया जाए।

आधुनिक समय में भाषा और सांस्कृतिकता का महत्व निरंतर बदल रहा है। यह बदलाव समृद्धि, तकनीकी प्रगति, और वैशिष्ट्यपूर्णता के सीधे असर का परिणाम है। यह दोनों समाज के एकमेव बदलते चेहरे को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक हैं। यह दोनों ही सामाजिक संरचना को प्रभावित करके समृद्धि, विकास और सामाजिक न्याय में बदलाव कर सकते हैं।

**भाषा का स्वरुप:-**

आधुनिक समय में भाषा के स्वरुप में भी बदलाव हुआ है। तकनीकी प्रगति ने भाषा को एक नए स्तर पर लाया है, जिससे लोग अब व्यापक रूप से आपसी संवाद कर सकते हैं। सोशल मीडिया, वेबसाइट्स, और डिजिटल मीडिया के आगमन ने भी भाषा के उपयोग में वृद्धि की है और इसे एक सामाजिक साधन बना दिया है।

**आधुनिक भाषा का स्वरुप:-**

आधुनिक समय में भाषा के स्वरुप में विद्यमान परिवर्तनों की शुरुआत हुई है। तकनीकी प्रगति ने इन्टरनेट, सोशल मीडिया, और डिजिटल माध्यमों के साथ भाषा का उपयोग करने का नया ढंग स्थापित किया है। लोग अब व्यापक रूप से भाषा का उपयोग करके विश्व के हर कोने से जुड़ सकते हैं।

आज के समय में सांस्कृतिक समर्थन की बात करें तो इसमें भी नए आयाम आ गए हैं। सोशल मीडिया, वेबसाइट्स, और विभिन्न ऑनलाइन प्लेटफॉर्म्स के माध्यम से लोग अपनी सांस्कृतिक विरासत को सजीव बनाए रखने के लिए सकारात्मक योगदान दे रहे हैं। भाषा सिर्फ एक साधन ही नहीं बल्कि यह सांस्कृतिक समरसता को बढ़ावा देने में भी एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। भाषा और संस्कृति समृद्ध समाज की नींव होते हैं और इन्हें सही रुप से समझकर उपयोग करना जरूरी है।

**भाषा का सामाजिक अर्थ:-**

भाषा को सिर्फ शब्दों का समूह नहीं माना जा सकता, बल्कि

इसे सामाजिक संरचना का भी एक हिस्सा माना जाना चाहिए। भाषा समाज में संबंध बनाए रखने, विचारों को व्यक्त करने और सामाजिक आपसी संबंधों को मजबूत करने का माध्यम है। इसके माध्यम से लोग अपने भावनाओं, विचारों और अभिवादन को साझा करते हैं, जिससे एक सामूहिक और सांस्कृतिक एकता बनती है।

**संस्कृति शब्द का अर्थ:-**

'संस्कृति 'शब्द 'सम' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से सुट आगम करके 'क्तिन 'प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है **'अलंकृत सम्यक कृति अथवा चेष्टा**। जिन कृतियों अथवा चेष्टाओं के द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख-शांति की व्यवस्था करता है, उनकी संज्ञा संस्कृति है। संस्कृति को अँग्रेजी में **'culture'** कहा जाता है।

संस्कृति किसी भी देश, जाति और समुदाय की आत्मा होती है। संस्कृति से ही देश, जाति या समुदाय के उन समस्त संस्कारों का बोध होता है जिनके सहारे वह अपने आदर्शों, जीवन मूल्यों, आदि का निर्धारण करता है। अतः संस्कृति का साधारण अर्थ होता है- **संस्कार, सुधार, परिष्कार, शुद्धि, सजावट आदि।**

संस्कृति की परिभाषा देते हुए ई०बी० टैलर ने लिखा है–**" संस्कृति अथवा सभ्यता वह जटिल इकाई है जिसमें ज्ञान, आस्था, कला, शील, विधि, तथा किसी भी वैसी क्षमता और आदत का समावेश रहता है जिसे समाज के सदस्य होने के नाते मनुष्य सहज ही ग्रहण कर लेता है"**।

**सांस्कृतिकता का अभिविकास:-**

सांस्कृतिकता सहज सामूहिक संरचना का हिस्सा होती है जो समाज को एक साझा विश्वास और विकास की दिशा में मिलकर काम करने में मदद करती है। इसका विकास भाषा के माध्यम से होता है और भाषा का सही उपयोग सांस्कृतिक संरचना को बढ़ावा देता है।

भाषा और सांस्कृतिकता का वर्तमान समाजिक संदर्भ एक यात्रा है जो हमें समझाती है कि आज के समाज में भाषा और सांस्कृतिकता कैसे एक-दूसरे के साथ मिलकर समर्थन कर रहे हैं। यह लेख विभिन्न पहलुओं पर ध्यान केंद्रित करता है, जैसे कि सामाजिक संरचना, शिक्षा, और साहित्य, और वर्तमान समाज में इनके आदान-प्रदान का प्रभाव। हम देखेंगे कि भाषा और सांस्कृतिकता कैसे समृद्धि और सहज सामूहिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं और इनका सामूहिक समरसता, विविधता और सामाजिक न्याय में कैसा योगदान है।

**भारतीय सभ्यता, संस्कृति का वर्तमान स्वरूप और इसका महत्त्व:-**

आज के समय में सभ्यता और संस्कृति को एक-दूसरे का पर्याय समझा जाने लगा है जिसके फलस्वरूप संस्कृति के संदर्भ में अनेक भ्रांतियाँ पैदा हो गई हैं। लेकिन वास्तव में संस्कृति और सभ्यता अलग-अलग होती है।

सभ्यता का संबंध हमारे बाहरी जीवन के ढंग से होता है यथा- खान-पान, रहन-सहन, बोलचाल आदि जबकि संस्कृति का संबंध हमारी सोच, चिंतन और विचारधारा से होता है

वहीं संस्कृति का क्षेत्र सभ्यता से कहीं अधिक व्यापक और गहन होता है। सभ्यता का अनुकरण किया जा सकता है लेकिन संस्कृति का अनुकरण नहीं किया जा सकता है। जबकि संस्कृति में कला, विज्ञान, संगीत, नृत्य और मानव जीवन की उच्चत्तर उपलब्धियाँ सम्मिलित हैं। अतः यही कहा जा सकता है कि सभ्यता वह है जो हम बनाते हैं तथा संस्कृति वह है जो हम हैं।

आधुनिक समय में सांस्कृतिक समर्थन में भी परिवर्तन हुआ है। भाषा सिर्फ एक साधन ही नहीं है, बल्कि यह सांस्कृतिक विरासत का अभिवादन भी है। सोशल मीडिया और इंटरनेट के माध्यम से लोग अपनी सांस्कृतिक पहचान को समर्थन दे रहे हैं और इसे आगे बढ़ा रहे हैं।

**भाषा और संचार:-**

भाषा संचार का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है और यह सामाजिक संबंधों को मजबूत करने में मदद करती है। संचार के माध्यम से लोग अपने भावनाओं, विचारों, और ज्ञान को एक-दूसरे के साथ साझा करते हैं और इस प्रकार सामाजिक समृद्धि में योगदान करते हैं।

**भाषा और संस्कृति के सामाजिक संदर्भ:-**

भाषा-संस्कृति और समाज का संबंध अभिन्न है। समृद्धि को निर्धारित करने के लिए समाज को अच्छे से संगठित और एकमत होना चाहिए और दोनों ही इसमें एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। विकास की प्रक्रिया में इनका सही दिशा में उपयोग करने से समृद्धि की राह में कदम बढ़ सकता है।

मनुष्य के पास भाषा सीखने की क्षमता होती है, किंतु वह भाषा को तभी सीख पाता है जब उसे एक भाषाई समाज का परिवेश प्राप्त होता है। एक ओर समाज के माध्यम से ही भाषा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचती है, तो दूसरी ओर भाषा के माध्यम से समाज संगठित और संचालित होता है। भाषा के ही माध्यम से मनुष्य अपने संस्कृति से परिचित होता है, यदि मनुष्य से भाषा छीन ली जाए तो उसकी सामाजिक संरचना भी ध्वस्त हो जाएगी। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति को समाज के बाहर (जैसे, जंगल में) छोड़ दिया जाए, जहां वह दूसरे व्यक्तियों से नहीं मिल सकता तो भाषा उसके साथ ही मृत हो जाएगी। भाषा अध्ययन के संदर्भ में 'मनोवादी' और 'व्यवहारवादी' विचारधाराएँ प्रचलित हैं। व्यवहारवादियों द्वारा भाषा को सामाजिक वस्तु माना गया है। उपर्युक्त बातों के आलोक में भाषा और संस्कृति को एक सामाजिक व्यवहार या सामाजिक वस्तु के रूप में देखा जा सकता है। इसे निम्नलिखित बिंदुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

1.समाजिक जीवन के आधार के रूप में भाषा-संस्कृति मनुष्य के सामाजिक जीवन का आधार है। इसी के कारण मनुष्य एक सामाजिक प्राणी के रूप में परिभाषित हो गया है। भाषा के अभाव में हम एक दूसरे की संस्कृति से परिचित नहीं हो पाएंगे, जिससे कि समाज सुसंस्कृत नहीं हो पाएगा। सांस्कृतिक विरासत के रूप में भाषा किसी भी समाज और संस्कृति की वाहक होती है।

2. सामाजिक पहचान के रूप में भाषा-संस्कृति किसी भी व्यक्ति की सामाजिक पहचान प्रदान करने में सक्षम होती है। व्यक्ति

का सुर (टोन), शब्द चयन (शब्द चयन) और बातचीत का तरीका उसके भौगोलिक क्षेत्र, धर्म और सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की पहचान कराते हैं।

**भाषा का सांस्कृतिक संदर्भ:-**

भाषा संस्कृति का एक अंग होती है इसीलिए भाषा के विकास का अध्ययन संस्कृति के विकास के आलोक में होना चाहिए। सभी जानते हैं कि प्रत्येक भाषा-संस्कृति क्षेत्र का अपना एक भिन्न समाज होता है और मनुष्य अपने आस-पास के समाज और परिवेश से ही भाषा सीखता है। मनुष्य का यह भाषा प्रेम समाज सापेक्ष होता है और उसकी भाषा समाज के भीतर ही प्रभावी होती है इसीलिए भाषा और संस्कृति का अध्ययन समाज के संदर्भ के बिना अधूरा सा रहता है। भाषा–संस्कृति ही मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने का सबसे बड़ा प्रमाण है।

भाषा सम्प्रेषण का सशक्त माध्यम होने के साथ ही संस्कृति की संवाहक भी होती है।

सामाजिक सांस्कृतिक सिद्धांत के अनुसार सामाजिक अंतः क्रिया और सांस्कृतिक संस्थान; जैसे-विद्यालय, कक्षाएं आदि एक बालक के जीवन के संज्ञानात्मक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

जिस संस्कृति से बालक जुड़ा रहता है उसी से संबंधित पहनावा, खान-पान, रीति रिवाज और रहन-सहन का तरीका उसे सबसे सरल लगता है।यही उसका आधार होता है क्योंकि यही उसकी सोच विचार करने की शक्ति को प्रभावित करता है। विभिन्न

धर्म समुदाय, जाति, जनजाति और व्यवहार व्यवसाय से जुड़े लोग अपने अनुसार अपने समाज में जीवन यापन के लिए नियम निर्माण करते हैं और वही उनके संस्कृति का एक बड़ा हिस्सा बनते हैं। बालक आरंभ से जो संस्कृति परिवेश देखता है उसी में विकसित होता है उसी के अनुसार सीखने के नियम बना लेता है। अतः भाषा शिक्षण में सांस्कृतिक महत्व है।

**भाषा और संस्कृति का संबंध:-**

भाषा और संस्कृति एक दूसरे से अटूट रूप से जुड़े हुए हैं। भाषा सिर्फ शब्दों का समूह नहीं होती, बल्कि यह एक सामाजिक रूप से माने जाने वाली संरचना होती है जो सांस्कृतिक मूल्यों, अनुष्ठानों और सोच में विद्यमान होती है। इस प्रकार भाषा न केवल आत्म-अभिव्यक्ति का साधन होती है, बल्कि यह सामाजिक संदर्भ का भी प्रतिष्ठान होती है। भाषा एक माध्यम है जिसके द्वारा एक संस्कृति अपने विचारों, भावनाओं और मूल्यों को व्यक्त करती है। सस्कृति भाषा में परिलक्षित होती है, और भाषा संस्कृति को आकार देती है।

सांस्कृतिक संबंध और भाषा अद्भुत मेल बनाते हैं,जो समाज में एक साझा अर्थ-सृष्टि को प्रोत्साहित करते हैं। सांस्कृतिक मूल्यों, रीति रिवाज और ऐतिहासिक धाराओं को भाषा के माध्यम से समर्पित किया जाता है और यह सांस्कृतिक विरासत को जीवंत रखने में मदद करता है।

**भाषा और संस्कृति के बीच के कुछ संबंधों को निम्नलिखित रूप से समझा जा सकता है:-**

भाषा संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है। यह संस्कृति के इतिहास, मूल्यों, विश्वासों और रीति-रिवाजों को दर्शाती है। उदाहरण के लिए, हिंदी भाषा में "आदर" शब्द का उपयोग सम्मान या आदर व्यक्त करने के लिए किया जाता है। यह शब्द भारतीय संस्कृति में सम्मान के महत्व को दर्शाता है।

भाषा एक संस्कृति को संप्रेषित करती है। यह एक संस्कृति के ज्ञान, परंपराओं और मूल्यों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संप्रेषित करती है। संस्कृति को आकार देती है, विचारों और भावनाओं को प्रभावित करती है।

**भाषा और संस्कृति का अध्ययन क्यों महत्वपूर्ण है?**

भाषा और संस्कृति का अध्ययन महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे हमें एक-दूसरे को बेहतर ढंग से समझने में मदद मिलती है। जब हम किसी अन्य संस्कृति की भाषा सीखते हैं, तो हम उस संस्कृति के बारे में भी अधिक सीखते हैं। यह हमें उन लोगों के साथ अधिक प्रभावी ढंग से संवाद करने में मदद करता है जो उस संस्कृति से आते हैं।

इन दोनों का अध्ययन हमें अपने स्वयं की संस्कृति के बारे में भी अधिक जानने में मदद करता है। यह हमें यह समझने में मदद करता है कि हमारी भाषा और संस्कृति हमारे विचारों, भावनाओं और व्यवहार को कैसे प्रभावित करती है।

**भाषा और संस्कृति के अध्ययन के कुछ लाभ निम्नलिखित हैं:-**

•यह हमें उन लोगों के साथ अधिक प्रभावी ढंग से संवाद करने में मदद करता है जो अन्य संस्कृतियों से आते हैं।

•यह हमें अपने स्वयं के संस्कृति के बारे में अधिक जानने में मदद करता है।

•यह हमें एक अधिक खुले और स्वीकार्य व्यक्ति बनने में मदद करता है।

•भाषा के माध्यम से हम विभिन्न संस्कृतियों के बारे में सीख सकते हैं। उदाहरण के लिए, जब हम एक नई भाषा सीखते हैं, तो हम उस भाषा बोलने वाले लोगों की संस्कृति के बारे में भी सीखते हैं।

•भाषा एक-दूसरे के साथ संवाद करने का एक महत्वपूर्ण तरीका है। एक बहुभाषी और बहु सांस्कृतिक दुनिया में, भाषा हमें विभिन्न संस्कृतियों के लोगों के साथ प्रभावी ढंग से संवाद करने में मदद करती है।

**वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भाषा और संस्कृति का संबंध:-**

भाषा और संस्कृति एक दूसरे से अटूट रूप से जुड़े हुए हैं। भाषा एक माध्यम है जिसके द्वारा एक संस्कृति अपने विचारों, भावनाओं और मूल्यों को व्यक्त करती है। संस्कृति भाषा में परिलक्षित होती है, और भाषा संस्कृति को आकार देती है।

वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भाषा और संस्कृति का संबंध और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। एक बहुभाषी और बहुसांस्कृतिक दुनिया में

हमें एक-दूसरे को बेहतर ढंग से समझने के लिए भाषा और संस्कृति के बीच के संबंधों को समझने की आवश्यकता है।

**निष्कर्ष:-**

भाषा और संस्कृति दोनों ही सामाजिक संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। भाषा एक संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है, संप्रेषित करती है और आकार देती है। क्योंकि इससे हमें एक-दूसरे को बेहतर ढंग से समझने और स्वयं एवं दूसरों की संस्कृति के बारे में अधिक जानने में मदद मिलती है। इनका संबंध एक-दूसरे को पूरकर रहता है और समृद्धि की दिशा में समाज को मदद करता है। भाषा के सही और समृद्धिशील उपयोग से समाज में सहमति और समरसता की भावना बनी रहती है जो सामाजिक समृद्धि की कुंजी होती है। सांस्कृतिक विविधता को बचाए रखने में भी भाषा और संस्कृति का महत्वपूर्ण स्थान है।

यह न केवल समृद्धि और तकनीकी प्रगति का हिस्सा हैं बल्कि यह समाज में सांस्कृतिक समरसता और विविधता को बढ़ावा देने में भी सहायक है। भाषा का सही और समर्थनशील उपयोग सांस्कृतिक समुदायों को सजीव रखने में मदद करता है जिससे की एक समृद्ध समाज की नीव पड़ती है। सोशल मीडिया के माध्यम से लोग अपनी सांस्कृतिक पहचान को सबके साथ साझा कर सकते हैं। इस प्रकार, भाषा और सांस्कृतिकता का महत्व आधुनिक समय के समाज में एक नई परिभाषा दे रहा है और व्यक्ति को समृद्धि और समरसता की दिशा में अग्रणी बना रहा है।

**संदर्भ-ग्रन्थ-सूची:-**


१. जैन, आदित्य. (2015). "सांस्कृतिक समरसता और भाषा". दिल्ली: सारथी प्रकाशन.

२. शर्मा, रितु. (2021). "भाषा और सांस्कृतिक समरसता: एक अनुसंधान". नई दिल्ली: शिक्षा प्रकाशन

३. कुमार, अनुराग. (2017). "भाषा और राजनीति: सम्बंध और प्रभाव". नई दिल्ली: ज्ञानयुग प्रकाशन.

४. जोशी, महेश. (2019). "राजनीति की भाषा: भाषा का सामाजिक और राजनीतिक परिणाम". मुंबई: अद्यतन प्रकाशन.

५. ब्राउन, पेनी. (2016). "डिजिटल युग: भाषा, उपयोग, और समझ". न्यूयॉर्क: रूटलेज.

६. थॉम्पसन, जॉन. (2005). "भाषा की दुनिया का उपयोग". लंदन: रूटलेज.

७. सुधीर, मिताली. (2018). "सांस्कृतिक समर्थन और आधुनिकता". नई दिल्ली: आधुनिक प्रकाशन.

८. गौतम, राजीव. (2020). "सांस्कृतिक समर्थन: एक समीक्षा". मुंबई: सारथक प्रकाशन.

९. रॉबर्ट्सन, एल1 (2008). "भाषा और सामाजिक सांस्कृतिकता". भाषा और समृद्धि, 15(2), 123-145

१०. गुप्ता, स. क. (2010). "भाषा का भौगोलिक परिप्रेक्ष्य". अंतराष्ट्रीय भौगोल, 25(3), 345-362.

११. मिश्र, र. (2015). "भाषा और शिक्षा: एक अध्ययन". शिक्षा अनुसंधान पत्रिका, 40(4), 567-580.

१२. सापिर, एडवर्ड. (1921). "भाषा: एक आध्यात्मिक साधन". न्यू-यॉर्क: हॉल्ट.

१३. बर्लां, व्हैटली. (1991). "भाषा का सामाजिक मौन: चुप्पी की कहानियाँ और सामाजिक संरचना". दिल्ली: ओक्फोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस.

१४. हॉल्ट, जॉन. (2005). "सांस्कृतिक दृष्टिकोण से विश्लेषण". दिल्ली: सेज़ बुक्स.

१५. गांधी, मोहनदास करमचंद. (1948). "हिंद स्वराज". नई दिल्ली: नवजीवन प्रकाशन.

१६. फ्रायड, सिगमंड. (1916). "शिक्षा के सिद्धांत". लंदन: मैकमिलन.

# भाषा और संस्कृति कि भारतीय एवं वैश्विक दृष्टि

**श्री. शरदचंद्र बंड,**
सावित्रीबाई फुले विद्यापीठ, पुणे

भाषा हि द्विविधा प्रोक्ता। वर्णात्मिका ध्वन्यात्मिका च। वर्णात्मिका भाषा द्विविधा वैदकी लौकिकी च। ध्वन्यात्मिका भाषा पशुपक्षीवाद्येषु उत्पन्ना भवति। लौकिकी भाषा लोकव्यवहाराय उपयुक्ता भवति। किंतु वैदिक भाषा स्वस्वरुपभूत-ज्ञानेन अलौकिक सुखाय उपयुक्ता भवति।

इयं भाषा संस्कृतिः च करतलामलकवतरूपेण स्वस्य मूलरूपं अभिव्यक्तं करोति। एषा वैदिकभाषा मनुष्याय ब्रह्मस्वराज्यसिंहासनस्थानस्य स्थाने उपविष्टं करोति। "शिवो भूत्व शिवं यजेत"। एतादृशस्य जीवस्य शिवरूपं प्राप्तुं साहाय्यं करोति। अस्मिन्नेव मानवशरीरे जीवन्मुक्तिं विदेहमुक्तिं च ददाति।एषा शक्तिः केवलं तेभ्यो जीवेभ्य आध्यात्मिकप्रगतिं प्रदाति। येषां भाषा च संस्कृतिः असाधारणतया सम्यक् विकसिता अस्ति। ननु मानवस्य मौलिकस्वभावस्य आविष्कारः अस्याः आध्यात्मिकसंस्कृत्या सह सम्बद्धं अस्ति। अतः मानवजीवने भाषासंस्कृतौ योगदानमतीव महत्त्वपूर्णमस्ति। यस्य माध्यमेन वयं स्वस्य भावशक्तिं, शक्तिं च उपयोक्तुं शक्नुमः। अभिव्यक्तिः कार्यशक्तिः ज्ञानं च वैश्विककल्याणार्थं वैश्विकदृष्टिकोणात् मानवानाम् परिवर्तनं कर्तुं समाजस्य आध्यात्मिकप्रगत्यै योगदानं दातुं शक्नोति। अस्य ज्ञानानुसारं भाषा एव मानवसंस्कृतेः प्रकाशनं करोति। वैदिकभाषायाः माध्यमेन मनुष्यः

स्वस्वरूपं प्राप्य जीवन्मुक्तिं विदेहमुक्तिं च प्राप्नोति। संस्कृतिः अस्माकं लौकिकालौकिक-परिणामानां प्राप्त्याः साधनम् अस्ति अस्माकं विचाराणां सांस्कृतिकस्वभावस्य च सारं अवगन्तुं साक्षात्कारं कर्तुं च सामर्थ्यं यच्छति।एतादृशी भाषा संस्कृतिश्च मानवजीवने समुचितस्य, सन्तुलितस्य, सामञ्जस्यस्य, समन्वयस्य च महत्त्वमस्ति।

मनुरुवाच- "**एतद्देशे प्रसूतस्य सकाशाद् अग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षरेन् पृथिव्याः सर्व मानवाः॥**" वैदिक"**तत्त्वमसि**"इति महावाक्येन अलौकिक त्वंपदलक्ष्यकूटस्थस्य तत्पदलक्ष्यब्रम्हणा सह ऐक्यं दर्शयति।

"**शब्दशक्तेः अचिन्त्यरचनारुपत्वात् शब्दादेवहि अपरोक्षधीः**"।

येन बोधेन मनुष्यमात्रः कृतकृत्यः भविष्यति। मनुष्यस्य जीवने स्थिरतां प्राप्तुं वेदान्तदर्शनात् अन्यः विकल्पः नास्ति। अस्य अध्ययनेन आत्मा न नश्यति, आत्मसाक्षात्काररहितः अपि न भविष्यति।आत्मज्ञानं प्राप्ते सति विना अपि मुक्तः भवति। **"स नेच्छन्नपि मुच्चते।**

**<u>जीवन्मुक्तिस्वरूपविचारः</u>** अथ केयं जीवन्मुक्तिः, किं वा तत्र प्रमाणम्, कथं वा तत्सिद्धिः, सिद्धौ वा किं प्रयोजनमिति।

१. **जीवन्मुक्तिलक्षणं– "प्रपञ्चप्रतीतिपूर्वकं प्रत्यग्ब्रह्मचैतन्यनिष्ठत्वम्"**।

२. **विदेहमुक्तिलक्षणं- "प्रपञ्चप्रतीतिशून्यत्वे सति प्रत्यक्चैतन्यात्मना वर्तनम्"**।

**जीवन्मुक्ति प्रमाणम्– श्रीमद्भगवद्गीतायां** स्थितप्रज्ञभगवद्भक्तगुणातीतरुपेण **भगवता स्पष्टं** उक्तम्।

**प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।। दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।**

**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी।। सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः**

**प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव। न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।।**

**उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते। गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते।।**

**ब्रह्मवित् परमाप्नोति शोकं तरति चात्मवित्। रसो ब्रह्मरसं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति नान्यथा॥**

तदेवं **" विमुक्तश्च विमुच्यते"** इत्यादिश्रुतयो जीवन्मुक्तस्थितप्रज्ञभ- गवद्भक्तगुणातीतब्राह्मणातिवर्णाश्रमिप्रतिपादक स्मृतिवाक्यानि च जीवन्मुक्ति- सद्भावे प्रमाणानीति स्थितम् इति जीवन्मुक्तिप्रमाणम्।

**जीवन्मुक्तस्य आचारः-**

वृक्षस्य शुष्कानि पर्णानि पतितानि यथा वायुनेतस्तत उद्यन्ते तथा प्रारब्धकर्मशेषवशात् नाना कर्म कुर्वतःज्ञानिनः शरीरमपि इतस्ततो नीयमानमिव प्रतिभाति ज्ञानी हि कदाचिद्रथवाजिगजादचारूढः सन् वनारामादीन् पश्यति। कदाचिद्विनापि पादरक्षां सञ्चरति। तस्य

शयनासनादिकमप्यव्यवस्थितमेव। तस्य कदाचिद्रोगभोजनाद्युत्तममेव भवति। कदाचिदनशन एवं गिरिगुहायां वसन्छिलातले शयानो रजनीमतिवाहयति। कदाचित्सहस्रशस्तं पुरुषाः प्रणमन्ति। कदाचिदयमुभयलोकभ्रष्ट इति कर्मिभिर्निन्दयते। ये तावतं पूजयन्ति ते तस्य सुकृतं प्राप्नुवन्ति। ये तु तं दोषदृष्ट्या पश्यन्ति ते तस्य पापमश्नुवन्ति1 इत्थं ज्ञानिदेहस्यानियतो व्यवहारः। तत्त्वविदो भ्रमसंशयादयो नैव सम्भवन्ति। कदाचित्कुत्रचिदपि नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यं तस्य। यतः समग्रतया तस्य भेदभ्रमभयादयो नष्टाः। सर्वोत्तमवेदप्रमाणजनितस्वप्रकाशाद्वितीयप्रत्यग्ब्रह्मात्मापरोक्षसाक्षात्कार वान्ह्यसौ ज्ञानिनो व्यवहारनियमो नास्ति- **"ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः। नैवाऽस्ति किंचित्कर्तव्यम् अस्ति चेन्न स तत्ववित्"**।। किंतु ज्ञानं सर्वेषां सममित्यत्रायं श्लोकः प्रसिद्धतया कथ्यते-

**"कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी नृपौ जनकराघवौ1वसिष्ठः कर्मकर्ता च त एते ज्ञानिनः समाः" ॥**

इत्थमेतेषां प्रारब्वभेदाद्व्यवहारभेदेऽपि ज्ञानं सर्वेषां समानमेवेति। ज्ञानिनोऽपि व्यवहारे नियमोऽस्तीति केचिद्वदन्ति। त्रिपुटीमात्र दुःखनिदानमिति बुध्वा तत्परित्यज्य ज्ञानी सदा समाधिनिष्ठो भवति। यदा व्यवहारः सम्भवति तदापि सोऽपि अशनायापिपासादिप्रयोज्य भिक्षाशनजलपानादिशरीरस्थितिकारणेष्वेव नान्यत्र न च स विसरति कदाचिदपि ततोऽधिकसुखाभावाद्दुःखहेतुत्वेन त्रिपुटया उद्विजते। अतः समाध्यर्थमेव ज्ञानी भूयोभूयो यतते1 यस्तु समाधिसुखं भ्रमतो बाहयसुखासक्त्या त्यजति स श्वगर्दभप्रेतसम एव।

गौडपादमाण्डूक्यकारिकायां समाधिकारः सप्रपञ्चं प्रपञ्चितः। इत्थं ज्ञानी प्रपञ्चविक्षेपभ्रमं तुच्छीकृत्य सकलसुखसागरीभूतस्वरूपानन्दात्मनैवावतिष्ठते।

जीवन्मुक्तिसाधननिरूपणम् - तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयास्तत्साधनम्। अत एव वासिष्ठरामायणस्यावसाने 'जीवन्मुक्तशरीराणाम् ' एत- स्मिन्प्रस्तावे वसिष्ठ आह- **"वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते। समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदायिनः"**। इति।

अष्टाङ्गमन्तरेण च समाधिसुखं न लभ्यते।

**१.<u>समाध्यष्टाङ्गनिरूपणम्</u>–** १.**यमः**- १. अहिंसा २. सत्यं ३. अस्तेय ४. ब्रह्मचर्यम् ५. अपरिग्रह इति।

**२.- नियमः** १. शौचम्, २. सन्तोषः २. तपः ४. स्वाध्यायः ५. ईश्वरप्रणिधानम् इति।

**३.आसनम्** अनन्ताः स्वस्तिकम्,गोमुखं,वीरम्, कूर्मम्,पद्मं,कुक्कुटम्,उत्तानम्, कूर्मकम्,पश्चिमतानम्,मयूरम्, शवं,सिंहम्,भद्रम्,सिद्धम्,इति चतुरशीत्यासनानि।

४. **प्राणायामः "चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात्।**

**निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते "**।।

५.**प्रत्याहारः**-स्वस्वविषयेभ्यः सकलेन्द्रिय- निरोधः प्रत्याहारः।

६.**धारणाः**- नैरन्तर्येणान्तःकरणस्यैकाकारतास्थितिर्धारणा।

७.**ध्यानम्ः**- बह्वन्तरायमुक्ताद्वितीयप्रत्यग्ब्रह्मणि प्रवहदन्तःकरणप्रवाहो ध्यानमित्युच्यते।

८.**समाधिः** :-व्युत्थानसंस्कारतिरस्कारेण निरोधसंस्कारप्रकटनेन च सहान्त:करणस्यैकाग्रतापरिणामः समाधिः ॥

समाधिद्विविध:- १.**सविकल्पसमाधि:**-१.शब्दानुविद्ध:२.शब्दाननुविद्धश्चेति

२ **निर्विकल्पसमाधि:**-१.अद्वैतभावनारूपः २.अद्वैतावस्थानस्वरूपः

**जीवन्मुक्तिसिद्धिप्रयोजनविचार:**

ज्ञानरक्षातपोविसंवादाभावदु:खनाशसुखाविर्भावाः सन्ति पञ्च प्रयोजनानि।

**भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥**

जीवन्मुक्तिसुखाय-" **तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्। एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः" ॥ पंच.**

**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन। एतमेव तपेन्नैषा चिन्ता कर्माग्निसंभृता**॥ आनन्दमिति। 'राहोः शिर' इत्यादिवद्भेदव्यपदेश औपचारिकः। ब्रह्मणः स्वरूपभूतमानन्दं विद्वानपरोक्षतया जानन् पुरुषः कुतश्चन कस्मादपि ऐहिकभयहेतोर्व्याघ्रादेः पारलौकिकभयहेतोःपापादेर्वा न बिभेति भयं न प्राप्नोति। तत्त्वविदः पापादेर्भयं नास्तीत्येतत्प्रतिपादकम् **'एत ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्'** इति। कर्माग्निसंभृता पुण्यपापरूपकं कर्मैवाग्निः अकरणकरणाभ्यामग्निवत्संतापहेतुत्वात् तेन संभृता संपादिता एषा **'पुण्यं नाऽकरवं कस्मात्पापं तु कृतवान् कुतः? '** इत्येवंरूपा चिन्ता एतमेव तत्त्वविदमेव न तपेत् न संतापयेत्,

नान्यमविद्वांसम्। स तु तया चिन्तया सदा संतप्यत इत्यर्थः।

यदि 1) ब्रह्मणः प्रबलः परोक्षः अनुभवः अस्ति तर्हि संशयप्रतिकूलभावनाभावः 'ज्ञानरक्षणम्' इति। **'ज्ञानरक्षणम्'** 2) कस्यापि वृत्तेः उदयं विना बलवत् परोक्षब्रह्मणोऽ -वस्थायां मनसः एकाग्रता **'तपः'** इति कथ्यते ' ३) जीवनमुक्तपुरुषः यदा व्युत्थानदशे (प्रवृत्तिः) भवति तदा कश्चित् तस्य आलोचनं करोति चेदपि तस्य स्थाने प्रतिरोधस्य सम्भावना न भवति अर्थात् एषः **"विसंवादाभावः"** अस्ति ४) मुक्तपुरुषस्य माया निवृत्तमात्रम् , मनः आध्यात्मिकं भवति। तस्मिन् काले दैवात् प्राप्तः भोगः वर्धते चेदपि तस्य स्थानं सर्वथा **'दुःखनाश-प्रलयः'** इति। ५) एवमेव तस्मिन् अवस्थायां ज्ञानाभ्यासद्वारा अज्ञानस्य आवरणभङ्गेन ब्रह्मानन्दस्य अनुभवः भवति, एषः **"सुखाविर्भावः"** इति। **"आनंदे निर्भर असो भलते ठायी। सुख दुखा नाही चाड आम्हा"।।**

**"धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमंजसा वेद्मि।**

**धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानंदो विभाति मे स्पष्टम् " ॥तृप् .पंच**

**तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्से**। (छां.उ. ६.१४.१.)

तस्य कृतात्मसाक्षात्कारस्य तावदेव चिरं विलम्बः यावन्न विमोक्ष्ये1 शरीरपातो न स्यात्। शरीरपातानन्तरं सम्पत्स्ये ब्रह्म भवति। शुभं भवतु कल्याणम्।

# रामायण में वर्णित पर्यावरणीय घटक अग्नितत्त्व का चिंतन

**सौ.वैशाली नि.गौरशेट्टीवार**
(एम.ए.संस्कृत) सहा.शिक्षिका
लोकमान्य टिळक विद्यालय, चंद्रपूर

**संशोधन पद्धती– स्पष्टीकरणात्मक**

**कूट शब्द:– रामायण, अग्निदेवता , देवता, अग्निदेवता के विशेषण**

राष्ट्र का आध्यात्मिक व्यक्तित्व सबल बनाने का कार्य प्राचीन ऋषि मुनीयों नें निर्माण किये काव्यनाटकादि इतिहास ग्रंथ में किया हुआ है। यही वाङ्मय राष्ट्र का दैवी धन है। भारत में यह दैवी धन 'वेद राशि' के रूपमें सर्वप्रथम प्राप्त हुआ। इस धन का संवर्धन करने हेतु पुरानों का आविर्भाव हुआ। उसी परंपरा में 'रामायण' तथा 'महाभारत' महाकाव्य निर्माण का दिव्य कार्य भगवान 'वाल्मीकि' तथा 'व्यास' महर्षी ने किया। महर्षि वाल्मिकी रचित रामायण मानवी जीवन का शाश्वत दिव्यादर्श चित्रित करणे हेतू इस महाकाव्य का निर्माण हुआ। "रामादिवत् वर्तितव्यम् न रावणादिवत्" यह प्रेरणा इस महाकाव्य से सबके हृदय मे जागृत होती है। रामायण धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन है, तथा अमृत के समान उत्तम है।रामायण को 'आदिकाव्य' तथा महर्षी वाल्मिकि को 'आदिकवि' कहा जाता है। 'रामायण' का शाब्दिक अर्थ 'राम की जीवन यात्रा' है। भगवान विष्णु प्रभू श्रीराम का अवतार लेकर रावण नामक राक्षस का अंत करणे हेतू उन्होने मानवरुप में जन्म लिया। भगवान विष्णु

के इस जीवन कार्य को सफल करने हेतू देवताओ नें सहकार्य किया। राम कथा के साथ वाल्मिकी रामायण में पर्वत, समुद्र, वन ऐसे जाने कितने ही पर्यावरणीय घटकों का उल्लेख आता है;[1] जिसमें से एक महत्त्वपूर्ण घटक है अग्नि वैदिक देवता है। सृष्टि में जीवन के लिये महत्त्वपूर्ण पांच तत्त्वों को वेद भाषा में पंचतत्त्व कहा जाता है। सांसारिक जीवन में इन पंचतत्व का विशेष महत्त्व है। पृथ्वी,आप,अग्नि ,वायु, आकाश यह पाँच तत्त्व है। इसी से आत्मा और शरीर कि उत्पत्ति होती है अर्थात् मानव शरीर भी इसी तत्त्वों से मिलकर बनता हैं।[2] पर्यावरणीय घटक अग्नि उर्जा के रूप में शरीर में विद्यमान है। मणिपूर चक्र में अग्नि तीसरा चक्र है। अग्नि ,अग्नि का देवता इस चक्र की देखभाल करता है। मणिपूर चक्र को अधिक तीव्र करने के लिये शरीर के अंतर्गत यह तत्त्व अंतर्गत ऊर्जा निर्माण करता है। यह चक्र आंतरिक शक्ति, आत्मविश्वास तथा शक्ति नियंत्रित करने वाला उर्जा केंद्र है।[3] वैदिक देवता अग्नि को उनके कार्य से उन्हें कई विशेषण प्राप्त हुए है। रामायण में पर्यावरणीय घटक अग्निदेवता के योगदान के बारे में कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन प्रस्तुत शोधपत्र में किया गया है।

**देवता:-**

'देवता' शब्द कि व्युत्पत्ति संस्कृत 'दिव्' धातू से 'प्रकाशमान' अर्थ मे संपन्न होती है। **"देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा , द्युस्थाने भवतीति वा। यो देवः सा देवता।"**- देवता प्रदीप्त करते हैं , प्रकाशित

---

[1] श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, गीताप्रेस गोरखपूर

[2] https://hindi.news18(date-21.5.24 ,time-11p.m.)

[3] arhantyoga.org ( date -21.5.24 time – 10.30 pm )

करते है तथा ये द्युलोक मे रहते है इसलिये वे देवता कहलाते है। ऐसी देवता शब्द कि परिभाषा यास्काचार्य प्रणीत निरुक्त से प्राप्त होती है।[1] हिंदू धर्म मे देवता ईश्वर का लौकिक रूप तथा सगुण रूप मानते है। अग्नि देवता 'पृथ्वी स्थानीय' देवता है। अग्नि देवता को 'देवताओ का दूत' माना जाता है। यास्काचार्य ने निरूक्त में अग्नि को पृथ्वी स्थानीय देवता माना है। निरुक्त के सातवे अध्याय में **"तिस्रः एव देवता"** ऐसा कहकर यास्काचार्य अग्नि देवता का वर्णन करते है।[2]

**अग्निदेवता:-**

अग्नि शास्त्रो में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, इसे धार्मिक, आध्यात्मिक, आयुर्वेदिक, वैज्ञानिक तथा यज्ञो में महत्त्वपूर्ण रूप सें स्थान दिया गया है तथा प्रकाश का प्रमुख स्त्रोत अग्नि है। देवताओं मे अग्नि देवता ही अग्रणी है और सबसे आगे आगे चलते है। अग्नि देवता विशाल, शक्तिशाली और बलशाली है। दुनिया कि लगभग हर सभ्यता मे सूर्य कि तरह अग्रणी देवता का स्थान है। धार्मिक दृष्टिकोण से अग्नि , हिंदू धर्म में पूजा, यज्ञ, हवन और अनुष्ठानों का प्रतिक माना जाता है। अग्नि को प्रतिदिन पूजा जाता है। जिस तरह सूर्य सृष्टी के देवता है उसी तरह अग्नि देवता सृष्टी के पालक है। अग्नि भी सृष्टी के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। इसीलिए पौराणिक परंपरा में अग्नि देवता को उच्च कोटी का देवता स्वीकारा गया है। मानव जीवन के हर एक कार्य में अग्नि का प्रयोग किया जाता है।

---

[1] यास्काचार्यप्रणीतम् निरुक्तम्, डॉ. जमुना पाठक,(७.२)पृ.क्र.५१७

[2] यास्काचार्यप्रणीतम् निरुक्तम्,डॉ. जमुना पाठक,(७.२)पृ.क्र.४९०

अग्नि के बिना मानव का कोई भी कार्य सफल नही होता। अग्नि देवता "अग्नेय कोण" का अधिपति है। अग्नि देवता को इंद्र का जुडवा भाई माना जाता है। ऋग्वेद में अग्नि देवता का प्रथम स्थान है ; तथा विश्व साहित्य का प्रथम शब्द भी अग्नि ही है। ऋग्वेद मे अग्नि देवता का 200 सूक्तो में वर्णन किया गया है।[1]

**ईश्वर का प्रयोजनः–**

पुलस्त्यपुत्र विश्रवा का पुत्र तथा राक्षसो का राजा रावण ब्रह्मदेव के वर प्राप्त से वो देवता, गंधर्व, ऋषि गणादि लोगो पर अत्याचार करता था। रावण के अत्याचार से दुःखी पृथ्वी गाय का रूप धारण करके देव तथा मुनियों के साथ ब्रह्मदेव लोक मे गयी। ब्रह्मदेव ने पृथ्वी का दुःख जाना और उसका दुःख निवारण करणे हेतु ब्रह्मदेव भगवान विष्णु के पास गये; और उन्हे कहा कि संपूर्ण विश्व को पीडा देने वाला, तीनों लोकों को रावण कष्ट दे रहा है। रावण का मृत्यु मानव के हात से हो ऐसी योजना मैने कि है। हे प्रभु, आप मनुष्य रूप धारण करके देवों का शत्रु रावण का वध कीजिए। तभी भगवान विष्णु ने कहा कि, कश्यप कि तपस्या से प्रसन्न होकर मैंने उसकी इच्छा पूर्ण कि कश्यप ने कहा कि आप मेरे यहाँ पुत्र रूप धारण करके जन्म ले, वह कश्यप आज पृथ्वी तलपर दशरथ नाम से विद्यमान है। शुभ दिन में माता कौशल्या तथा अन्य दो माता के चार पुत्र रूप मे जन्म लूँगा तथा योगमाया भी सीता का रूप धारण करके उत्पन्न होगी ऐसा कहकर भगवान विष्णु अंतर्धान हो गये। ऐसा वर्णन

[1] https://www.naidunia.com

अध्यात्म रामायण के बालकाण्ड के द्वितीय सर्ग से प्राप्त होता है।[1] भगवान विष्णू के इस महान कार्य को पूर्ण करणे हेतू देवी देवताओं ने अपना परिपूर्ण योगदान दिया। इस कार्य में अग्निदेवता भी अग्रणी है।

**रामायण महाकाव्य में अग्निदेवता का योगदानः-**

रामायण में अग्निदेवता के विशेषण द्वारा मानव जीवन से सह सबंध किस तरह से लागू होते है–

ऋग्वेदके प्रथममंडल के प्रथम सूक्त में अग्निदेवता कि ऋचा है। अग्निदेवता के कार्य तथा उनके महत्त्व द्वारा अग्निदेवता के विशेषण मधुच्छन्दा ऋषि वर्णन करते हैः–

**ॐ अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।। १।।[2] (ऋ.१.१.१ )**

**दूतः-**

अग्निदेवता ईश्वर और मानव जाती के बीच मध्यस्थ का कार्य करते है। इसलिये उन्हे 'दूत' कहा गया है। रामायण में भी अग्निदेवता ने दूत का कार्य करके दशरथ राजा कि इच्छा पूर्ण कि दशरथ राजा संपूर्ण धर्मों को जानने वाले प्रभावशाली होते हुए भी पुत्र के लिए सदैव चिंतित रहते थे। उनके वंश को चलाने वाला कोई पुत्र नही था। इसलिये दशरथ राजाने अश्वमेध तथा पुत्र कामेष्टी यज्ञ

---

[1] अध्यात्म रामायण बालकाण्ड द्वितीय सर्ग

[2] ऋग्वेद संहिता (मण्डल १-२) १.१.१,वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं.श्रीराम शर्मा आचार्य भगवतीदेवी शर्मा, पृ.क्र.१

वशिष्ठ ऋषी तथा ऋष्यश्रृंग ऋषिद्वारा यज्ञ संपन्न किया। अश्वमेध यज्ञ में अग्नि का तेज बहुत प्रभावी था। अश्वमेध यज्ञ में अग्नि कि आकृति पूर्वाभिमुख खडे हुए गरुड सी प्रतीत होती थी। प्रकृत अवस्था मे चित्य अग्नि के छः प्रस्तार होते है; किंतु अश्वमेध यज्ञ में अग्नि का प्रस्तार तीन गुना हो जाता है। इसलिये वह गरुडाकृति अग्नि अठराह प्रस्तारो से युक्त थी। दशरथ राजा ने अग्नि के पास पुत्र प्राप्ति कि प्रार्थना कि और वह प्रार्थना अग्नि देवता ने देवताओं के पास पहुँचाई और दशरथ राजा कि प्रार्थना पूर्ण की। इस तरह से अग्नि देवता ने रामायण में दूत का कार्य किया है।

**हव्यवाहक:-**

अग्नि देवता यज्ञ में दी गई आहुति या प्रार्थना का देवताओं तक वहन करते है इसलिये उसे 'हव्यवाहक' कहा जाता है। यज्ञ में दी गई आहुती द्वारा अग्निदेवता पर्यावरण का रक्षण भी करता है। आग हमेशा कुछ बलिदान मांगती है ताकि उसे प्रार्थना कि जा सके और कोई भी शुभकाम शूरू करणे से पहिले उपहारों कि भेट अग्नि देव को चढाई जाती है। दशरथ राजा भी अपनी इच्छा पूर्ण करणे हेतू अश्वमेध यज्ञ में अंगभूत हवनीय पदार्थों कि 'स्वाहा' कहकर विधिवत आहुती प्रेम पूर्वक श्रद्धासे अर्पण करते है। अग्निदेवता ने ईश्वर के पास दशरथ राजा कि प्रार्थना पहुँचाई। अग्निदेवता पुत्र कामेष्टी यज्ञ में यज्ञ से उत्पन्न होकर दशरथ राजा को पायस का प्रसाद प्रदान करते है, और उस प्रसाद को ग्रहण करने से दशरथ राजा कि राणीयाँ गर्भवती हो जाती है। इस तरह सें अग्नि देवता के दूत तथा

हव्यवाहक विशेषण यहाँ दिखाई देते हैं।[1]

**रत्नधातमम् , होतारम्:-**

अग्नि देवता के ये विशेषण रामायण में संपर्क लागू होते है। 'रत्नधातमम्' याने 'रत्न को धारण करने वाला' या 'रत्न प्रदान करने वाला' कहा जाता है तथा 'होतारम्' याने 'देवताओंको आवाहन करणे वाला'।[2] अग्निदेवता द्वारा दशरथ राजा कि इच्छा पूर्ण हुई तथा चार पुत्ररुपी रत्न दशरथ राजा को प्राप्त हुए।

**जातवेदस्:-**

अग्नि देवता को 'जातवेदस्' कहा जाता है। 'जातानि वेद' अर्थात अग्नि उत्पन्न पदार्थ को जानता है इसलिये उसे 'जातवेदस्' कहा जाता है। 'कर्ता' अर्थ मे 'असि' प्रत्यय करके 'जातवेदस्' शब्द बनता है। 'जातविद्यो वा जातप्रज्ञानम् ' अग्नि स्वभाव से प्रज्ञावान होता है ऐसा जातवेदस् शब्द का व्याख्यान यास्काचार्य ने निरूक्त में किया है।[3] रामायण में अग्नि देवता ईश्वर के प्रयोजन को जानते है तथा उनका कार्य सफल करणे हेतू ईश्वर को सहायता करते है। प्रभू श्रीराम द्वारा रावण राक्षस का वध यह प्रधान हेतू अग्निदेवता जानती है।

**वैश्वानर:–**

अग्निदेवता संपूर्ण मनुष्य को ले जाता है अथवा संपूर्ण मनुष्य

---

[1] श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड, गीताप्रेस गोरखपूर

[2] यास्काचार्यप्रणीतम् निरुक्तम्,डॉ. जमुना पाठक,पृ.क्र.५१७

[3] तथैव (७.५.२ )पृ .क्र.५२३

इस अग्नि को ले जाते है अथवा यह सभी को प्राप्त होने वाला होता है। जो सभी प्राणियों तक पहुँचा होता है वह विश्वानर कहा जाता है। उसका अपत्य वैश्वानर कहलाता है। वैश्वानर अग्नि हविष को ले जाते है, हविष को पकाते है, हविष को जलाते है , अग्नि विषयक कार्य से अग्नि कि स्तुति कि जाती है।[1] रामायण काल में ऋषीमुनी, राजा, प्रजाजन सभी अपने सुख, शांती, मनोकामना प्राप्त करने के लिए वैश्वानर अग्नि को प्राप्त करते है।

**पवित्रम्:-**

'अग्निः पवित्रमुच्यते' निरूक्त ग्रंथ में यास्काचार्य ने अग्नि को 'पवित्र' कहा है। 'पवित्र' शब्द कि व्युत्पत्ती 'पूञ्' धातू से 'पवित्र' अर्थ में होती है। मंत्र से ही देवता गण अपने को सदैव पवित्र करते है।[2] अग्नि के द्वारा सभी प्राणी शुद्ध होते है। अग्नि द्वारा ही सुवर्ण कि परख होती है। रामायण महाकाव्य में भी महर्षी वाल्मीकि ने तप द्वारा ब्रह्माजी का साक्षात्कार किया, रामायण कि दिव्य काव्यता का आशीर्वाद लिया और राम चरित्र का दर्शन किया। राज्य, सुख, शक्ति आदि का मूल भी तप ही हैं। श्रीराम तो शुद्ध तपस्वी है। अरण्यकाण्ड के छठे सर्ग में वर्णन है कि पर्वत, शिखर, वृक्षादि पर रहने वाले को देखते है ये सभी जप में लिन थे। इनका जप श्रीराम का ही रहा होगा। क्योंकि इनमें से अधिकांश श्रीराम को देखते ही योगाग्नि में शरीर छोड़ देते है- ऐसा वर्णन महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण में वर्णित है। तपस्वी वाल्मीकि राम के ही जापक थे।

---

[1] तथैव (७.६.३),पृ.क्र.५२७

[2] यास्काचार्यप्रणीतम् निरुक्तम्, डॉ. जमुना पाठक,( ५.२.३४) पृ.क्र. – ३३१

किष्किन्धा काण्ड में सीतापहरण के बाद सीता कि खोज मे राम तथा सुग्रीव कि मैत्री पवित्र अग्नि को साक्षी रखकर ही हनुमान ने कि थी।[1]

रावण के अशोक वाटिका में सीता खुद के तेजसे सुरक्षित रही, क्योंकि अग्नि अग्नि को जलाता नहीं। हनुमान ने अपनी जली हुई पूछ से तथा पवित्र अग्नि देवता कि कृपा से रावण की लंका नष्ट कि लेकीन हनुमान जी सुरक्षित रहे। अग्नि देवता भक्तों का संकट दूर करते है। माता सीता कि पवित्रता तो अग्निदेवता द्वारा ही सिद्ध हुई। अग्नि परीक्षा के समय सीता ने अग्नि प्रवेश करने के बाद प्रत्यक्ष अग्नि देवता प्रभु श्रीराम से बोले कि सीता मन और शरीर से पवित्र और शुद्ध है, आप इसे पत्नी के रूपमें स्वीकार करो। अद्भुत रामायण में वर्णन है कि रावण ने हरण कि सीता माया सीता थी सत्य सीता को प्राप्त करणा यही अग्नि परीक्षा का मुख्य हेतू था।

**अग्नि सौभाग्यवती स्त्रियों का आश्रयदाता:-**

देवदत्त पटनाइक सीता रामायणा चे चित्रमय पुनर्कथन इस किताब में विदुला टोकेकर इन्होने अनुवाद किया है कि- राम सीता तथा राम के अन्य भाई तथा उनकि सहचारीनियाँ विवाह करके अयोध्या मे पहुँचे तब वशिष्ठ मुनि ने दशरथ पुत्रों कों कहा कि- जब तक आपकी पत्नियाँ आपके साथ है, जीवित हैं तब तक आपका स्थावर जंगम पर अधिकार है। पत्नी के बिना तुम यज्ञ नही कर सकते। केवल तपस्या कर सकते हो। पत्नी आपके आयुष्य से निकल जाने के बाद आपको सब हक छोडकर संन्यास लेना चाहिए। वशिष्ठ ऋषि की पत्नी अरुंधती वधुओं को मिलने के लिए आई तो उन्होने

[1] श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, किष्किन्धाकाण्ड,गीताप्रेस गोरखपूर

एक कथा उन्हे सुनाई:- अरुंधती ने कहा कि वन ने हम सात परिवार साथ रहते थे। पुरुष यज्ञ, तपस्या, होम, हवन करने में ज्ञानी थे तथा उनकि निष्ठावान पत्नियाँ थी। एक दिन स्नान के बाद अग्नि कि पूजा करने के लिए ऋषिपत्नियों ने यज्ञ शाला में प्रवेश किया। अरुंधती के अतिरिक्त अन्य ऋषिपत्नियों ने श्रृंगार नही किया था। उनके गले मे मंगलसूत्र नहीं था, हाथो में चुडियाँ नही थी, माँग में सिंदूर नही था, पाँव मे बिरुद नहीं थे इसलिये अग्नि को लगा कि यह स्त्रिया पत्नी के बिना है अत: उसने उनके साथ श्रृंगार किया। ऋषियों को पता चला तो उन्होने अपनी पत्नियों को छोड़ दिया तब से वो 'मातृका' नाम से जाने जाती है। वो ऋषिपत्नीयाँ तपस्विनी बनी। उन छ: तपस्वीनियों का आकाश मे 'कृत्तिका' नाम का एक स्वतंत्र नक्षत्र है। शिव तथा शक्ति छोडकर सबने उनका धिक्कार किया। स्कंद कि वो दाई बनी। कृतिकाओं के नाम से ही स्कंद का कार्तिकेय यह नाम गिरा।[1] कथानुसार हमे यह ज्ञात होता है कि सौभाग्य अलंकार स्त्रियों का रक्षण करता है, सौभाग्य अलंकार शरीर के हर एक भाग का रक्षण करता है। इससे मुझे ऐसा लगता है कि भारतीय पूजा पाठ में स्त्रियाँ सौभाग्य अलंकार पहनकर ही पूजा किया करती थी तथा आज भी कि जाती है। अग्नि सौभाग्यवती स्त्रियों का आश्रयदाता है।

**अग्नि के साथ तुलना:-**

रामायण में ऋषियों के क्रोधीत होने कि तुलना अग्नि के साथ बतलाई गयी है। यज्ञ मे घी कि आहुती डालने के बाद जिस तरह से

---

[1] अनुवाद विदुला टोकेकर, देवदत्त पट्टनाइक सीता रामायणाचे चित्रमय पुनर्कथन, मंजुल पब्लिशिंग हाउस , भोपाल

अग्नि अधिक प्रज्वलित होता है उसी तरह ऋषिमुनि प्रज्ज्वलित अग्नि कि तरह अधिक क्रोधित होते थे। अग्नि देवता के सौम्य रूप तथा उग्ररूप का वर्णन ऋषि मुनियों के वाणी से प्रतीत होता है। मानव कि वाणी मे भी अग्नि देवता का रूप दिखाई देता है। मानव क्रोध मे आग कि तरह अधिक क्रोधित हो जाता है। सामवेद में ब्रह्मर्षि सातवलेकर वर्णन करते है कि विश्व मे स्थित सारी देवता मनुष्य के देह मे निवास करते है। सूर्य नेत्र में, वायू नाक में ,दिशा कानों में, अग्नि मुख में निवास करते है। अग्निदेवता मानव के शरीर में अंश रूप से रहती है।[1] क्रौंच पक्षियों का वियोग देखते ही वाल्मीकि ऋषि क्रोधित हुए तथा उनके मुख से शापवाणी निकली और बाद में रामायण महाकाव्यकि रचना हुई।[2] रावण ने सीता का हरण किया तब सीता का क्रोध भी अग्नि कि तरह दिखाई देता था। पर्वत पर जैसे बिजली चमकती है वैसे बिजली कि तरह सीता तप्त दिखाई दे रही थी।

**निष्कर्ष:-**

श्रीराम तथा अन्य ऋषियों द्वारा पर्यावरणीय तत्त्व अग्नि के अनेक उदाहरण वाल्मीकि रामायण में प्राप्त होते है। पर्यावरणीय तत्त्व में अग्नितत्त्व प्रधान है। मानव के संपूर्ण शरीर में तथा मानव का पर्यावरणीय घटक अग्नि से किस तरह से संबंध है ये रामायण के प्रस्तुत संदर्भ द्वारा देखा गया है। पर्यावरणीय तत्त्व अग्नि संपूर्ण

---

[1] सामवेद,ब्रह्मर्षि म.म.पं.श्रीपाद दा.सातवळेकर,स्वाध्याय मंडळ, पारडी,जि .सुरत, पृ.क्र.१३

[2] श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, बालकाण्ड द्वितीय सर्ग, (प्रथम खंड),गीताप्रेस गोरखपूर, पृ.क्र.६०-६१

प्राणियों के समुचित जीवन का आधार है। अग्नि तत्त्व द्वारा सभी जीव-जंतू, पेड-पौधे परस्पर सामंजस्य से बनकर रहते है। अग्नि तत्त्व के बिना कोई भी याज्ञिक कार्य सफल नही होता है। वैदिक काल से लेकर आजतक अग्नितत्त्व का प्राधान्य हमारे जीवन में है। "**अग्नि पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरूत। (ऋ.१.१.२ )**– अग्निदेव पूर्वकालीन ऋषियों द्वारा तथा आधुनिक काल के ऋषि द्वारा आज भी स्तुत्य है। रामायण महाकाव्य के माध्यम से अग्नि तत्त्व द्वारा प्रकृति संरक्षण तथा उसके प्रति आदर के भाव परिलक्षित होते हैं।

**संदर्भ-ग्रन्थ–सूची:-**


१ ) श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण– गीताप्रेस गोरखपुर

२) अनुवादक त्र्यं. रा. पांडे, श्रीमद् वाल्मीकि रामायण, प्रकाशक - मोहन त्र्यंबक पांडे

३) अनुवाद विदुला टोकेकर, देवदत्त पट्टनाइक सीता रामायणाचे चित्रमय पुनर्कथन, मंजुल पब्लिशिंग हाउस, भोपाल

४) ऋग्वेद संहिता(मण्डल १-२) वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं.श्रीराम शर्मा आचार्य भगवतीदेवी शर्मा

५) स.कृ. देवधर ,ऋग्वेद ,प्रसाद प्रकाशन ,पुणे

६) ब्रह्मर्षि म.म.पं. श्रीपाद दामोधर सातवळेकर, सामवेद, स्वाध्याय मंडळ, पारडी

७) डॉ. जमुनापाठक, यास्काचार्यप्रणीतम् निरुक्तम्, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी

# रावण : रामायणपर आधारित अभिषेक नाटक में 'प्रतिनायक'

**लीना सुनील पांडे**
संशोधकछात्रा(संस्कृतविभाग)
रा.तु.म. नागपूर विद्यापीठ, नागपूर

**सारांश:-**

'रावण' की भूमिका रामायण में प्रमुख भूमिकाओं में से एक है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाए तो 'रावण' की भूमिका नायक की भूमिका के विरोधी है। और यह विरोधी भूमिका करने वाले पात्र को प्रतिनायक कहा जाता है। प्रतिनायक के इसी विरोधी गतिविधीयों के कारण नायक को उठाव प्राप्त होता है। उनके विशेष गुण सामाजियों के सामने उभरकर आते है, और 'नायक' सहृदयों के हृदय में अपनी जगह बना लेते है। प्रतिनायक के महत्त्व को, सबके सामने रखना ही मेरे इस शोधपत्र का प्रमुख उद्देश है। रावण की भूमिका राम के चरित्र के आदरणीय बनाने में कितनी उपयुक्त है। ये सिद्ध करना मेरे शोधपत्र का उद्देश है।

**हेतू:**- नाटकों में प्रतिनायक की भूमिका की उपयुक्तता (अनिवार्यता) सिद्ध करना।

**अध्ययन पद्धति:**- इस शोधपत्र में विवेचनात्मक अध्ययन पद्धतिका उपयोग किया गया है।

**कूट शब्द:**- रावण, राम, प्रतिनायक, नायक, रामायण

'काव्येषु नाटक रम्यम्' यह एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है। दशरूपककार के अनुसार रूपक दस है।[1] उनमे से 'नाटक' एक रूपक नाटक का नायक मधुर, त्यागी, दक्ष आदि गुणों से युक्त होना चाहिए।[2] उनकी भूमिका एक आदर्श भूमिका होती है, और इसीलिए कहा जाता है।

**'रामदिवत् वर्णितव्यं न रावणादिवत्'**

नाटक में आदर्श नायक विरोधी भूमिका को 'प्रतिनायक' कहा जाता है। नायक- विरोधी भूमिका यानी नायक का आदर्श और विश्वास के विरोधी भूमिका और इसी प्रतिपक्षी भूमिका का प्रतिनिधि प्रतिनायक होता है।

संस्कृत रूपकों में नायक के उत्कृष्ट चित्रण की दृष्टी से प्रतिनायक की भूमिका अति महत्त्वपूर्ण होती है।[3] इसी सन्दर्भ में आचार्य दण्डि काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में लिखते है:-

**वशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि।**

**तज्जयान्नायकोत्कर्षकथन च घिनोति न।।**

(काव्यादर्श 1/22)

अर्थात् शत्रु के वंश, पराक्रम तथा पाडित्य आदि का वर्णन करने के पश्चात नायक द्वारा उस पर विजय- प्राप्ति के माध्यम से नायक के उत्कर्ष का वर्णन करना हमे सन्तोषप्रद है।

**(काव्यादर्श) टिप्पणी:-** नायक की महिमा को प्रकट करने के लिए प्रतिनायक का ओजस्वी वर्णन करना अत्यावश्यक है। शत्रु यदि साधारण तथा निर्बल है तो नायक का उस पर विजय प्राप्त करना

कुछ महत्त्व नही रखता। नायक का उत्कर्ष तभी प्रकट हो सकता है जबकि उसका विरोधी भी करीब-करीब उतना ही बलशाली हो जितना कि नायक इसी के अनुसार माघ, कुमारसम्भव, रघुवंश, किरातार्जुनीयम् आदि में कृष्ण, कार्तिकेय, राम, रघु, अर्जुन आदि नायकों के प्रतिद्वन्द्वी शिशुपाल, तारक, रावण, इन्द्र, शिव आदि भी उन्ही के अनुसार चित्रित किये गये है।[4] प्रतिनायक में नायक के समान ही गुण होते है, लेकिन कुछ दोषो के कारण प्रतिनायक नायक से न्यूनतर होता है।

नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ के आधार पर मैं यहा प्रतिनायक के शास्त्रीय रूप और प्रतिनायक के महत्त्व का विश्लेषण प्रस्तुत कर रही हूँ।

भरतमुनिकृत 'नाट्यशास्त्रम्' यह उपलब्ध प्रथम नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। समय के साथ अनेक नाट्यशास्त्रीयों ने प्रतिनायक की विशेषताओं को अधिक स्पष्ट रूपसे परिभाषिक किया है। नाट्यशास्त्रकारों की चर्चा से पहले लक्षणों के सन्दर्भ में देखना अधिक उचित होंगा। क्योंकि यह विषय के लिए प्रासंगिक हैं।

**दशरूपककार धनंजयाचार्य और प्रतिनायक:-**

दशरूप के रचयिता आचार्य धनंजय ऐसे पहले नाटककार बने जिन्होंने प्रतिनायक की भूमिका को स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया तथा उसकी विशेषताओं का वर्णन किया।

दशरूपककार आचार्य धनंजय ने प्रतिनायक को 'रिपु' कहा है। इनके लक्षण बताते हुए आचार्य धनंजय कहते है।

**लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद्व्यसनी रिपुः।।**

(दशरूपक -2/9)

आगे बताते हुए आचार्य में वृत्ति में कहा है:-

**'तस्य नायकस्येथंभूतः प्रतिपक्षनायको भवति, यथा रामयुधिष्ठिरयो रावणदुर्योधनौ।'**

(दशरूपक- 2/9 वृत्ति भाग)

आचार्य धनंजय ने प्रतिनायक के लक्षणों में लुब्ध, स्तब्ध, पापकृद्, व्यसनी तथा रिपु विशेषणों के साथ 'धीरोद्धत्' विशेषण का भी स्पष्ट रूपसे अन्तर्भाव किया है। अतः पहले यह समझ लेना अधिक लाभदायक होंगा की आचार्य धनंजय 'धीरोद्धत' विशेषण के बारे में क्या सोचते है। धनंजयाचार्य धीरोद्धत नायक का वर्णन करते हुए कहते है -

**दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः।**
**धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलरश्चण्डो विकत्थनः।।**

(दशरूपक 2/5, 6)

धीरोद्धत नायक घमण्ड (दर्प) और ईर्ष्या (मात्सर्य) से भरा हुआ, माया और कपट से युक्त घमण्डी, चंचल, उग्र स्वभाव और आत्म गुणों की प्रशंसा करने वाला होता है।[5]

संस्कृत रूपकों में प्रतिनायक लालची, असभ्य, पापी, व्यसनी होने के साथ-साथ धीरोद्धत भी होता है। अतः वह धीरोद्धत नायक के गुण धारण कर अधिक असभ्य हो जाता है।

इसलिए लक्ष्य रूपकों में प्रतिनायक की भूमिका धीरोद्धत

नायक से अधिक उद्धट होनी चाहिए।

आचार्य धनंजयकृत लक्षण के सन्दर्भ में ये भी अधिक महत्त्वपूर्ण है की उन्होने प्रतिनायक को 'रिपु' संज्ञा दी है। महावीरचरितम् नाटक में राम रावण के गुणों के प्रशंसक होते हुए भी कहते है:-

**'कामं शत्रुरिति वध्यः स्यात्'**

उनका यह लक्षण दशरूपककार के लक्षण का समर्थन करता है।

इस सारे विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है की प्रतिनायक में वीर नायक के सभी गुण तो है ही, साथ ही अन्य गुण भी है जो प्रतिद्वन्द्वता को अधिक जीवित बनाता है।

उपरोक्त प्रतिनायक के लक्षणों को समझने के बाद रूपकों में प्रतिनायक की भूमिका को देखना उचित होगा ताकि यह स्पष्ट हो जायेगा की सैद्धांतिक रूप में निर्दिष्ट प्रतिनायकत्व व्यावहारिक स्तर पर कैसे संयोजित होता है।

इसके लिए आइए देखते है रामायण पर आधारित भास विरचित 'अभिषेकनाटकम्' भास का अभिषेकनाटक एक महान रूपक है। इसमें नायक राम, प्रतिनायक रावण तथा उपप्रतिनायक बाली है। इस नाटक में लक्ष्मण, सुग्रीव और हनुमान की भूमिकाएँ उपनायक के रूप में चित्रीत की गई है। इस नाटक में अंगीरस वीर है। अभिषेकनाटक की कहानी बालिवध (किष्किन्धाकाण्ड) से शुरू होती है, और हनुमान द्वारा सीता को विश्वास दिलाना लंकादहन

(सुन्दरकाण्ड) राम-रावण युद्ध, विभीषण का राज्यभिषेक की कहानी के साथ समाप्त होती है।

नाटक का नायक राम और उसका मुख्य प्रतिद्वन्द्वी रावण है। रावण की भूमिका राम और अन्य उपनायकों के चरित्र चित्रण में महत्त्वपूर्ण है। यहा राम और रावण के बीच वास्तविक संवाद न होने के कारण तथा युद्ध में दोनों का एक-दुसरे से सामना न होने के कारण राम के युद्ध को वीरता के रूप मे प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। परंतु फिर भी रावण के चरित्र के माध्यम से कवि ने राम, विभीषण और हनुमान के चरित्र की उंचाई को दर्शाया है।

दर्प और कामुकता के वशीभुत होकर रावण देवी सीता के मन को जीतने के लिए जितना व्याकूल है उतना व्याकूल रामपर विजय प्राप्त करने के लिए नही है, क्यों की वह जानता है कि यदि सीताने किसी भी प्रकार से धोखे से उसे स्वीकार कर लिया तो राम स्वयं वापस चले जायेंगे। यही उसकी नीति है। उसे अपनी शक्ति पर भी अटूट विश्वास है।

प्रतिनायकगण व्यसनों में वे सभी दुर्गुण शामिल है जो किसी भी व्यक्ति के पतन का कारण बन सकते है। मनु ने अठराह प्रकार के व्यसनों का उल्लेख किया है, जो किसी भी राजा के लिए हानिकारक है, मुख्य रूप से काम और क्रोध ये सभी दुर्गुण रावण में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मौजूद थे, वह कामी और क्रोधी था।

राम की सीता के प्रति प्रेम की भावना हालाकि उनके उदात्त चरित्र के कारण सामने नही आयी। सीता के वियोग में भी राम की पीडा अभिव्यक्त नही हो सकी, मात्र रावण का अनुराग तो प्रकट

होता ही है। रावण को देवी सीता का व्रत, उसका म्लानमुख और कृश शरीर को देखकर पीडा होती है।[7] चन्द्रमा की रजत किरणे उसकी पीड़ा में घृताहुती देते है। [8] वह सीता की उग्र तपस्या नही दे सकता, और वह तुरंत अनुराग की घोषणा करता है और उसके लंकेश्वरी बनने का दिवास्वप्न देखता है।[9] वहा सीता की प्रतिक्रीया 'शप्तोऽसि' सुनकर उसकी वासना जागृत हो जाती है, लेकिन वह सीता के इन तीन अक्षरों पर हँसता है।[10] रावण की कामुकता यही खत्म नहीं होती बल्की जब भी वह सीता को अपने सामने देखता है तो उसकी वासना और भी तीव्र हो जाती है। और वह नितान्त कामचारी के समान प्रलाप करने लगता है, उसे नींद नहीं आती। देवी सीता को देखकर उसका शरीर क्षीण हो रहा है।[11] वह अपने प्रणय निवेदन घोषणाओं में राम के प्रति अपनी बुरी भावनाओं को व्यक्त करना बन्द नही करता। [12] वह माया व कपट के द्वारा सीता के मन को अपने पास लाने की कोशिश करता है और इसलिए वह राम और लक्ष्मण के कृतक शिरों को प्रदर्शित करता है। [13] रावण सीता के साथ अपने अनुराग की घोषणा करते हुए राम को 'गतायु' कहता है। उसके ऐसे कहने पर हनुमान की प्रतिक्रिया में राम के चरित्र को वर्णनात्मक दृष्टि से उभारने में कवि को यश प्राप्त हुआ है। [14]

तीसरे अंक में रावण और हनुमान के बीच के संवादों से कथानक के विस्तार के साथ ही 'राम' के चरित्र्य को उठाव प्राप्त करने में उसकी मदत मिली। इन संवादों के माध्यम से कवि रावण के क्रोध, दर्प औश्र विकत्थना को दर्शाने में सफल हुये है। तात्पर्य यह है कि यहाँ कवि द्वारा रावण के चरित्र को इस प्रकार से प्रस्तुत किया गया है कि जीससे नायक राम के चरित्र्य को अच्छी तरह से

उत्थान प्राप्त हुआ है।

**निष्कर्ष:-**

रामायण पर आधारित अभिषेक नाटक में 'रस' का उत्तम प्रकार से विकास हुआ है। रावण और हनुमान के बीच संवाद, विभीषण और रावण के बीच का विवाद और बाली और सुग्रीव के बीच युद्ध के माध्यम से वीर और रौद्र रस का प्रयोग सफल हुआ है। प्रतिनायक रावण के चरित्र्य के माध्यम से कवि का वीर और रौद्र रस के साथ श्रृंगार के आभास का भी प्रयास सफल हुआ है।

संक्षेप में हम देखते है कि नायक विरोधीपात्र 'रावण' के माध्यम से नायक 'राम' के चरित्र को उठाने में सहायक सिद्ध हुए है। प्रतिनायक रावण के कारण ही 'राम' के गुण सामाजिकों के सामने उभरकर आये है। रावण नहीं होते तो शायद हम 'राम' के गुणों को पुरी तरह से नहीं समझ पाते। और इससे यही सिद्ध होता है कि प्रतिनायक 'रावण' की भूमिका नायक 'राम' के चरित्र को आदरार्थी बनानें में अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध होती है।

**सन्दर्भ:-**

1) नाटकं सप्रकरणमक्ङो व्यायोग एव च।
भाणः समवकारश्च वीथीप्रहसनं डिमः।।2।।
ईक्षामृगश्च विज्ञेयो दशमो नाट्यलक्षणे।
(नाटयशास्त्रम् 20/2, 3)

2) नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा।।
(दशरूपकम् 2/1)

3) अथवा प्रतिपक्षस्य वर्णयित्वा गुणान् बहून।
तज्जयान्नायकोत्कर्षवर्णनं च मतं क्वचित्।।

(प्रतापरूद्रयशोभूषणम्)

4) काव्यादयर्श 1/22

5) दशरूपकम् 2/5, 6

6) कामजेषु प्रसक्तो हि व्ययसनेषु महीपतिः। वियुज्यSर्य धर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु।। मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियोमदः। तौनौर्यत्रिक वृथाद्या च कामजो दशको गुणः।। पैशुन्य साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्। वाग्दंडजश्च पारूण्यं क्रेधजो Sगुणोष्टकः।।

(मनुस्मृती)

7) एषा सीता पादमूलमाश्रित्य ध्यानसंवीतहृदयांनशन क्षामवदना आदि.....।

(अभिषेकनाटकम् - भास - द्वितीय अंक)

8) रजतरचितदपर्णणप्रकाशः 'करनिकरैर्हृदयं ममाभिपीडयl (अभिषेकनाटकम् भास - 2/11)

9) सीते ! त्याज त्वं व्रतमुग्रचर्यं भाजस्व मां भामिनिl सर्वगात्रैः अपास्य तं मानुषमद्य भद्रे। गतायुषं कामपथान्निवृत्तम।। (अभषेकनाटकम भास 2/14)

10) रावण - ननु देवि।
सीता – शप्तोSसि।
रावण - हहह, अहो पतिव्रतायास्तेजः।
देवाः सेन्द्रादयो भग्ना दानवाश्च मया रणे।
सोSहं मोहं गतोSस्यद्य सीतायास्त्रिभिरक्षरैः।।

(अभिषेक नाटकम् भास - 2/18)

11) अहो न खल्वतुलबलता कुसुमधन्वनः कुतः,
निद्रा से निशि विस्मरन्ति नयनान्यालोय सीताननं
तत्सश्लेषसुखार्थिनी तनुतरा याता तनुः पाण्डुताम्।
सन्तायं रमणीयवस्तुविषये बन्धाति पुष्पेपुणा।
कष्टं रिर्पितविष्टपत्रयभुजो निर्जीयतें रावणः।। (अभिषेकनाटकम - भास 5/6)

12) सीते ! त्यज त्वमरविन्दपलाशनेत्रे।
चित्तं हि मानुषगतं मम चित्तनाथे।।
शस्त्रेण मेSद्य समरे विनिपात्यमानं
प्रेक्षस्व लक्ष्मणयुतं तव चित्तकान्तम्।।
(अभिषेकाटकम भास 5/7)

13) रावणः – सीते पश्य पश्य तयोर्मानुषयोः शिरसी।
सीता - (इति मूर्च्छिता पतति) (हा आर्यपुत्र !)
रावणः - 'सीते। भावं परित्याज्य नामुषेSस्मिन गतायुषि। अद्यैव त्वं विशालाक्षिl महती श्रियमाप्नुहि।।
(अभिषेकनाटकम् भास 5/9)

14) तौ च बाहू न विज्ञाय तच्चपि सुमहद्धनुः।
सायंक चापि समस्य, गतायुरिति भाषते।।
(अभिषेकनाटकम् भास - 2/15)

# The sacrifice described in the Balkanda of Valmiki Ramayana

**Mrs. Mohini Makrand Joshi**

**Abstract-**

**कविकोकिल–वाल्मीकि–विरचिता**
**रामायण रमणीय कथा**
**अतीव–सरला मधुरमञ्जुला**
**नैव क्लिष्टा न च कठिना**

The Ramayana as described is the world's best epic. Ramayana composed in seven cantos by Rishi Valmiki in *Anushtup chhanda*. The first *kanda* is the *Balkanda*. In this *Balkanda* there are short stories about the birth of Lord *Shree Ramachandra*, followed by Rama birth, Education, *Tadkavadha, Siddhasram Gaman*, *yadnya* protection, *Mithila darshan* and *ShreeRama-Janaki* marriage.

Rituals and sacrifices have been mentioned at various places in this entire *Balkanda*. King Dasharatha also performed *Ashwamedha Yadnya* for the sake of a son. It is mentioned in *Valmiki's Ramayana* that a sacrifice called *Putreshti* was performed.

When *Prabhu Shree Ramachandra* returned to his home after studying *Vidya*, *Brahmarishi Vishwamitra* came to *Dasharatha* and asked for the sixteen years old *ShreeRama* to protect the *Yadnya*. Next is the story of *Baliraja.* This is a story in which the real Vishnu takes the form of *Batu Vamana* and goes to *Baliraja's* sacrifice as a *Yachaka* and in two steps he covers the *Dharni* and the space, in the third step he pushes the victim *Bali* into the Abyss. Such small and big sacrifices are mentioned in *Balkanda*. *Yadnya* is a indicative of Indian culture . Sacrifice is very important in Indian culture. And *Yadnya Sanstha* has been functioning in India since ancient times. This is proved by reading the mention of *Yadnyas* in Valmiki's epic poem Ramayana.

The purpose of this research paper is to tell the importance of *Vedic Yadnya* on the occasion of *Balkanda* in *Valmiki Ramayana*. My aim is to prove that performing *Yadnya* even today is necessary for the welfare of the environment and human life is the pure purpose of this research paper.

Research Methodology- Descriptive and analytical method has been used in this research paper.

Keywords:- *Balkand, Ramayana, Ashwamedha, Putrenti, Yadnya*, Indian culture etc.

Ram – the Ideal Image -

*Ramayana* and *Mahabharata* , these two *Arsh Kavya* are very important in Indian culture. The *Ramayana* It is the basis of Indian life style. *Ram Rajya* is an ideal foundation of social life. Ram is the best person, the epitome of powerful restraint and the perfect man and Sita is feminine compassion, image of dutifulness And the embodiment of *Pativratya*. *Prabhu Shri-Rama'*s character is an inspiration for everyone. *Purnapurusha* Lord *Shri Ramachandra* is the embodiment of all virtues. His speech and actions are very sweet. *ShreeRama* is the ideal son, husband, as well as king.

It is mentioned in *Valmiki Ramayana* that Lord *Vishnu* actually took the form of *Rama* on earth to kill *Ravana* and to protect the sages of India and their sacrifices. In the *Treta Yuga*, demons were rampant, sages were trying to achieve success through sacrifices, striving for the welfare of the world. *Ravana*, the demon king, got the blessing of immortality by his penance and now was endlessly torturing the people. Harassing the sages, ruining their sacrifices. The demon Lord *Ravana* had full faith in the power of this *yadnya* and therefore he ordered his followers to go wherever *yadnyas* were being performed and try to destroy or disrupt the *yadnyas.* In *Tulsi Ramayana* it is described…..

सुनहु सकल रजनीचर जूथा।
हमरे बैरी विबुध बरूथा ॥
तिन कर मरन एक विधि होई।
कहहुँ बुझाई सुनहु अब सोई॥

द्विज भोजन मख होम सराधा।

सब कै जाइ करहु तुम बाधा ॥[1]

*Ravana* was a scholar, he knew that *yadnya* etc rituals are beneficial for the Gods, so the *Yadnya* demons are always in trouble. The demon would try to destroy the sacrificial process by disguising as a friend - and as a scholar and as a fool - as an ally and as an opponent - because through *Yadnya* the Goddess *Tattva* is strengthened and the demonic is weakened. India is the land of sages. That is why *Valmiki Ramayana* repeatedly shows that India is a land of rituals. *Yadnya Sanstha* is a characteristic of India. Sacrifices are described in various places in *Valmiki's Ramayana*, especially in *the Balkanda. Shri Ram* was actually born through the medium of *Yadnya*. The story is given in *Valmiki Ramayana's Balkanda*. It is like that.

**Ayodhya: A city built by Manu:-**

A vast region called *Kosala* was situated on the banks of the *Sharyu* River. A verdant land, rich and endowed with riches. In this region there was the famous city of *Ayodhya,* which was built as per the will of Manu, on which the actual *Apsara* showered flowers from the plane. The city of *Ayodhya* was competing with Indra's city of Amaravati with flawlessly designed houses, jewelled palaces like the palaces of *Vaikuntha. Ayodhya* was a city with all the beautiful features like a well-defined urban structure, clean beautiful *upavanas*, reservoirs inhabited by flamingos.

The people of *Ayodhya* were always happy and cheerful. Warriors, *Rathi, Maharathi* of the state were protecting the city. The roads leading to *Ayodhya* were always crowded with rich traders. Foreign kings, princes used to come for trade, to pay tribute. Brahmins of *Ayodhyanagari* used to sing *Vedic hymns* and glorify Lord Vishnu while offering ghee in *Yadnya*. The *Vaishyas* of *Ayodhya* traded with integrity, honesty and kindness. *Kshudras* also performed their work with full faith.

*Maharaja Dasharatha* was the emperor of the entire world.

---

[1] रामचरितमानस, तुलसीदास

He was a great *Rajarishi* and was worthy of a *Maharishi*. His birth and himself religious, his *Ayodhya* was a perfect picture of the Vedic culture, every glory of imagination was fulfilled there, and there was no physical or spiritual suffering.

All the four *Varnas* of the society cooperated with each other for prosperity and peace of *Ayodhya*. In *Valmiki Ramayana*, Ayodhya is described as total absence of rudeness, atheism and harshness.

**Yadnya: Perform by Dasharatha:-**

Despite being the lord of so much glory and prestige, *Maharaj Dasharatha* was always unhappy because he had no son to raise his family. He was then advised to perform the *Ashvamedha Yadnya* for getting a son, and *Dasharatha* proposed the *Ashvamedha Yadnya* before all the *Brahmins* under the guidance of sage *Vasistha* and *Vamdev*. *Maharaja Dasaratha*, king of Ayodhya, says to the Brahmins who perform his sacrifice-

धर्मार्थ सहितं युक्तं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत्।

ममता तप्यमानस्य पुत्रार्थ नास्ति वै सुखम्॥[1]

वाल्मिकी रामायण आ•ख• द्वादश सर्ग

O brahmins, I am anxious and anxious to have a son. I don't have the slightest happiness anywhere. (saying) I have thought of performing a sacrifice for the sake of obtaining a son.

He spoke in a charming manner that was appropriate and accompanied by religious meaning. There is no happiness for the sake of a son who is tormented by me.

**Comment of Shreela Prabhupada on Ashvamedha:-**

*Sreela Prabhupada* comments on the *Ashvamedha yadnya* that the *Vedic yadnya* is not a simple *yadnya* where deities are present and the sacrificed animals are reborn but in this *Kaliyuga* there are no competent *Brahmins* who can invite the deities or give new life to the dead animals. In earlier times *Brahmins* were well versed in *Vedic mantras* and could show the amount of

[1] वाल्मिकी रामायण १२ वा सर्ग

mantra power, so in those days *Ashvamedha Yadnya* etc. were performed but, in this Yuga, *such Yadnyas* are prohibited.[1] The practice of *Ashvamedha Yadnya* was performed like this, as an Emperor who is going to perform *Ashvamedha Yadnya* used to travel around the world with a horse of challenge to make other kings his *mandaliks*. *Ashvamedha yadnya* started only when that horse came back after trampling the whole world. The sacrificial horse of Emperor *Dasaratha*, returned to *Ayodhya* after trampling the entire earth under the protection of 400 warriors. Then the *Ashvamedha yadnya* is started as mentioned in *Valmiki Ramayana*.

A similar description is found in *Tulsikrit Ramayana*…….

एकबार भूपति मन माँही। भै गलानि मोरे सुत नाहीं ॥

गुरुगृह गयड तुरत महिपाला। चरण लागि करि विनय विसाला ॥

श्रृंगी ऋषिहिं वशिष्ठ बोलावा। पुत्र काम शुभ यज्ञ करावा ॥

भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें। प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें ॥[2]

The birth of Lord Sri Ram was the fruit of *Yadnya* itself. *Yadnya* is the father of Ram. *Dasharatha* performed *Putreshti Yadnya* to get a son. The twelfth chapter of Valmiki's Ramayana is quoted as saying that *Dasaratha* requests *Rishiputra Shringi* that the *Yadnya* should be perfect and performed properly.

ऋषि पुत्र प्रभावेण कामान्प्राप्स्यामि चाप्यहम्।

तद्यथा विधि पूर्व मे क्रतुरेषु समाप्यते।

तथा विधानं क्रियतां समर्थाः करणेप्विह ॥[3]

Yadnya: The fulfiller of wishes

In ancient times, sacrifices were performed to fulfill different objectives. The tradition of sacrifice has been going on since Vedic times. There are many occasions to perform *Yadnya*

---

[1] वाल्मिकी रामायण मराठी अनुवाद – सुनीता प्रधान – २०१७

[2] रामचरितमानस – तुलसीदास

[3] वाल्मिकी रामायण १२ वा सर्ग

to fulfill wishes, prevent evil, calamity. *Yadnyas* are performed to please the deities too. The subject of *Yadnya* is prominent in the *Vedas* because *Yadnya* is a scientific statement, which leads to the material and spiritual well-being of man. It is said….

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोस्त्विष्टकामधुक् ॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
इष्टान्भोगाह्विवो देवा दास्यन्ते यज्ञ भाविता ॥[1]

- गीता ३/१०/११

That is, the 10th verse of the third chapter of *Srimad Bhagavad Gita*, In the 11th *Shloka* it is described that Lord Brahma created *Yadnya* along with man. And told humans that this *Yadnya* will fulfil your desired desires and needs. You give power to the deities through sacrifices, they will prosper you and give you happiness and peace.

**Samidhas and Navgrahas:-**

*Yadnya* is an important science. while performing *yadnya* milk, curd, honey, sugar, ghee**,** *charu* etc. and various *Samidhas* are offered. The material used in *Yadnya* or *Havan* is called *Samidha*. *Samidha* with specific qualities symbolizes the peace of the *navagrahas*. Usually, the branches of nine different trees are used as *samidha*. *Mandar* or mango twig is used to calm the sun. *Ashwamedha, Putreshti, Rajasuya* etc. After lighting the sacrificial fire, fruits, *sahad*, ghee, coconut, food etc. Sacrifice of food is prominent. To reduce air pollution, Indian sages used to perform regular *Agnihotra* as well as fruitful *yadnya*s. *Valmiki Ramayana* also mentions various sacrifices at various places. *Samidha* is also useful in various diseases. *Palasa samidha* is used to calm the moon and calm mental disorders. *Khaira Samidha* is used to remove the obstruction of *Mangalgraha* and

[1] श्रीमद भगवद्गीता ३/१०/११

cure skin diseases. *Latjeera* is used for the pacification of *Mercury* as well as for the treatment of mental diseases, disorders *Mukharoga*. *Pipal* tree is used for the peace of *Jupiter*, development of knowledge, intelligence. The *Audumbara* tree is associated with the planet Venus and is used in *Yadnya*s for the attainment of salvation. *Audumbara* tree is also useful in diabetes, throat, stomach diseases and eye diseases. *Shamivriksha* is used for the happiness of *Shanigraha*, it is a sin killer. *Durva* is done for *Rahu's* peace and long life. *Kusha* is used for the peace of *Ketu.*

**Agni & Samidha:-**

It is the characteristic of fire that when they gets burnt, it liberates the qualities of those *samidhas* into the atmosphere. Due to which the qualities of *Samidhas* increase by many times. Fire basically has the quality of purification. It destroys all defects and diseases by his exaltation. The tradition of *Yadnya* and *Havan* has been going on since time immemorial. The materials of *Havan* should be pure, clean. Rotten, infested with insects, wet and trees on cremation ground are forbidden to be used as *samidhas*. Trees in parks, forests and riverbanks are excellent as *samidhas.*

**Important Samidhas:-**

*Homa* is done especially with *mandar, palas, pimpal, amra, audumber neem, shami, sandalwood, ashwagandha, brahmi, mulaithi root, kush, khair, durva, aghada, agar, tagar etc. Besides jaggery, ghee, sesame seeds, linseed, camphor, goggul*, rice, sugar, cloves, willow, *Nagarmotha, Lajaloo* etc things are used to perform *havan*. *Havan* is mainly performed with *Amra Vriksha, Vad, Pimpal, Palas, Jambhul, Shami* and *Khezdi*.

**Use of *Samidhas* in different seasons:–**

There is a clear rule that different *Samidhas* should be used in different seasons in*Yadnya Shastra,* like *Shami* in spring, *Pimpal* in summer, *Bel* in spring, mango tree in fall, *Khair* in *Hemant* season, *Audumbar* or *Vad* in winter.

**Benefits of Amravruksha as Samidha:-**

The sciencists of CSIR – National Botanical Research Institute, Lucknow have experimentally proven that using *Amravruksha* reduces the level of viruses in a room by 94% within an hour. Twenty-four hours later room viruses are reduced by 96%. Not only this, even after a month, the level of viruses in the air was below normal in that room. This is because the burning of mango tree sap produces a gas called formic aldehyde, which purifies the air by killing airborne bacteria and viruses. The report was published in the research paper in the issue of Dec. 2007 of ethnopharmacology.

**Sita and meaning of *Darbha*:-**

Valmiki Ramayana, *Ramacharitmanas* have described environmental factors at various places. Janak's daughter `Sita' was found into the ploughshare while the field was being ploughed. Being an earthling, she is associated with vegetation, especially grass. A pictorial retelling (*Chitrakatha)* of the *Sita Ramayana* written by Devdutt Patnaik and translated by Vidula Tokekar describes Sita as a long sharp blade of *kush* grass required in Vedic rituals. The person performing the *yadnya* sits on the *darbha* seat, wears the *darbha* ring on his finger. *Darbha's* broom and *palita* are used to sweep the altar and light the fire. In the *Puranas Darbha* is associated with *Brahma's* hair, in *Kurmavatara* with *Vishnu's* hair and with *Sita'*s hair.[1]

**Royal *Yadnyas*:-**

The *Ashvamedha yadnya* is performed with the aim of becoming *Chakravarti Samrat*. *Maharaj Dasharatha* as well as *Prabhu Shri Ramchandra* is described in the *Ramayana* as the performers this *yadnya*. According to the scriptures, whoever performs this *yadnya* for 100 times gets *Indrapad. Rajasuya yadnya* was performed by the royal people to increase their fame and the borders of the kingdom. The story of *Yudhishthira'*s performance of *Rajasuya yadnya* is narrated in *Mahabharata*.

---

[1] सीता रामायणाचे चित्रमय पुनर्कथन : अनुवादक - विदुला टोकेकर मंजुल पब्लिशिंग हाउस

This *Yadnya* was performed by *Maharaja Raghu*, the ancestor of *Lord Shree Ramachandra*, with the intention of conquering the world.

There is also mention in the scriptures that this sacrifice is the fulfiller of all desires. *Soma Yadnya* is performed for the welfare of all mankind. This sacrifice is often performed in modern times. *Parjanya Yadnya* is performed to bring rain. This sacrifice can still be seen today.

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।

यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।।[1]

श्रीमद् भगवद्गीता - ३.१४

All living beings are fed with food, and food is produced from rain. The rain that blows the sacrifices is the source of the sacrifice.

Srimad Bhagavad Gita- 3.14

Besides this, many sacrifices like *Vishnu Yadnya, Shatachandi Yadnya, Rudra Yadnya, Ganesh Yadnya* etc. are performed.

Conclusion -

**यज्ञाः कल्याण हेतवः ।[2]**

- विष्णु पुराण ६/१/१८

Sacrifices are the causes of welfare.

- Vishnu Purana 6/1/18

The purpose of sacrifice is welfare. *Yadnya* brings supernatural spiritual bliss, purifies the environment, destroys toxins and frees us from diseases. All our wishes are fulfilled by performing *yadnya*. That is why I think our religious scriptures, especially the Ramayana and Mahabharata, have stated the importance of sacrifice. The Valmiki Ramayana is the ideal and universally accepted text of Indian culture. That is why even today we should perform *Yadnyas* and *Yagas*. They are

---

[1] श्रीमद भगवद्गीता ३/१४

[2] विष्णु पुराण ६/१/१८

necessary for our environment and for the welfare of human life.

That is why we should perform *Yadnya*s and *Yagas* even today. They are necessary for our environment and for the welfare of human life.

## संदर्भ-ग्रंथ-सूची:–


१) श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण – गीताप्रेस गोरखपुर

२) श्रीमद् वाल्मीकि रामायण , अनुवादक त्र्यं . रा. पांडे , प्रकाशक मोहन त्र्यंबक पांडे

३) देवदत्त पट्टनाइक सीता रामायणाचे चित्रमय पुनर्कथन, अनुवाद विदुला टोकेकर ,मंजुल पब्लिशिंग हाउस, भोपाल

४) वाल्मिकी रामायण : भगवान श्री रामचंद्राची कथा – अनुवादक सुनिता प्रधान – २०१७ भक्ती विकास ट्रस्ट, सूरत

५) श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासविरचित श्रीरामचरितमानस – टीकाकार – हुमानप्रसाद पोद्दार – गोविंदभवन – कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर.

६) तत्वार्थ रामायण : प्रो. मुकेश कुमार गर्ग – पूजा प्रकाशन, दिल्ली.


❑❑❑

# Science of Sound Consciousness: The Language and Culture in Sant Mat

**Dr. Arati Swaroop**
Dayalbagh Educational Institute, Deemed to be University

**Abstract:-**

**"Where the eye cannot reach, the ear does. Sound is a subtler phenomenon than light".**

The sense of hearing is a subtler phenomenon than that of sight. Sound and Sonality enjoys exceptional significance since ancient times in Indian culture. Sound consciousness has been evolving from Vedic times and to the *Sant Mat*, from *Apara Vidya* to *Para Vidya*, *Atma* to *Parmatma*, Microcosmic to Macrocosmic Consciousness, as the human being continues to evolve from Homo Sapiens to Homo Spiritualis. Currently the new scientific knowledge of the secrets of creation and its resonating character is being unraveled to substantiate the teachings of Saints with ever new scientific evidence. There are two classes of sounds; The spiritual sound, whose tendency is inwards and is attractive and the material (mental) sounds, of an opposite character. Language of Spiritual sounds consists of धुन्यात्मक (resonating sounds), reverberating in the higher creational planes as opposed to वर्णात्मक (descriptive sounds) of mental plane. The secret of four internal sounds -*Niranjan, Aum, Rarang, Sohang* (The Region of *Brahmand*) and further, as described in Religion of Saints, the sounds of *Sat* and *Ra Dha Sva Aa Mi* from *Nirmal Chetan Desh (*Pure Spiritual Region) are revealed gradually during the practice of Ultra Transcendental Meditation (*Surat Shabda Yoga*) under the Spiritual Master or *Sant Satguru*. The method of devotional practice, as described in the *Sant Mat*, is practical and possible to pursue while in *grihastha ashram* by one and all. However, as food, worldly possessions and environments exert a great influence on body and mind, it requires to restrict to *satoguni*-Pure and clean, food as may not excite body and mind to unnecessary and undesirable activities.

By pursuing the Golden Mean Path between gross worldliness and unworldliness (*Sanyas*), the solution can be found in embracing 'Better Worldliness' as means to attain life's Ultimate Aim.

**Key words:-** *Sant Mat*, *Surat Shabd Yoga*, Sound Consciousness, Better Worldliness, *Para Vidya*, Homo Spiritualis, Resonating sounds

**Introduction:-**

Consciousness is the attribute of humans that keeps them alive, which regulates their awareness, sensitivity, experience, and the perception of their own existence. The study of consciousness is an important subject in the fields of science, philosophy, and psychology.

The history of the human species reveals that through contemplation on subjects such as our existence, creation, life and death, etc., human consciousness has gradually evolved, leading from the era of **Homo erectus to Homo Sapiens** and now progressing towards **Homo Spiritualis.**

In the long journey of humanity, there has been a gradual development of spiritual consciousness.

To understand the difference between the soul (*Atma*) and the Supreme Soul (Paramatma), the importance of transcendental knowledge (*Paravidya*) became evident, and this led to the creation of Vedic literature.

"The uncovering of pure consciousness occurs by divine sound."

In the Chandogya Upanishad (6.8.7) there is a famous verse that discusses the relationship between sound (*Shabda*) and Consciousness.

*एतद्वै तदमृतं प्रज्ञानं यदिदं किंच जगच्च श्रोत्रेण श्रुतं।*
*मनसा मन्त्रेण मन्त्रं वाचा वाचं वाचामिति॥*

In this verse, the Upanishad suggests that the essence of consciousness is inherent in sound, and all that exists in the world is permeated by sound. The verse also highlights the connection between the senses (hearing), mind, *mantra* (sacred utterance), and speech, indicating the pervasive nature of sound in the realm of consciousness.

**The Rise of *Sant Mat*:-**

The ultimate goal of *Sant Mat* is self-realization, liberation from the cycle of birth and death, and union with the Divine. Practitioners aspire to attain higher states of consciousness, transcending the limitations of the ego and experiencing the eternal truth.

*Sant Mat* became extremely significant for the human race for achieving the Summum Bonum of life.

In the land of India, there have been many perfect and true Saints and *faqirs* who manifested themselves in the last 800 years. They are - Sant Kabir Das , Guru Nanak, Jagjivan Sahab, Sant Raidas, Sant Garib Das, Surdas ji, Paltu Sahab, *Sant* Tulsi Sahab of *Hathras* and among Mohammedans, Shams-i-Tabrez, Maulana Rumi, Hafiz, Sarmad.

*Sant* Kabir Das ji, born in the fifteenth century, was one of the first saints who made society acquainted with the principles of *Sant Mat*. Therefore, He is known as the Pioneer of San Mat.

Although in his teachings, *Sant* Kabir Das mentioned sacred names associated with high positions in creation, he kept the holiest name hidden, that is, "*Ra Dha Sva Aa Mi*". He has made a reference to the august Holy name in one of His Holy verses worth mentioning:

*कबीर धारा अगम की, सतगुरु दयी लखाए।*
*उलट ताहि सुमिरन करो, स्वामी संग मिलाए।।*

In this verse *Sant* Kabir Das advises to repeat the word "*Dhara*" which is from Agam Loka, after transposing and joining it with the word "*Svami*". This leads to the repetition of

the word- "***Ra Dha Sva Aa Mi***".

Param Purush Puran Dhani Soamiji Maharaj was the Founder of *Ra Dha Sva Aa Mi* Faith. He declared the Satsang open to all on the soulful prayer of His chief disciple, Rai Bahadur Salig Ram Sahab, the second revered Guru of *Ra Dha Sva Aa Mi* Faith, for the redemption of *jivas*, on the auspicious day of *Basant Panchami* in 1861.

Param Guru Soami ji Maharaj has stated-

"It should now be known that the *Ra Dha Sva Aa Mi* Region is the highest region in the creation and that '*Ra Dha Sva Aa Mi*' is the Name of the Supreme Being, the true Lord and true God." - Sar Bachan (Prose)

"The first manifestation of the Supreme Being is *Sabda* and that very *Sabda* is the current of Life. And wherever there is a force-current, there will be *Sabda* also."

-Prem Patra I, His Holiness Huzur Maharaj (Rai Bahadur Salig Ram Sahab)

According to Religion of saints, there are three factors in the creation: the first being Spirit and the Sound; the second being the sound; and the third, the matter, of which the body and senses are made of.

**Cosmology of Religion of Saints:-**

As per the cosmology of Religions of Saints, the Adi Chetan Dhar (Prime Spiritual Current)

acted in the form of two distinct currents- Sound current and Spirit current, leading to the Creation of various Regions in the Universe. After creation, three Grand Divisions came into existence:

1) Nirmal Chetan Desh which consisted of only pure spirituality,

2) Grand Division of Brahmand; The Region of Universal Mind, where pure Maya got mixed with Spirit

3) Pind Desh where gross matter predominates.

**"Man is a perfect Microcosm of Macrocosm, that is the Universe"**

*यथा समष्टि सृष्टि तथा मानव व्यष्टि सृष्टि*

(As is in Macrocosm, so is in Human-Microcosm)

"The apertures for making communion with the Brahmanda exist in the grey matter of the brain and the ones corresponding to the purely spiritual region exist in the white matter of the brain. And it's at the apex of the head at the top that there is a nerve centre which if rendered kinetic, will reveal the Ultimate Reality or Absolute Truth or Absolute Wisdom or Ultimate Wisdom and that is where one comes at one with the Supreme Being Himself. So One can realize in human form the Supreme Being within one's own self. One doesn't have to go out and worship anywhere. One can practice meditation."

-Revered Prof. Prem Saran Satsangi Sahab.

The three Grand Divisions comprise of the macrocosm. The human microcosm consists of the head (brain), the trunk along with the limbs. The portals to the various regions in the macrocosm are located in the human microcosm. There are latent senses namely the six ganglia and the corresponding apertures in the areas of the grey matter and white matter of the human brain, which when activated can help us perceive those regions and are known as *Chakras*, *Kamals* and *Padams*.

"Consciousness is intrinsic to the grand cosmos, both at macroscopic as well as microscopic levels. Man, a creation of planet earth happens to be a perfect microcosm of the macrocosm. Spirit-mind-brain consciousness interactions are at the microcosmic levels analogous to consciousness interactions between Universal spirit i.e. Supreme Being, Universal Mind and Universal Matter, that is physical universe at the macrocosmic levels". -Revered Prof. Prem Saran Satsangi Sahab.

***Aparavidya* and *Paravidya:-***

Param Guru Sarkar Sahab, fourth Revered Guru of *Ra Dha Sva Aa Mi* Faith, has explained:

"जेती है मनुष्य की विद्या, जेती मर्म रचना की।

करें सिद्ध सब संत बचन को, नित नवीन दे सखी।"

Revered Prof. Prem Saran Satsangi Sahab, the present (Vaqt) *Sant Satguru* of

*Ra Dha Sva Aa Mi* Faith, has explained this as:

"Whatever knowledge man possesses or the secrets of creation that are being unravelled, all of them go to substantiate the teachings of Saints with ever new evidence".

The knowledge derived from physical senses is called *aparavidya*. It pertains to this physical world and not beyond it. All modern science speaks about this physical world.

*Paravidya* pertains to the regions beyond our physical world and that knowledge is derived by esoteric experiences of saints and rishis by making use of hidden or latent senses which exist in the human head can be rendered kinetic through meditation, sadhana or to be more precise *Surat Shabda Yoga*.

***Surat Shabda Yoga:-***

The Religion of Saints prescribes a systemic methodology of the meditational practice of '*Surat Shabda Yoga*' for uniting the spirit force of a human being with the characteristic spiritual sound currents, which emanate from the various spirit centres.

-Universal Consciousness Realization Postulate *Surat Shabd Yoga* (Ultra- Transcendental) Meditation:

- Surat is the soul or consciousness of an individual, while Shabda is the 'Divine sound current', or the 'Essence of Supreme Consciousness'.
- Etymologically, *Surat-Shabda Yoga* means the 'Union of

the individual consciousness with supreme consciousness'.

- Param Guru Huzur Maharaj Sahab (Pandit Brahm Sankar Misra) and Revered Prof. Prem Saran Satsangi Sahab.

Therefore, Ultra-Transcendental Meditation, under the guidance of Spiritual Master or *Sant Satguru,* is a method of gradually freeing the spirit from the coverings of matter and mind. The gradual ascent of the spirit to higher internal spiritual centres is only an indication of its gradual liberation from these covers, by listening to the various *Anahad Shabdas*, specific to each Region.

**Sound Consciousness:-**

Param Guru Maharaj Sahab, the third Revered Guru of Ra Dha Sva Aa Mi Faith has explained in 'Discourses on Ra Dha Sva Aa Mi Faith':

"There are two classes of sounds- the spiritual sound, whose tendency is inward and attractive and the material and mental sound, whose tendency is of an opposite character."

Language of Spiritual sounds consists of ध्वन्यात्मक (resonating sounds), self-reverberating, unstruck sounds (*Anahad*), in the higher creational planes as opposed to वर्णात्मक (descriptive sounds) of mental plane.

"One can achieve purity of heart by the Repitition of Varnatmak Names if the practice is done correctly and according to the prescribed principles, and the spirit would ascend higher up in the *Akasa* (one of the panch mahabhutas) within if *Dhunyatmaka* name is repeated."

- Prem Patra I, His Holiness Huzur Maharaj (Rai Bahadur Salig Ram Sahab)

"In the Religion of Saints, one begins one's meditation at the seat of the spirit in the human frame which is between the two eyes and what this practice consists in is by concentrating attention at this particular seat of the spirit, that is making your body and mind come to a stand still and then repeating one of

these mystic names, ***Niranjana***, ***Om***, ***Rarang***, ***Soham***, ***Sat*** or ***Ra Dha Sva Aa Mi***."

-Revered Prof. Prem Saran Satsangi Sahab

*Ra Dha Sva Aa Mi* is the *Mool Naam*. It is like a master key which would open all the locks. The other mystic names will open locks only at the regions up to that point where these sounds emanate.

The figure below shows mystic sounds, their region and accompanying *Anahad Nad* as explained by Most Revered Prof. Prem Saran Satsangi Sahab -

**The *Sant Mat* Culture:**

The method of devotional practice, as described in the *Sant*

EXPERIENTIAL SIMULATION
(Audio Clip) : March 9, 2012

ORIGINAL WORD (MOOL NAM) : RADHASOAMI (UNIVERSAL PASSWORD)

| FIVE MYSTIC WORDS OF | HIGHER REGIONS AND | ACCOMPANYING ANAHAD NAD |
|---|---|---|
| JYOTI - NIRANJAN | SAHASDAL KAMAL | BELL AND CONCH |
| OM (AUM) | TRIKUTI | DRUM, THUNDER |
| RARANG | SUNNA | STRING INSTRUMENT – KINGARI, SARANGI, SITAR, VEENA |
| SOHANG | BHANWAR GUFA | FLUTE |
| SAT | SAT LOK<br>ANAMI LOK | SNAKE CHARMER'S LUTE |
| RADHASOAMI | ALAKH<br>AGAM<br>RADHASOAMI (NIJ-DHAM) | UNIDENTIFIED MELODIOUS RUN-JHUN SUPERPOSED WITH BEE-HUMMING |

**Base-location of all human beings is their mid-eye centre (internally).**

*Mat*, is practical and possible to pursue by one and all.

*Sant Mat* is a spiritual path emphasizing meditation on the inner divine Light and Sound. Renunciation of family life is not advocated but individuals are encouraged to perform their duties with sincerity and integrity. Following are some of the important factors of *Sant Mat*:

1. **Life Balance:** *Sant Mat* acknowledges that individuals have different life stages and responsibilities. *Grihastha Ashram*

represents the stage of worldly responsibilities and

a necessary part of life where one fulfils duties towards family, society, and oneself.

**2. Karma and Spiritual Growth:**

According to *Sant Mat* philosophy, every action (*karma*) has consequences. There are ample opportunities for individuals to perform selfless service (*nishkam karma*), practice compassion, and learn important lessons through relationships and responsibilities. These experiences contribute to their spiritual growth and purification which leads to higher consciousness.

**3. *Satsang* and Spiritual Practice under the Guidance of Present *Sant Satguru*:**

*Sant Mat* emphasizes the importance of regular spiritual practice such as -Ultra Transcendental Meditation (*Surat Shabda Yoga),* devotion (*bhakti*), attending *Satsang* (spiritual gatherings) of present ("वक्त") *Sant Satguru*, *Sumiran* (सुमिरन) - Repitition of the Holy Name, *Dhyan* (ध्यान) - Contemplation of the image of the living true spiritual Guru. These are important to achieve concentration of spirit and developing the latent spiritual powers. Individuals are encouraged to devote time to spiritual activities, cultivate inner virtues, and maintain a connection with the Divine by regular practice.

**4. Purity of Heart:**

The purity of heart and sincerity of intention, of an individual is important in *Sant Mat*. The inner transformation and alignment with spiritual principles cultivate virtues such as selflessness, humility, love, and compassion, the essential for spiritual advancement.

**5. Path of Love and Devotion (*bhakti*):**

As *Sant* Kabir Das ji has explained:

"ढाई अक्षर प्रेम के, पढ़े सो पंडित होए।"

This emphasizes the primacy of love and empathy over

mere intellectual knowledge.

True wisdom and enlightenment is achieved not just from scholarly pursuits, but from experiencing the essence of love and compassion. Love is the highest form of knowledge, capable of transcending intellectual boundaries and connecting individuals with the deeper truths of existence. The transformative power of love enlightens the understanding of life, relationships, and spirituality. Individuals can express their devotion through selfless service towards their family, community, and humanity at large. Service (*Seva*) is considered as an expression of divine love and devotion, leading to spiritual upliftment.

*Sant Mat* provides a practical framework for individuals to integrate spiritual principles into their daily lives, fulfil their worldly responsibilities with integrity and devotion, and progress towards spiritual awakening. It does not teach unworldliness nor does it teach hedonistic or pleasure seeking worldliness.

Worldly possessions and environments, and other attractions exert a great influence on body and mind, it requires to restrict to *satoguni*- Pure and clean, food as may not excite body and mind to unnecessary and undesirable activities.

**Better Worldliness:**

The human body gradually melts away in the fire of the enjoyments of the world. People who have come into contact with the Perfect *Sant Satguru*, utilize their body, mind and wealth in His Satsang. Better worldliness is an order in which the qualities and virtues of the Spirit find the fullest expression.

The Revered Leaders of the *Ra Dha Sva Aa Mi* Faith have always laid the greatest emphasis on the maxims that honest livelihood is a condition precedent to Spiritual progress.

One must pursue the ideal of better worldliness in consonance with the teachings of *Sant Mat*, in which, alongside physical development and mental development, Spiritual development may also take place, and there may be a balanced all round development.

By pursuing the Golden Mean Path between gross

worldliness and unworldliness (*Sanyas*), the solution can be found in embracing 'Better Worldliness' as means to attain life's Ultimate Aim.

**Conclusion:-**

The Religion of Saints highlights Sound as the essence of the entire creation. *Satsang* and *Surat Shabda Yoga* Meditation, under the guidance of *Shabda* Guru or Adept are essential for achieving higher states of consciousness. *Sant Mat* is vibrant with the living *Sant Satguru* of *Ra Dha Sva Aa Mi* Faith. Most Revered Prof. Prem Saran Satsangi Sahab, the Eighth present (Vaqt) *Sant Satguru* of *Ra Dha Sva Aa Mi* Faith, has presented, the application of Topological Graph Theory in modelling esoteric creational systems, both at the level of Microcosm (Human Body) and Macrocosm (Universe).

Uniting the spirit current with the different vibrations of *Anahad* sound through *Surat Shabd Yoga* is believed to raise one's Consciousness to higher levels. Sound consciousness leads to absolute salvation through language and culture of *Sant Mat*.

**References:-**


- Param Purush Puran Dhani, Param Guru Soamiji Maharaj, Sar Bachan (Nasar), (1981 edition), Translated into English under the authority of the Radhasoami Satsang Sabha, Dayalbagh, Agra 282005. (First edition:1959)
- Param Guru Huzur Maharaj (Rai Bahadur Salig Ram Sahab), Prem Patra-I, (1958 edition), Translated into English under the authority of the Radhasoami Satsang Sabha, Dayalbagh, Agra 282005.
- Param Guru Maharaj Sahab with Supplement by Param Guru Prem Saran Satsangi Sahab), (2009), Discourses on Ra Dha Sva Aa Mi faith, Ra Dha Sva Aa Mi Satsang Sabha, Dayalbagh Agra 282005.
- Param Guru Prem Satsangi Sahab, "Expositions on Truth, Ultimate Reality And Supreme Being (From Vantage Points of Ra Dha Sva Aa Mi Faith and Systems Science)," (2017), Ra Dha Sva Aa Mi Satsang Sabha, Dayalbagh Agra, 282005.
- Satsangi P.S., "Linear Graph Theory for Modelling a variety of systems". Int. Conf. on Differential Geometry and Topology in the

Perspective of Modern Trends (DGTPMT-2006) DEI, Dayalbagh, Agra.

- Param Guru Prem Saran Satsangi Sahab, "On Systems Modelling of Macrocosm and Microcosm in the Domain of Spiritual Consciousness." Vision Talk at the Inaugural Function of International Seminar on Spiritual Awakening: A Systems Approach to Address the Civilizational Crisis (SPAWSYS 2008). Souvenir-cum-Abstract Book, (2008a).
- Kabir Sahab, Kabir Sahab ki Shabdavali vol II (2012), Belvedere Printing Works, Allahabad.

**eDEIwww.education, www.dei.in**

# महाराजनलविरचितम् 'पाकदर्पणम्' - एक जीवनामृत : भारतीय पाककला का अद्भुत निदर्शन

**वैद्य स्वप्नील अनिल सहस्रबुद्धे**
सहायक आचार्य, संस्कृत संहिता सिद्धान्त,
स्वामी विवेकानंद आयुर्वेद कॉलेज, श्रीगोंदा, महाराष्ट्र

**बीजसार:-** अमृता (गुडूची/गिलोय) और निम्ब जैसे तिक्त (कटू) वनस्पतीयों के पत्तों का शाक(सब्जी) विशेष लक्षवेधक तथा आरोग्य के लिए जीवनामृत हो सकता है। इन शाक का कलात्मक पद्धती से सिद्धि प्रयोग कैसे करे यह महाराज नल ने बताया है, और शरीर स्वास्थ्य हेतू यह शाक गुणात्मकता से कितना महत्त्वपूर्ण है, यह भी विशद किया है। इस दृष्टि से 'पाकदर्पणम्' ग्रन्थ वाङ्मयीन, पाक कलात्मक तथा आयुर्वेदीक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है।

**लक्षवेधक शब्द:-** अमृता (गुडूची), निम्ब (नीम), शाक, विधि, गुण, पूगपट्ट, तिक्त, पथ्य।

'कल्' धातु से उत्पन्न- (कल् - बनना, एकत्र करना, 'कङ्' धातु - प्रसन्न करना) 'कला' शब्द का शाब्दिक अर्थ है- जो सुन्दर याने आनन्द प्रदान करती है। मानवी प्रवृत्तियों की बाहरी अभिव्यक्ति कला है। ज्ञान और अभ्यास का परिणामस्वरूप कुशलता से की जाने वाली कौन सी भी चीज कला है। कला का निर्माण भावनात्मक सामग्री की अभिव्यक्ति है। कला विविध घटकों की अनुभूति प्रदान करने वाली अद्भुत अवस्था तथा व्यवस्था है।

'पाककला' अनेक कला प्रकारो में से प्रायोगिक कला प्रकार में आती है। पाककला, मानव संस्कृति अबाधित रखने का काम करती है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' ये हमेशा भारत का उद्देश रहा है। सम्पूर्ण विश्व स्वास्थ्य का प्रचार और प्रसार हेतु, प्रत्येक भारतीय कला अविष्कारो में अभिव्यक्त करता है।

यह एक कला तो है अपितु एक शास्त्र भी है। कल् क्षेपे-शास्त्र शब्द 'शासु अनुशिष्टो' से उत्पन्न है। जिसका अर्थ अनुशासन या उपदेश करना है। शास्ति च त्रायते च शिष्यते अनेन। अर्थात् जो शिक्षा अनुशासन प्रदान कर हमारी रक्षा करती है। 'पाकदर्पणम्' में यह दोनों का अद्भुत सङ्गम नलराजाने बहुत ही चातुर्यता से किया है। संस्कृत साहित्य में अति प्राचीन तथा अद्वितीय साहित्य हेतु, मेरा ध्यान उसपर आकृष्ट हुआ। आयुर्वेद स्नातक होने के कारण यह कला कृति मुझे बहुत ही अध्ययन योग्य लगी।

भारतीय पाककला पूर्णतः आयुर्वेदाश्रित है। हमारे दिग्द्रष्टा पूर्वजों के सतत स्वाध्याय, अनुभव एवं प्रयोगधर्मितामूलक ज्ञान-विज्ञान की अमुल्य देन है। वेद, उपनिषद्, पुराण, स्मृतिग्रन्थ, चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, अष्टाङ्गहृदय, अन्य महत्त्वपूर्ण निघंटु आदि के अतिरिक्त अनेक अर्वाचीन रचनाएँ जैसे- पंडित रघुनाथ विरचित 'भोजन कुतुहलम्', क्षेमशर्मा विलिखित 'क्षेमकुतुहलम्', अन्नाजी बल्लाल बापता की 'पाकचन्द्रिका', 'इन्दुराकारावैद्यः', 'शिवतत्वरत्नाकरः' आदि महत्त्वपूर्ण है। इसी क्रम में आहार विज्ञान सम्बन्धी एक अति महत्त्वपूर्ण एवं अद्भुत ग्रन्थ- महाराजनल विरचितम् 'पाकदर्पणम्'। 'पाक' से तात्पर्य है 'पाकक्रिया' या 'पकाया गया

भोजन' तथा 'दर्पणम्' का अर्थ है 'प्रतिबिम्ब'। लोक साहित्य तथा लोक संस्कृति के अभ्यासक डॉ. दुर्गा भागवत ने, 'पाकदर्पणम्' इस ग्रन्थ में पाश्चात्य वस्तुओं का उल्लेख ना होने के कारण हस्तलिखित यह ग्रन्थ 15 शतक पूर्व होने का अनुमान व्यक्त किया है। 1992 में पंडित वामाचरण शर्माजी ने पहली बार 'नलपाकदर्पणम्' यह हस्त लिखित संपादित किया। इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद डॉ. इन्द्रदेव त्रिपाठी द्वारा किया गया। चौखम्भा संस्कृत संस्थान ने वाराणसी में प्रकाशित किया। डॉ. मधुलिका द्वारा किया गया अंग्रजी अनुवाद चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी में प्रकाशित हुआ। 'अनुष्टुभ' छन्द से रचित, 760 श्लोकों से तथा एकादश प्रकरणो में विभाजित यह ग्रन्थ लालित्यपूर्ण तथा प्रासादिकता रचित होने के कारण सहज है। पाककृतियों का, बाहुक (महाराज नल) और राजा ऋतुपर्ण संवाद, नाट्यपूर्ण संवाद रीति से भरा हुआ ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में बहुत रोचक है।

कहते है की, वाङ्मय जीवन के सर्व अङ्गो का 'दर्पण' है। जीवनभाष्य दृष्टि से, वाङ्मय का विचार करते हुएँ, महाराज नल विरचितम् 'पाकदर्पणम्' यह ग्रन्थ संस्कृत वाङ्मय में, ललित वाङ्मय और शास्त्रीय वाङ्मय, दोनो दृष्टि से मौलिक वृद्धि प्रदान करता है।

'पाकदर्पणम्' में बहुत ऐसी विचित्र तथा आश्चर्यकारक पाक कृतियाँ है जिन्हे पढ़ने से हम आश्चर्यचकित हो जाते है।

'पाकदर्पणम्' में से महातिक्त अमृता और निम्ब पत्र शाक प्रयोग- इस सम्बन्ध से चिकित्सापूर्वक विश्लेषण, प्रस्तुत शोधनिबन्ध में करने का मानस है।

लोक परंपरा से गुडूची को ज्वरनाशी तथा अमृतलता कहते है। इसका श्रीहरि विष्णु से सम्बन्ध है। निम्बवृक्ष पर चढ़ी हुई यह वल्ली का उत्तम औषधी गुणों वाली कहते है। तथा निम्ब वृक्ष के नीचे पाताल लोक तक जाने वाले जडों का सम्बन्ध महादेव के एकादश रुद्रो में से एक से है। निम्ब को धार्मिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व है। दत्त सम्पद्राय में निम्ब वृक्ष को अनन्य साधारण महत्त्व है। भारतीय नव संवत्सर का स्वागत ध्वजा लगा के किया जाता है। उस ध्वजा को नीम के पत्ते लगाते है। थोडे पत्ते खाते भी है तथा उसके श्वेत पुष्पों का भी सेवन करते है। मान्यता है, प्रभू श्रीराम के आगमन हेतु आनन्दोत्सव, ध्वजा लगाकर किया जाता है। भूत उतारने, ज्वर निवारने, तथा कीटक नाशनार्थ पत्तों का उपयोग, देखने को मिलता है। लेकिन लोक परंपरा में दैनंदिन सब्जी बनाने एवं खाने में उसका उपयोग दिखाई नहीं देता। 'पाकदर्पणम्' में इन दोनो वनस्पतियों के पत्र का शाक अत्यंत महातिक्त (अत्यंत कटू) होते हुए भी अत्यंत कुशलता से कैसा बनाए और उसकी उपयुक्तता क्या है यह भी इस ग्रन्थ में वर्णित है।

**'पाकदर्पणम्' में अमृता और निम्ब पत्र शाक का श्लोकबद्ध वर्णन**

**(i) अमृतपत्रशाकनिर्माण विधिर्गुणाश्च:-**

ततो ऽ मृतालतोत्पन्नं वर्णमानीय शोभनम्।
तत्तिक्तमोचनं कुर्यान्निशाचूर्णेन यत्नतः ॥1॥
शंखचूर्णेन वा कुर्यात् क्रमुकस्य फलेन वा।
तरुदुग्धेन वा कुर्यात्तद्दलैस्तण्डुलेन वा ॥2॥

अनेनैव प्रकारेण त्यक्तितिक्तञ्च तद्दलम्।

प्रक्षिपनं तद्दलैर्माषं मरीचाजाजिसैन्धवम् ॥3 ॥

घृतेन भर्जयेत्तस्मात् तेन त्वमृतभर्जितम्।

रुच्यं बल्यं त्रिदोषघ्नं दीपनं धातुवर्धनम् ॥4 ॥ 1

**(ii) निम्बपत्रशाकनिर्माण विधिर्गुणाश्च:-**

पत्रं निम्बस्य तरुणं समादेयमनामयम्।

पचेत्पौनर्नवैः पत्रैमत्स्याक्षाश्च फलैस्तथा ॥1 ॥

तद्वत मोचयेतिक्तं कार्पासस्य दलेन वा।

ततः सम्भारसंयुक्तं तस्मिन् मधुरता भवेत् ॥2 ॥

वासयेद् घनसारेण पूगनेत्रेण वेष्टयेत्।

त्रिदोषशमनं पथ्यं सर्वव्याधिहरं शुभम् ॥3 ॥ 2

**वाङ्मयीन लालित्यदृष्टि से श्लोक का महत्त्व:-**

ऋतुपर्ण के नगर में स्वयं को अश्वविद्या एवं पाकविद्या में प्रवीण घोषित करते हुए निवास करते है।3 राजा ऋतुपर्ण-बाहुक को, पाक कृतियों तथा उनके गुणधर्म के सम्बन्ध में बहुत ही जिज्ञासा वृत्ती से प्रश्न पुछते है और बाहुक उस प्रश्नों का लालित्य से, प्रासादिक भाषा से, पाककला की परिभाषा से तथा आयुर्वेदीय गुणों के साथ संवादात्मक उत्तर देते है।

विधि के लिए लगने वाली वस्तुओं का वर्णन, लोकव्यवहार की परंपरा अनुसार सहजता से किया है। उदाहरणार्थ:-

**ततोऽमृतालतोत्पन्नं पर्णमानीय शोभनम्।**

अथवा

**पत्रं निम्बस्य तरुणं समादेयमनामयम्।**

श्लोकार्थः- अमृता (गुडूची) लता के सुंदर पत्रों को लेकर हल्दी-चूर्णसे उसकी तिक्तता (कटूता) दूर करे।

अथवा

निरोगी (साफ) तथा तरुण (ताजा) निम्ब के पत्र लेकर पुनर्नवा के पत्र के साथ अथवा मत्स्याक्षि (काकमाची/मकोय) के फल के साथ पकाएँ अथवा कार्पास पत्रों के साथ पकाएँ। उससे कटूता दूर हो जाएगी।

इसमें शोभनम्, तरुणं, ऐसा पत्रों का उल्लेख कर के लोकमानस को स्पर्श किया है। उससे शोभनम्, तरुणं याने निश्चित क्या ये कहने कि आवश्यकता नही रहती। इस प्रकार व्यञ्जकता से, शास्त्रीय तथा कला के ग्रन्थ में, भाषा लाघवता का प्रयोग किया हुआ दिखता है। उससे समृद्ध संस्कृत भाषा का ज्ञान नल राजा को अवगत था। लोकभाषा और लोकमानस नलराजा को अवगत था ये स्पष्ट होता है।

**पाककला सिद्धि निर्देशनः-**

**(i) अमृता पत्र शाक बनाने की विधि तथा गुणः-**

अमृता (गुडूची) लता के सुन्दर पत्तों को लेकर हल्दी चूर्ण के साथ इसकी तिक्तता (कटूता) को दूर करे या शङ्ख के चूर्ण क्रमुक

(पूगीफल) का फल, बरगद का दूध (वट दूग्ध) या बरगद का पत्ता अथवा चावल के साथ उसकी तिक्तता (कटूता) को दूर करे। इसी प्रकार तिक्तता रहित उन पत्तों को बटलोही में (कढाई/पात्र) छोडकर उनके साथ उडद, मरिच (मिरे), जीरा या सेंधा नमक (सैन्धव) के चूर्ण को मिला दे और घी के साथ भून ले। यह घी के साथ भूनने पर अमृत के साथ भूनने की तरह हो जाता है। यह रुचिकारक, बलदायक, त्रिदोषनाशक, जाठराग्निदीपक तथा धातुवर्धक होता है।

**(ii) निम्ब (नीम) के पत्तों का शाक बनाने की विधि तथा गुण:-**

निरोग स्वच्छ एवं तरुण नीम के पत्तों को लेकर पुनर्नवा के पत्तो के साथ या मत्स्याक्षि (मकोय/काकमाची) के फलों के साथ पकावे अथवा कपास के पत्तों के साथ पकाकर उसकी तिताई को दूर करे। इसके उसमें मिठास आ जाती है। तदनन्तर कर्पूर से सुगन्धित बना दे तथा पूगपट्ट नेत्र (पत्ते से निर्मित पात्र) से आवेष्टि कर दे। यह खाने से त्रिदोष को शान्त करता है। पथ्य है तथा अच्छी तरह सभी रोगों को दूर करता है।

**आयुर्वेदीय दृष्टिकोन:-**

वैशिष्ट्यपूर्ण शाक क्यों और कैसे बनाएँ इसका निवेदन यह नल राजा के प्रगल्भ बुद्धिमत्ता का परिचय कर देता है। 'पाकदर्पणम्' ग्रन्थ कि चिकित्सा करते हुएँ नलराजा के आयुर्वेद ज्ञान का दर्शन अचम्बित कर देता है। वास्तविकतः लोकपरंपरा में पाककला, दिनचर्या, ॠतचर्या तथा प्रकृति अनुसार करने की परंपरा है। लेकिन नलराजा, आयुर्वेद शास्त्र का पाककला में यथोचित अनुसरण चातुर्यता से करता हुआ दिखाई देता है।

अमृतापत्र शाक के घटक द्रव्यों का आयुर्वेदीय चिकित्सक विश्लेषण:-

**अमृता:-**

गुडूची कटुकातिक्ता स्वादुपाका रसायनी।
संग्राहिणी कषायोष्णा लघ्वी बपल्याग्निदीपनी॥
दोषत्रयाम तृड्वाहमेहकासांश्च पाण्डुताम्।
कामला कुष्ठवातास्रज्वर कृमिवमीर्हरेत्॥ भा.प्र.4

**हरिद्रा:-**

हरिद्रा कटुकातिक्ता रूक्षोष्णा कफपित्तनुत्।
वर्ण्या त्वग्दोषमेहास्रशोथपाण्डुव्रणापहा॥भा.प्र.5

**पूग (क्रमुक):-**

पूगं गुरु हिमं रूक्षं कषायं कफपित्तजित्।
मोहनं दीपनं रुच्यं आस्यवैरस्यनाशनम्॥
आर्द्र तद् गुर्वभिष्यन्दि वह्निदृष्टिहरं स्मृतम्।
स्विन्नं दोषत्रयच्छेदि दृढमध्यं तदुत्तमम्॥ भा.प्र.6

**वट:-**

वटःशीतो गुरुर्ग्राही कफपित्तव्रणापहः।
वर्ण्योविसर्पदाहघ्नः कषायो योनिदोषहृत्। भा.प्र.7

**तण्डूल:-**

स्वादुपाकरसाः स्निग्धा वृष्या बद्धाल्पवर्चसः।
कषायानुरसाः पथ्या लघवो मूत्रला हिमाः॥ अ.हृ.8

**उडीद (माष):-**

माषः स्निग्धो बलश्लेष्ममलपित्तकरः सरः।
गुरूष्णोऽनिलहा स्वादुः शुक्रवृद्धिविरेककृत्॥ अ.हृ.9

**मरिच:-**

मरिचं कटुकं तीक्ष्णं दीपनं कफवातजित्।
उष्णं पित्तकरं रूक्षं श्वासशूलकृमीन्हरेत्॥ भा.प्र.10

**सैंधव:-**

सैन्धवं तत्र सस्वादु वृष्यं हृद्यं त्रिदोषनुत्।
लघ्वनुष्णं दृशः पथ्यमविदाह्यग्निदीपनम्॥ अ.हृ.11

**घृत:-**

शस्तं धीस्मृतिमेधाग्निबलायुःशुक्रचक्षुषाम्।
बालवृद्धीप्रजाकान्तिसौकुमार्यस्वरार्थिनाम्॥
क्षतक्षीणपरीसर्पशस्त्राग्निग्लपितात्मनाम्।
वातपित्तविषोन्मादशोषालक्ष्मीज्वरापहम्॥
स्नेहानामुत्तमं शीतं वयसः स्थापनं परम्।
सहस्रवीर्यं विधिभिर्घृतं कर्मसहस्रकृत्॥ अ.हृ.12

**निम्बपत्र शाक के घटक द्रव्यों का आयुर्वेदीय चिकित्सक विश्लेषण:-**

**निम्ब:-**

निम्बः शीतो लघुर्ग्राही कटुपाकोऽग्निवातनुत्।
अहृद्यः श्रमतृड्कासज्वरारुचिकृमिप्रणुत्।
व्रणपित्तकफच्छर्दीकुष्ठहृल्लासमेहनुत्॥ भा.प्र.13

**पुनर्नवा:-**

कटुकषायानुरसा पाण्डुघ्नी दीपनी परा।
शोफानिलगरश्लेष्महरी व्रण्योदरप्रणुत्॥ भा.प्र.14

**काकमाची:-**

काकमाची त्रिदोषघ्नी स्निग्धोष्णा स्वरशुक्रदा।

तिक्ता रसायनी शोथकुष्ठार्शोज्वरमेहजित्।
कटुर्नेत्रहिता हिक्काच्छर्दिहृद्रोगनाशिनी॥ भा.प्र.15

**कार्पासः-**

कार्पासको लघुः कोष्णो मधुरो वातनाशनः।
तत्पलाशं समीरघ्नं रक्तकृत्मूत्रवर्धनम्॥
तत्कर्णापिडकानादपूयस्त्रावविनाशनम्।
तद्बीजं स्तन्यदं वृष्यं स्निग्धं कफकरं गुरु॥ भा.प्र. 16

**संभारः-**

सकेसरं चर्तुजातं त्वक्पत्रैलं त्रिजातकम्।
पित्तप्रकोपि तीक्ष्णोष्णं रूक्षं रोचनदीपनम्॥
सुगन्धि सर्वपेयानां व्यञ्जनानां च वासनम्।
लेहानां खाद्यपाकानां चूर्णानां च प्रयोजयेत्॥

## अमृता (गुडूची) और निम्ब पत्र का पोषणमूल्यः-

## अमृता (Giloy):-

Protein 4.13%, fats 3.12%, Ash : 12.01%, Neutral Detergent fibre (Structural Components of the plant) : 37.90%

Giloy is a source of many important plant compounds, namely tepenoids, Alkaloids, lignans & steruids. Laboratory studies suggest these compounds have antimicrobial, antiinflametory, antioxident & antidiabetic properties, among other benefits. Studies have established that giloy leaves are rich in vit.c & minerals. While the starch, from the stem (called guduchi satva) is full of calcium & iron. The stem extract helps control diabetes & arthritis, strenghtens immune response & aids in digestion.

## निम्ब (Neem):-

Neem leaf meal was analysed in a study that found it has 18.10% crude protein & relatively high crude fibre of about 15-56% Though the gross energy containt was high at 4.16 kcal/g. The metabdizble energy is low.

Organic Virgin Neem Oil is comprised of approximately 40% saturated fatty acids, 40% monounsaturated fatty acids & up to 7% polyunsaturated fatty acids in the form of Lindeic Acid, an important omega-3 essential fatty acid.

It has a rich nutrient profile containing protein, carbohydrats, minerals Like Vitamin C, Phosphorus, Calcium & Carotene. Neem also contain glutanic acid, aspartic acid, praline & fatty acids[19]

Consuming neem leaves helps in reduction in inflammation in the gastrointestinal tract. Neem leaves also help in reducing ulcers & wide range of other intestinal issues, such as constipation, bloating & cramping if taken regularly.[20]

ऋग्वेद से लेकर चरक, सुश्रुत, वाग्भटाचार्यादि जैसे तपस्वी मुनीयों तक, अन्नात्पुरुषः। स वा एषा पुरुषोऽन्नरसमयः। या अद्यतेवा अत्ति च वा इति अन्न। या- अन्न न निन्द्यात्। अन्न न परिचक्षीत। अन्नं बहुकुर्वीत। तद्व्रतम्। या सर्व द्रव्यं पाञ्च भौतिकम्। या त्रयोपस्तंभ में आहार एक उपस्तंभ जैसि परंपरा, प्रासादिकता से आगे कहने वाला अनुष्टुभ छंद रचित प्रायोगिक पाककला का 'पाकदर्पणम्' ग्रन्थ, भारतीय पाकाविष्कार का उत्तम उदाहरण है। जैसे, पाकसिद्धिनिर्देशन- अमृता पत्र और निम्ब पत्र शाक- श्लोक क्र. 462-465 तथा 466-468 में वर्णित है।

शरीर स्वास्थ्य हेतु, दैनंदिन आहार में शाक के रूप में कैसे उपयोग में लाएँ यह महाराज नल ने संवाद के माध्यम से प्रतिपादित

किया है। गुडूची, नीम जैसी महातिक्त वनस्पतियाँ प्रतिपादन किया है। यह ग्रन्थ पाककला, आयुर्वेद शास्त्र तथा संस्कृत वाङ्मय में मौलिक तथा पथदर्शी रहेगा। उसमें बताई गयी हर पाक कृति 'पाकदर्पणम्' का महत्त्व अधोरेखित करती है। सत्यतः, ऐसी पाककृतियाँ प्रत्यक्ष लोक व्यवहार में लाकर पूरे विश्व में अनेक आरोग्य कि आपदाओं पर अमृतवत् काम करेगी यही आशादायक स्थिति है।

प्रमेह (Diabetis) व्याधि, कर्करोग (Cancer) आदि व्याधियाँ चिन्ता का विषय है। ऐसी विपदाओं में अमृता और निम्ब वनस्पतियाँ व्याधि क्षमत्व बढ़ाकर स्वास्थ्य रक्षण करती है। स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम्। आतुरस्य विकार प्रशमनम् च ॥ यह आयुर्वेद का हमेशा उद्देश रहा है। एक प्रभावी शस्त्र के रूप में यह पाक कृतियाँ महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी, इसमें सन्देह नही। इसलिए बडी मात्रा में इसका प्रचार-प्रसार होना तथा आयुर्वेदीय पाकशाला (आयुर्वेदीय रेस्टोरन्ट) का आरंभ करना यह कालोचित होगा।

**संदर्भ-ग्रन्थ-सूची:-**


1) महाराजनलविरचितम्- 'पाकदर्पणम्', हिंदीव्याख्याकार- डॉ. इन्द्रदेव त्रिपाठी, आयुर्वेदाचार्य प्रकाशक- चौखंभा संस्कृत भवन, वाराणसी, चतुर्थ संस्मरण- वि. सं. 2076 (2019), पृष्ठ क्र. 66, श्लोक क्र. 462-465.
2) तत्रैव- पृष्ठ क्र. 66, श्लोक क्र. 466-468.
3) महाराजनलविरचितम् 'पाकपर्दणम्- हिंदी व्याख्याकार डॉ. (आयुर्वेदाचार्य) त्रिपाठी इन्द्रदेव, चौखंबा संस्कृत भवन प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण 2019.
4) श्रीमद्भावमिश्रप्रणीत- भावप्रकाशनिघण्टुः, विमर्शकार- डॉ. कृष्णचन्द्र

चुनेकर, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, पुनर्मुद्रित 1999, गुडूच्यादिवर्गः, श्लोक क्र. 8-10, पृ.क्र. 269.

5) तत्रैव- हरीतक्यादिवर्गः, श्लोक क्र. 197, पृ.क्र. 114.

6) तत्रैव- आम्रादिफलवर्गः, श्लोक क्र. 50, 51, पृ.क्र. 562.

7) तत्रैव- वटादिवर्गः, श्लोक क्र. 2, पृ.क्र. 513.

8) श्रीमद्वाग्भट विरचित- अष्टांग हृदय सूत्रस्थान, लेखक- वैद्य दि. प्र. गाडगीळ, वैद्य यशःश्री जोशी, मनकर्णिका पब्लिकेशन, चिंचवड गांव, पुणे, आठवी आवृत्ती 6 अप्रैल 2023, षष्ठोऽध्यायः, अन्नस्वरूपविज्ञानीय अध्याय, श्लोक क्र. 4, पृ.क्र. 108.

9) तत्रैव- श्लोक क्र. 21, 22, पृ.क्र. 111.

10) श्रीमद्भावमिश्रप्रणीत- भावप्रकाशनिघण्टुः, विमर्शकार- डॉ. कृष्णचन्द्र चुनेकर, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, पुनर्मुद्रित 1999, हरीतक्यादि वर्गः, श्लोक क्र. 60, पृ.क्र. 17.

11) श्रीमद्वाग्भट विरचित- अष्टांग हृदय सूत्रस्थान, लेखक- वैद्य दि. प्र. गाडगीळ, वैद्य यशःश्री जोशी, मनकर्णिका पब्लिकेशन, चिंचवड गांव, पुणे, आठवी आवृत्ती 6 अप्रैल 2023, षष्ठोऽध्यायः, अन्नस्वरूपविज्ञानीय अध्याय, श्लोक क्र. 144, पृ.क्र. 128.

12) श्रीमद्वाग्भट विरचित- अष्टांग हृदय सूत्रस्थान, लेखक- वैद्य दि. प्र. गाडगीळ, वैद्य यशःश्री जोशी, मनकर्णिका पब्लिकेशन, चिंचवड गांव, पुणे, आठवी आवृत्ती 6 अप्रैल 2023, पंचमोऽध्यायः द्रवद्रव्यविज्ञानीय अध्याय, श्लोक क्र. 37-39, पृ.क3. 96.

13) श्रीमद्भावमिश्रप्रणीत- भावप्रकाशनिघण्टुः, विमर्शकार- डॉ. कृष्णचन्द्र चुनेकर, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, पुनर्मुद्रित 1999, गुडूच्यादिवर्गः, श्लोक क्र. 94, पृ.क्र. 329.

14) तत्रैव- श्लोक क्र. 231, पृ.क्र. 422.

15) तत्रैव- श्लोक क्र. 247, पृ.क्र. 438.

16) तत्रैव- श्लोक क्र. 150-152, पृ.क्र.. 374.

17) https://wwwhealthline.com

18) 19 ) 20) http://pharmeasy.in

# Gods like *parokṣa* names and dislike *Pratyakṣa*

**Prof. Poornachandra Sahoo**
Retd. Professor,
Dept. of Sanskrit & Lexicography,
Deccan College, Deemed to be University, Pune

In the Introduction to his book namely– 'Notes on Names and the Name of God in Ancient India', Prof. Gonda has mentioned the following lines- "The name is, generally speaking, no mere label or specification but widely believed to be naturally and indissolubly connected with its owner, to constitute and actuality expressed in a word. For primitive or archaic man a name is a sense identical with its owner or forms not unlike his soul or limbs, part of his personality; it is loaded with power, expresses the very essence of its bearer and is subject to a considerable variety of beliefs and customs."[1] The Vedic text, both *Mantra* and *Brāhmaṇa* do recognize the significance of names and make use of the same for various ritual purposes. Occasionally some significant names attract the attention of Vedic theologians who go deep to discuss on these in *Brāhmaṇa* texts. Out of several topics dealt in these texts, one is to give etymology on some words or terms denoting names of deities, other divine beings, natural and supernatural powers, natural objects like animals, trees, plants etc.; objects used in sacrificial performances, various ritual terms as well as terms significant from religious mythological, philosophical and cultural point of view. Etymology helps in showing the origin and development of the meaning of a word or term that relates to an object, being, action or idea. *Brāhmaṇic* theologians are quite prompt in providing the same through their discussions but sometimes they are found not to be inclined to make use of the original forms of the word or the name etymologized in text. Rather, they suggest their inclination to use the modified forms of the same going beyond their etymologies. Moreover, they simply attribute the reason behind such peculiar liking-ness towards the modified

forms of names to the desire or fondness of the gods who are also said to be the haters of original names. For them the original or etymologized term is *pratyakṣa* i.e. direct or intelligible and its modified form is *parokṣa* i.e. indirect or unintelligible. Mostly the *pratyakṣa* forms of names are not well known or only known to the intellectuals or learned ones. Because these are not being used by people normally. Whereas the unintelligible or indirect forms (*parokṣa*) are quite in vogue among the masses including the *ritualists*. Thus, one notices a repeated statement recorded variably in some *Brāhmaṇa* texts like the *AB, TB, JB, ŚB, GB, AitĀr., BṛĀrUp* and *Vādhu ŚS* which expresses the above view points of the Vedic theologians. The statement is '*parokṣa priyā iva hi devāḥ',* occurring mostly in the texts of *AB, TB, JB, AitĀr and Vādhu ŚS* or '*parokṣakāmā hi devāḥ'*, occurring in the *ŚB* or '*parokṣapriyā* hi *devā bhavanti pratyakṣadviṣaḥ',* occurring in the *GB* and *BṛĀrUp*. Their usual English renderings are - 'Gods are lovers of mystery as it were' or 'the Gods love the mystic' or 'the Gods are fond of mystical presentation as it were and haters of the direct presentation', respectively. Forming the parts of *Brāhmaṇa* - passages these sentences occur at the end of discussions on the etymologies of some names or terms. An attempt is made here to discuss on such names or terms wherever any of the above three statements is included as an appendix to a *Brāhmaṇic* discussion.

It is really a matter of puzzle to accept the views of the reverend ones that, the normally used and well-known names are called indirect or cryptic, i.e. *parokṣa*, whereas the names which are rarely used, unknown are considered as direct or intelligible, i.e. *pratyakṣa*. Moreover, no reason in proper sense is stated anywhere in these texts for such a peculiar choice of the gods to have a deep inclination towards the popular names and dislike towards the logical and intelligible ones. One has to try to know through the available commentaries to get any insinuation from respective ritual contexts and connected theological discussions, the intention of the theologians behind their above discriminative statements. Let us go through the examples and know how the discussions occur in the texts.

Some gods and godlike human beings have two types of names, one is *pratyakṣa* and other is *parokṣa*, of which the first one is provided with its etymology and the second one is considered as the favorite of the gods. For example, in context of Fire-building ritual (*cayana*) there is a discussion on the creation of the universe. At the beginning the seers themselves were the vital airs (*prāṇa*) and *Indra* remained in the middle of all these vital airs. Remaining there he kindled other vital airs (*ainddha*) from the middle by means of his power (*indriya*). Because he kindled (*ainddha*) he is called *indha*, the kindler. To this *indha* they call *Indra* esoterically (*parokṣam*), because, the gods love mystic (*parokṣakāmāḥ*) (*ŚB 6.1.1.2).* In the *Bṛhadāraṇyakopaniṣad*, *4.2.2* which originally belongs to the *ŚB. 14.6.11.2,* one finds another description. *Indra* is the name of that *puruṣa*, the primeval man who dwells in the right eye.[2] To this *indha* they call *Indra* as an indirect name, for, the gods like indirect name and dislike to be named directly (*prokṣapriyā iva hi devāḥ pratyakṣadviṣaḥ*) (*ŚB 14.6.11.2).* Still in another context one notices another etymology of *Indra* in *AitĀr. 2.4.3*. As a part of philosophical discussion it is mentioned that the *Ātman* having born among the creatures and remaining inside them looked though all other living beings to see whether anyone else wished to claim to be another self. He could see only one person (primeval man or *puruṣa*) as the most widely extended Brahman (*Brahmatatamam*). He then uttered 'I have seen it' (*idamadarśam*). Therefore this *Ātman* is called '*idamdra'* by name and he who is *idamdra* is mysteriously called *Indra*. In this example, it is to be marked that the source of the etymology of the name *Indra* lies in the utterance (*idamadarśam*) of the *Ātman* as the theologians describe but in case of another two etymologies it is they who simply opine that its source word is *īndha* though separate legends are narrated for that purpose.

*Maghavan* is another name of *Indra*. According to *ŚB 14.1.1.13* it is a modified form of *makhavan* and these two are characterized as *parokṣa* and *pratyakṣa* names of *Indra* respectively. The legend in the text is as follows - *Viṣṇu* is said to be *yajña* or sacrifice which is also known by the word *makha*. Once *Viṣṇu's* head was accidentally struck with both the ends of

his own bow after some ants had secretly gnawed his bow-string. *Viṣṇu* was suffering severely from head injury with incessant pain and was going down physically. *Indra* among the gods first came to his rescue, attending him personally and encompassed him (tam *paryagṛhṇāt*). He became possessed of glory (*yaśo'bhavat*) and so much closely associated with *Viṣṇu* that he subsequently came to be known as *makhavat*. But the same god is called *maghavat* mysteriously (*parokṣam*), since the gods love the mystic (*prokṣakāmā hi devāḥ).*[3] According to the commentator *Sayana* the great personalities in respect of their age and knowledge become angry when their real names are uttered openly by others. In order to avoid this anger, their juniors and students used to utter the modified or changed names. Then in context of taking the names of the deities also there is apprehension of the gods and goddesses becoming angry. So their names should be uttered only after introducing changes of sounds in the same.

A legend on the name of Agni narrated in the *Brāhmaṇa* text is mentioned here. Prior to this creation, when *Prajāpati* was alone he desired to become more than one i.e. to be reproduced. By practicing penance and austerities he created Brahman, the triple science (*trayī vidyā*), i.e. the Vedas. He also created water out of *vāk* or speech. In order to be produced again from these waters he entered into them along with the triple science. An egg arose out of these waters which he gently touched saying – 'Let it exist and let it exist & multiply'. The embryo which was inside the egg was created as the foremost (*agri*) of all this material world. Since it was created foremost (*agram*) the same is called *agri* and this is mystically called Agni *(ŚB 6.1.1.11).* Here also it is the theologians themselves who expressed that *Agri* is the source word of Agni which is not said to have originated from a part or whole of any speech or utterance of any other agency. The etymology on the name of god *Varuṇa* is given through a legend in the *GB 1.1.7*. After creating the waters the Brahman kept on looking at these and also looked at his own image in them. Then his seed dropped on his own accord and remained in waters. The waters which are salty and not palatable or drinkable encircled this seed and rested into it. When these started flowing

to different directions as well as towards the seed-ocean itself then the waters became afraid and said – 'to the lord alone may we choose as king' (*bhagavantameva vayan rājānam vṛṇīmahe*). Because the waters having encircled (the ocean seed) rested into it (*yacca vṛtvātiṣṭhan*) that becomes *varaṇa*. Him, who is really *varaṇa*, they call him *Varuṇa* mystically. This same legend contains the etymology on two other names i.e. *Mṛtyu* and *Aṅgiras*, the former is the name of god of death and the latter is the name of an ancient seer. When *Varuṇa* was released from the ocean (from the encircling of waters) he became *mucyu* (of free and independent nature) and who is really *mucyu* they call him *mṛtyu* (death) mystically *(GB 1.1.7).* The Brahman again toiled over the *Varuṇamṛtyu*. After being heated and thoroughly heated (by means of tapas and austerities) *rasa* (sap) started flowing from all his limbs or organs. That becomes the sap of organs (*aṅgarasa*). He who is *aṅgarasa* they mystically call him *Aṅgiras* (an ancient seer of Vedic hymns) *(GB 1.1.7)*

By means of another legend the terms *puriśaya* and *puruṣa* are characterized as *pratyakṣa* and *parokṣa* respectively. It is said that this *puruṣa* is none other than the *prāṇa* or Life breath. It usually rests (together) in its strong hold *(puri). sa puri śete iti puriśayaḥ (GB 1.1.39).* In the *Gopatha Brāhmaṇa* there is a discussion on consecration (*dīkṣā*). A question is asked, on what account they call him consecrated? Then the answer is given in the same text as follows. He (the sacrificer who has gone through the consecration ritual) attains the excellent mind (*śreṣṭhām dhīyam kṣiyatīti*). Him, who really attains mind (dhīkṣita), mystically they call consecrated (*dīkṣita*). This consecrated sacrificer is a divine personality who deserves to be treated as a god (cf. *ŚB 3.1.1.1 and 3.1.1.8).*[4] It is needless to mention here and at other some places of examples that one of the above sentences such as *parokṣapriyā iva hi devāḥ* --- etc. is repeated at the end of the discussion on each name to emphasize on the analytical and discriminative power of the theologians independent of the fondly choices of gods and their followers.

Some mantras (formulas) have their specific designations familiar with the ritualists and traditional scholars. The usual names of some such formulas are described as esoteric and their

original names are etymologized in the *Brāhmaṇa* texts. Here are few examples of the same. *Sāmans* are a variety of formulas to be chanted during sacrificial performances. One of the several *sāmans* is known by the name *rathantara* (*Araṇyageya 2.1.21)* on *SVI.233=ṚV 7.32.22-23=SV 2.30*-31) which is to be sung at the right wing of the fire-alter after completion of the *śatarudrīya* offerings in the *cayana* sacrifice. This *sāman* is identified with earth in *ŚB 9.1.2.36*. Since this earth is the most essential (full of essence or *rasa*) among all the worlds it contains all the *rasas* (saps) and is also known as *rasantama*, this *sāman* being identified with earth is originally called *rasantama* which is its direct or *pratyakṣa* name. This same *rasantama* is mystically (*parokṣam*) called *rathantara*, for, the gods are fond of (calling with) the mystic name *(ŚB 9.1.2.36).* Some *yajus* formulas are also described to have both *pratyakṣa* and *parokṣa* names. There are five sets of *yajus* formulas known by the names *daśahotṛ*, *saptahotṛ*, *ṣaḍhotṛ pañcahatṛ* and *caturhotṛ* mentioned in the *TaiĀ 3.1-6.* Traditionally these are thought to be very powerful and effective in ritual practices. One comes across a legend in the *TB 2.3.11* which contains etymologies on their *pratyakṣa* names. According to a legend, *Parabrahma* created forms of the presiding deities of the above five sets of formulas. Then he himself entered into their forms as *Ātman* or *jīvātman* and called out repeatedly addressing them as '*O Ātman*, *O Ātman'*. Instead of responding immediately and simultaneously to the Brahman's call, these deities of the sets of formulas took their own time to respond separately. Thus, after being called for ten times by the Brahman one set of deified formulas responded. Since it answered after being addressed repeatedly for ten times, this set of formulas is called as *daśahūtaḥ* by name. According to the text, this set of formulas having its original name *daśahūtaḥ* is mystically (*parokṣam*) called as *daśahotā*. The presiding deities who responded after seven, six, five and four calls of *Brahman* are accordingly named as *saptahūtaḥ, ṣaḍhūtaḥ, pañcahūtaḥ* and *caturhūtaḥ* respectively whereas their *parokṣa* names, favorite of the gods, are *saptahotṛ*, *ṣaḍhotṛ pañcahotṛ* and *caturhotṛ* respectively **(***TB 2.3.11.1-4)*[5]

To this category of double names fall some sacrifices, their group names, names of their sections or parts, particular rites and ceremonies. According to the *Brahmanic* theologians the *Agniṣṭoma* (name of the basic soma-sacrifice) is Agni itself. Since they (ritualists) praise him (the fire god) by means of this (sacrifice) it is called 'praise of Agni' or '*Agnistoma'*. Being originally *Agnistoma* this is indirectly called *Agniṣṭoma*. This same sacrifice is also known by its *pratyakṣa* name as *catustoma* and *parokṣa* name as *catuṣṭoma* on account of the fire god being praised by means of four stomas or praises namely *trivṛt*, *pañcadaśa*, *saptadaśa* and *ekaviṁśa* stomas. Its praises are also said to be performed by the four groups of gods namely the *Vasavaḥ, Rudrāḥ*, *Ādityāḥ* and *Viśvedevāḥ*. Still another name of this basic soma sacrifice is *jyotiṣṭoma* characterized as *parokṣa* i.e. called mystically and its *pratyakṣa* name is *jyotistoma* only. According to *AB 3.43 (14.5)* the word *Jyoti* becomes synonym of Agni when the fire being aloft become bright with light (*jyotis*). Thus the basic soma sacrifice has three direct or *pratyakṣa* names, *Agnistoma*, *Catustoma* and *Jyotistoma*, whereas it's indirect or *parokṣa* names are *Agniṣṭoma*, *Catuṣṭoma* and *Jyotiṣṭoma*. Here, in these names, actually the dental sound 'st' in their *pratyakṣa* forms changed to 'ṣṭ' is a matter of cerebralization only.

*Śrauta* sacrifices are categorized into three groups namely *iṣṭi*, *paśu* and soma. The first one i.e. *iṣṭi* is the simplest of all, less time-consuming and requires the services of four priests only. One finds a legend in the *TB 1.5.9.1-2* which contains the etymology of the term *iṣṭi*. Before the beginning of war between the gods and demons, *Prajapati* kept *Indra* hidden somewhere apprehending that his eldest son (*Indra*) would be slain by the powerful demons. The gods without finding out their leader *Indra* anywhere became helpless and requested the creator to search and find out their leader without whom the battle could not be fought. The creator in turn asked the gods to search for *Indra*. The gods started searching for him and could trace out him by means of the performance of *iṣṭis* only. Thus, by becoming the means of search these sacrifices are called *eṣṭayaḥ* by name which are mystically or indirectly known by the name

*iṣṭayaḥ (TB 1.5.9.1-2).* According to another legend narrated in *TB 3.12.2.1*, once the heavenly world disappeared from the gods and they requested *Prajapati* to find out the same for them. The creator found out the heavenly world by means of the performance of *iṣṭis* only and not by any other sacrifice. Therefore these sacrifices are called *eṣṭayaḥ* (means for searching out something) and the same is known by an indirect name as *iṣṭayaḥ (TB 3.12.2.1 and 3.12.4.1)*[6]

In the Fire-building ritual (*cayana*) an important offering rite is called *śatarudrīya* in which 425 oblations of wild sesamum with the flour of *gavīdhukā* are offered to *Rudra* in a peculiar manner for his appeasement. After being completed the fire building itself is identified with the fire god himself. His furious form is known as *Agnirudra* who hankers for food and if not offered with food immediately, he can bring destruction to the sacrificer and priests. Therefore, there is a provision to appease him with this *śatarudrīya* offering. Even the gods are afraid of him and gather food for offering to appease him. Food gathered for this purpose is called *śāntadevatya* which means 'meant for appeasement of the god'. This *śāntadevatya* is mystically called *śatarudrīya (ŚB 9.1.1.2).* In another legend the theologians provide another etymology of this offering. When *Prajapati* became disjointed, all the deities left him accept *Manyu* (anger or wrath). *Prajapati* cried, his tears fell on *Manyu*, who became hundred headed, thousand eyed and hundred quivered *Rudra.* When this dreadful god roared in quest of food, the gods being afraid sought advice from *Prajapati* who asked them to gather food for this terrible *Rudra*. The gods gathered for him this *śatarudrīya* offering and appeased him. Because they appeased him who is hundred headed (*śataśirṣa*) *Rudra-Manyu*, their offering is called *śataśīrṣarudraśamanīya* and this original name of offering is mystically known as *śatarudrīya (ŚB 9.1.1.7).*

There are two sets of six *ekāha* (one-pressing day) soma-sacrifices namely *abhiplavaṣaḍaha* and *pṛṣṭhyaṣaḥaha*, to be performed during a sacrificial session (*sattra*). Normally, from the technical point of view the former set is simpler then the latter one. One comes across a legend in the *GB 1.4.23,* in which

it is said that the *Ādityas* and *Aṅgirasas* were competing with each other to win over the world of heaven by means of their sacrificial performances. The *Ādityas* started first with easier and sort rituals, completed the same in due time and sailed through the world of heaven (*abhyaplavanta*), whereas the *Aṅgirasas* came later, started with the lengthy and complicated rituals and after completing the performance could only touch (reached) the heavenly world (*abhyaspṛśanta*). Because the *Aṅgirasas* simply touched the world of heaven by their performance this ritual procedure is called as *spṛśyaḥ* (tangible). What is really called *spṛśyaḥ* is mystically called *pṛṣṭhyaḥ (GB 1.4.23).* In context of a theological discussion on the mystery of the Fire-alter, it is said that Agni (the fire-god or the fire-altar itself) is the eater (*attā*). Whatever the priests put to eat that becomes its assignment i.e. *āhitayaḥ* (*Sayana* explains - *ādhānādāhītayaḥ*). The assignments of Agni are mystically called oblations *(āhutayaḥ) (Sayana – āhitānāmevāhutitvam) (ŚB 10.6.2.2).*

Names of some items from the world of plants have their duplicate terms recorded in the *Brāhmaṇa* texts along with the respective etymologies. Mostly few trees shrubs, grasses and flowers fall into this category. It is interesting to know their direct (*pratyakṣa*) names along with respective etymologies. There is a discussion in context of *Rājasūya* sacrifice that the sacrificer king being a *kṣatriya* should not partake the remnant of soma-juice after offering the same in fire unlike the priests who are Brahmins, having access to drink the same. For a *kṣatriya*, to accept soma juice as his food is detrimental to his health and prosperity for which the ritualists have prescribed another food in the place of soma juice. This food item is the pressed juice of the descending growth and fruits of the *nyagrodha* tree mixed together with the fruits of *Udumbara, Plakṣa and Aśvattha*. On the name of *Nyagrodha* it is mentioned that this tree grows downward (*nyak-ruḥ*) and therefore its name is *nyagroha*. According to a legend narrated here, the gods after completing their sacrifice at *Kurukṣetra* were going to heaven. They tilted over the goblets (*grahas*) or empty wooden cups (for soma juice). Since they tilted over (*nyubjan*) these started growing downward and became trees namely *nyagroha*. But the same is

indirectly called *nyagrodha (AB 7.30(35.4)).* According to a ritual injunction the priest places the mortar and pestle (*ulūkhala* and *musala*) on the first layer of the fire altar during the *cayana* sacrifice. These two objects are made of wood from *udumbara*. The text records a statement of *Prajapati* on this tree – 'this one (tree) has lifted me up (*udabhārṣit*) from out of all evils'. Therefore it is called *udumbhara* and the same is mystically called *udumbara (ŚB 7.5.1.22).* The sacred *dūrvā* grass is well known and there is a special brick named after this grass as *dūrveṣṭakā* which is to be put while setting various bricks on the first layer of the Fire-building. In this context a legend is narrated in the *Brāhmaṇa* text that when *Prajāpati* became disjointed his hairs were lying on the ground as the vital airs went out of him from within and these hairs became these herbs (grasses). He fell down and uttered 'this (vital air) has undone me *(adhūrvīt)' (ayam vāvamā'dhūrvīt).* From this utterance of *Prajapati* the word *dhūrvā* came into being. The same is mystically called *dūrvā (ŚB 7.4.2.12*). On the same first layer of Fire-building there is a provision for placing a gold plate on a lotus leaf which is already placed on that layer. The name *puṣkara* (Lotus) is provided with an etymology in a legend narrated there in the text. After striking *Vṛtra* with his thunderbolt *Indra* was not sure of the death of this demon. He entered into the waters and being afraid asked the waters to make a strong hold (*puram*) for him. They collected all their essence together and gathered these upwards on their surface as a strong hold for him. Since they made (*kara*) a strong hold (*pūḥ*) for him it came to be known as *pūṣkara* and the same is mystically called *puṣkara*, i.e. lotus *(ŚB 7.4.1.13).* A peculiar ritual action has to be carried out at the end of the building of fire altar. The priest has to draw plants called *vetasa* (cane) and *avakā* (watery plant) (along with a living frog bound together) jointly on the southern part of the fire altar. The two names of the plants are provided with their respective etymologies in these texts. When the seers made-up that Agni, the Fire-altar, they sprinkled it with water. That water dripped off and became frogs. Then the waters, seeing their level reduced considerably due to frequent use of water in rituals, said to *Prajapati* '- whatever moisture we had, has gone down' (*yad vai naḥ kamabhūt avāktadagāt).* Then

*Prajapati* said '- this tree shall know it, he shall know it' *(eṣa va etasya vanaspatirvettu iti, vettu saḥ).* Therefore this plant's original name became *vettusaḥ* which is mystically called *vetasaḥ*. Since the waters uttered before *Prajapati* '- down (*avāk*) has gone our moisture (*ka*)', these watery plants are called '*avākkā'* to which they mystically (*parokṣa*) called *avakā (ŚB 9.1.2.22).* Gods are said to be in favor of all the above cited mystical names and in case of some *pratyakṣa* names, they are said to possess only distaste.

Popular names of some objects or animals etc. used by people occasionally occur in the *Brāhmana* texts whenever these are prescribed for any ritual purpose. In that case some selective names of objects are provided with etymologies through the *Brāhmaṇa* passages because the theologians maintain the same consideration on these names also as they possess for the names of above mentioned gods, formulas and sacrifices etc. And the consideration is to show the discrimination between two types of names, direct and indirect, expressing favour towards the *parokṣa* (indirect) and hatred towards the *pratyakṣa* (direct) ones. Here are few examples. In case of the death of an *āhītāgnih*, his body has to be put in the funeral pyre. When fire catches the entire body, it is said in the text that the smoke of fire shakes off the body (*dhunoti*) and therefore the smoke is called *dhuna*. The same *dhuna* is indirectly known as *dhūma (JB 1.49).* At the time of *agni's* coming out of embryo (as the effect of the union of Brahman with waters) prior to any other being or object of the creation (cf. *ŚB 6.1.1.11)* there came out simultaneously some watery substances collected within the egg. The same watery substance is called *aśru* (neuter) which is identified with *aśruḥ* (masculine), i.e. tear. This *aśruḥ*, tear is mystically called as *aśvaḥ* or horse (*ŚB 6.1.1.11*). A golden plate is required to be put on the lotus leaf already placed on the first layer of the Fire-building in the *Cayana* sacrifice. This gold plate is identified with the sun in the sky who shines over all the creatures. Because it shines, it is called *rocas*, shining one and the same is indirectly known as *rukma*, gold or gold plate *(ŚB 7.4.1.10).* In another legend it is narrated that when *Prajapati* became relaxed (*visrasta*) his pleasing form went out of him from within and the

gods left him. When the gods restored him they put that pleasing form into him and they become pleased with that form of *Prajapati*. Since they were pleased with that pleasing form (*ramya*) it is called *hiramya*. This *hiramya* is mystically expressed as *hiraṇya* (gold) *(ŚB 7.4.1.16)*.In context of *agnyādheya* or the establishment of sacred fires there is an instruction for the sacrificer to give the horse in whose footprint the *āhavanīya* fire is set *(agnipadaḥ aśvaḥ),* to the Brahman priest. He squeezed out its sap (*rasaḥ*) and the horse itself became the sap (*rasaḥ*). To this *rasaḥ* they mystically called *rathaḥ* (chariot) *(GB 1.2.21).* The Brahman practiced severe penance (*tapas*) in order to create a second deity who would be equal to him in quality. He toiled, heated and thoroughly heated himself. Due to his toiling and heating severely, sweat (*sveda*) came out on his forehead. He became delighted and uttered – 'I, the great *Yakṣa*, have known good knowledge', (*mahad vai yakṣam suvedamavidamaham*). That which is really good knowledge *(su veda)* they call it mystically *sveda* or sweat *(GB 1.1.1).*

Vedic ritualists use many ritual terms exclusively in the sphere of their performances which are hardly noticed in ordinary day to day activities of human life. Out of such terms few are said to have their direct and indirect forms. Here are some instances. A narration contains the legend of *Prajapati's* efforts to create many objects of this visible world. He entered into union with the mid-region (*antarikṣa*) by means of *Vāyu*. An egg arose out of this union which he touched and the sun was created out of that. The tear or *aśru* which formed itself in the egg became the variegated pebbles *(aśmā pṛṣṇiḥ).*[7] Thus, *aśru* is mystically called *aśman (ŚB 6.1.2.3).* Pebbles are usually used in the construction of the fire altar in *cayana* sacrifice. In this sacrifice an earthen pot namely *ukhā* is prepared and used for keeping fire in it for the sacrificer. The same pot is also used in the *pravargya* ceremony of a soma sacrifice. It is made out of the mud dug out of the earth. When the gods performed the fire building rite they dug out these three worlds. Since it is made out of the soil dug out of these worlds it is called *utkhā* and it represents three worlds. The same *utkhā* came to be called as

*ukhā* mysteriously (*parokṣam*) *(ŚB 6.7.1.23). svaru* is the name of a ring-shaped wooden head-piece prepared by the priests out of the same wood used for preparing the sacrificial post (*yūpa*) in an animal sacrifice. While erecting the post at the front of the *āhavanīya* fire this head-piece has to be fixed at the top part of the post itself. According to the *Vādhu ŚS 4.15:8*, this *svaru* is identified with food (*annam*) and its original name is *svara*. The same is indirectly called (*parokṣeṇa*) as *svaru*, as the gods are fond of indirect expression. Similarly one notices another sacrificial item namely *puroḍāśa*, roasted cake of rice to be offered to the deities, which has been etymologized as follows. This earth is *pūr*, this mid region is *pūr*, the heaven is also *pūr*, even the waters are *pūr*, *(ta devāḥ purodāśenaiva vyāśnuvata)*. Its real name is *purodāśa* and indirectly it is called *puroḍāśa*, since the gods like to express the name indirectly (*Vādhu ŚS 4.19b:17).* There is an instruction for the priest to place a mortar and pestle (*ulūkhala* and *musala*) on the first layer of the fire alter. In order to show the etymology of the word *ulūkhala* (mortar) the text contains a legend. The creator, at the time of preparation of the mortar from the wood of an *udumbara* tree, uttered 'it shall make (*karat*) wide space (*uru*) for me.' Thereby the mortar came to be known as *urukara*. This *urukara* is indirectly called as *ulūkhala (ŚB 7.5.1.22).*[8] In the fifth layer of the Fire-building some bricks pertaining to the metres (*chandasyā*) are to be placed out of which one brick is called *atichandas*. It is said in this context that the *atichandas* brick is *belley*. Since this brick eats (*atti*) the metres (*chandas*) i.e. the cattle, this brick is originally called *attichandas* and the same is mystically called *atichandas (ŚB 8.6.1.13).* Here all the names of above four objects are familiar to the ritual system and very rarely noticed to be used outside this sphere.

Still there are few terms which do not fit to the above six categories, may be taken here as miscellaneous names for which the *Brāhmana* texts show etymologies along with their duplicate names. Here are their descriptions. Before going to the details of ritual of reciting the *Agnimāruta śastra* in the third pressing of the *Agniṣṭoma*, by the *Hotṛ* priest, the theologians narrate a legend. *Prajapati*, being lustful towards his daughter, *Uṣas*,

cohabited with her. Against this unethical behavior of the creator the gods wanted to punish him. They asked *Rudra* to hurt *Prajapati*. This furious god pierced *Prajapati* with a three pointed arrow. By the force of his piercing, Prajapati was thrown upwards and his seed flowed away with a great amount. At a distance it became still and took the shape of a pond. Then the gods declared 'let not this seed of *Prajāpati* be spoiled' *(medam prajāpate reto duṣat)* and because of this declaration of the gods the entire amount of his seed was called *māduṣam*, i.e. not to be spoilt or faultless, pure. This same *māduṣa* is mystically called *mānuṣa* (human) in context of human beings *(AB 3.33(13.9))*.[9] While discussing on the mystery of the Fire alter the *Brāhmanic* theologians said that – He (Brahman) is the breath (*prāṇa*) and it is he who, as the *puruṣa*, (residing in the eye) leads all creatures. All vital airs he owns and when he sleeps these airs take possession of him as his own *(svā api yanti).* Therefore, *svāpyaya* is tantamount to it, since during sleep as if he is taken care of by his own people. This *svāpyaya* is indirectly called *svapna* (sleep). As a matter of fact, during sleep the vital breaths look after all as their own only *(ŚB 10.5.2.14)*.[10] As is already mentioned above, in context of *agnyādheya* the sacrificer gives the gold which is connected with the setting up of the fire (*āgnyādheyikam*) to the Brahman priest. He placed it in the self and thereby the fire blazed. It is pointed out by the theologians that which is not placed in the self (not given to the Brahman priest), that became *āglā* (languor). This *āglā* caused suffering for many in the ocean, in this earth and in the heaven also. She made the gods angry. They approached the Brahman priest. He neither sang nor danced. According to the *Brāhmaṇa* text this *āglā* is *kāruvidā* by name. Anyone who is *āglāhataḥ* or afflicted with *āglā*, he is mystically called *āglāgṛdhaḥ*, i.e. desirous or eagerly longing for *āglā*.[11] In this context the theologians state that the *Brāhmaṇa* who becomes a singer or dancer they call him *āglāgṛdha (ya eṣa brāhmaṇo gāyano nartano vā bhavati tamāglāgṛdha ityācakṣate)*. They also advice that a *Brāhmana* should not sing or dance and should not become *āglāgṛdha (GB 1.2.21) (tasmāt brāhmaṇo naiva gāyet na nṛtyet māglāgṛdhaḥ syāt).* It is needless to repeat here that at the end of textual discussion on each of the above examples one of the three

aforesaid sentences occurs. By means of which the theologians express the fondness of gods towards the usual names of the concerned being or objects even if the same are labelled to be unintelligible or *parokṣa* and sometimes their disinclination towards the etymologized *pratyokṣa* names. As a part of general remark here one may again quote Gonda – "gods are fond of the secret (presentation as it were) and haters of the intelligible direct presentation." - This treatment implies that gods like to use among themselves a vocabulary which is not intelligible to (most) men. They wish to keep the names of important beings and objects secret. A striking characteristic of so called secret languages intended not to be understood by outsiders indeed is the substitution, insertion or change of one or more sounds.[12]

No specific reason can be assigned for the gods' intentional use of the names characterized as *parokṣa*, i.e. cryptic or indirect which have become popular in course of time and their antipathy towards the names designated as *pratyakṣa* since the texts do not express or suggest anything in this regard. The ideas emanating through the commentaries mostly by *Sayana* do not help much for the purpose. Rather he provides respective supportive sentences or parts of sentences for the above two separate feelings and thereby strengthening these views in their own ways. For example, *loke'pi vayovidyādinā mahīyāṁsaḥ pratyakṣam svanāmagrahaṇe kupyanti* (on *ŚB 14.1.1.13*), *eṣṭaya ityetādṛśam nāma vaktavyam, tathāpi tannāma rahasyatvena gopayitvā* (on *TB 3.12.2.1*), *anveṣaṇasādhanatvāt eṣṭaya ėtyetāsām nāma, tathāpi mukhyam nāma gopayitvā* (on *TB 1.5.9.1-2*) and *loke'pi devadattādi nāma parityajya ācāryā upādhyāyā miśrā ityādi nāmabhiḥ pūjyāḥ parituṣyanti* (on *TB 1.5.9.1-2*), these expressions support to the view of gods' disliking towards direct or *pratyakṣa* names as noticed in the *Sāyana's* commentary. Similarly, the view of the gods' liking-ness towards the *parokṣa* names is supported by the following parts of sentences from the same commentary. *pārokṣeṇābhidhānam gauravāya kalpyate* (on *ŚB 7.5.1.22*), *parokṣamamukhyākārarahitamiṣṭaya ītyevam nāma prakaṭīkṛtya* (on *TB 3.12.2.1*), *atastena vyavahāre sati mukhyamnāma parokṣam bhavati* (on *TB 1.5.9.1-2*) and

*varṇāntareṇāvyavahitārthapratītirahitam nāma parokṣam* (on *AB 14.5 (3.43)*). There is a strong opinion to keep the original name of the respected ones in secret or not to reveal the same by uttering in public so that one can avoid the anger of the concerned ones. Simultaneously, by addressing them with their duplicate names one brings glory to these personalities. Moreover, the indirect names are believed to be devoid of power to reveal the secret and sacred knowledge entangled with the sense of the original names. Such knowledge can be traced usually by means of the etymologies of the names to which only the learned ones and the deities have their access. These original names along with their etymologies are to be kept in secret in order to protect these from being utilized injudiciously or for any unwanted purpose. However, the same feelings also work in case of the names of some sacred objects, ideas or actions used in the sacrificial rituals even if these are considered profane otherwise. In case of few names, it is also noticed that some of their dental sounds are simply modified to cerebrals for the sake of bringing their *parokṣa* forms out of their *pratyakṣa* ones.

It is observed that the theologians themselves have provided etymologies on most of the original names and decided their respective indirect (*parokṣa*) names by means of their peculiar way of narrating legends. At least in case of nine such *pratyakṣa* names they managed to show the source of the etymologies from some utterances or declarations of some divine beings, natural or supernatural powers such as *Prajapati*, *Ātman*, Brahman, gods and waters. For example, *Indra* from *idamdra* from the *Ātman's* declaration '*idamadarśam' (Ait Ār 2. 3. 4*) and *dūrvā* from *dhūrvā* from *Prajāpati's* utterance *'ayam vāva mādhurvīt' (ŚB.7.4.2.12).* Other seven utterances are connected with the names *Varuṇa, udumbara, vetasa, avakā, sveda, ulūkhala* and mānuṣa.[13]

So far the differences between the literal forms of the two sets of words, i.e. *parokṣa* and *pratyakṣa* are concerned one may put these into six categories effected with six types of modifications. These modifications are taking place in the *pratyaksa* or direct forms of names in order to bring these to their indirect (*parokṣa*) forms. These six categories are, 1-

Replacement of single sounds by other single sounds such as *eṣṭi* to *iṣṭi*, rasa to *ratha* and so on. 2- Replacement of two or more sounds by others such as *dhuna* to *dhūma* and *aśru* to *aśva* etc. 3- Replacement as well as dropping of sounds such as *vettusa* to *vetasa* and *avākkā* to *avakā* etc. 4- Dropping of single sounds such as *utkhā* to *ukhā* and *suveda* to *sveda* etc. 5- Replacement and addition of sounds such as *indha* to *Indra* and *rocas* to *rukma* etc. 6- Simultaneously replacement, addition and dropping of sounds such as in *spṛśya* to *pṛṣṭhya*. The offering namely *śatarudriya* is provided with two etymologies along with two *pratyakṣa* names, *śāntadevatya* and *śataśīrṣarudraśamanīya*. Its modifications are unique and cannot be put under any category.

**References:-**


1. Gonda J. 'Notes on Names and the Name of God in Ancient India', North Holland Publishing Company , Amsterdam, London, 1970, P.5
2. The commentator *Dvivedagaṅga* has commented this *indha* as follows – *indhe dīpyate jāgarite sthūlārthabhoktṛtvena sadā sphuraṇāt iti indho nāma vai prasiddha eṣa ādityāntargata puruṣaḥ, cakṣurvai brahmeti puroktaḥ*
3. Here *sāyana* explains - *loke'pi vayovidyādinā mahīyāṁsaḥ pratyakṣam svanāmagrahaṇe kupyanti, atastat pratihārāya aupacārikanāmāntaram ekam śiṣyādaya vyavaharanti. taśmāt devānāmapi mukhato nāmagrahaṇe prītyabhāvasya sambhāvyamānatvāt tadānīm nāma kenacidakṣareṇa vyatyasya prayoktavyamityarthaḥ* (on *ŚB 14.1.1.13*)
4. One may refer to the texts like – *devān vā eṣa upotkrāmati yo dīkṣate (ŚB 3.1.1.1)* and *devān vā eṣa upāvartate yo dīkṣate (ŚB 3.1.1.8)* In the text of *Vādhu ŚS 4.22:10* there is one more etymology provided which reads as follows – *sa etenāgnāṣṇavenaikādaśakapālenādīkṣata, tato vai tamabhidiśa āvartantābhibhūtānyabhimāsā ardhamāsā ṛtavaḥ saṁvatsaraḥ, tam diśo'bhyāvṛtyaikṣanta, tad dīkṣitasya dīkṣitatvam, digbhir ha vai nāmekṣitaḥ tam dīkṣita ityācakṣate parokṣeṇa, parokṣapriyā iva hi devāḥ*.
5. *Sayana* justifies the acceptance of the *parokṣa* names – *yasmāt devāḥ pūjyāḥ pitrācāryādayaḥ svakīyam vāstavam nāma parityajya he tāta, he ācārya iti parokṣenāhvānam kurvanti tasmādyuktaḥ parokṣanāma vyavahāraḥ*

6. *Sayana* comments as follows – *atra hīṣṭīnām necchāmātra sādhanatvam śrutyā vivakṣitam kiṅtu iṣyamāṇam vastvāgatam ābhiḥ ityetāvānartho vivakṣitaḥ, tathā satyāgamanārthavācakamākāramantarbhāvya tāsāmeṣṭaya ityetādṛśam nāma vaktavyam, tathāpi tannāma rahasyatvena gopayitvā porokṣamamukhyamākārarahitamiṣṭaya ityevam nāma prakaṭīkṛtya tena parokṣeṇa nāmnā sarve devā vyavaharanti, loke'pi devāḥ pūjyāḥ puruṣāḥ parokṣanāmapriyā iva dṛśyante, devadatto yajñadatta ityādibhiḥ pratyakṣanāmabhirna tusyanti, kintu he mātar ḥe pitar ityādibhiramukhyanāmabhistuṣṭa bhavanti.*
7. *Sayana* here means 'the clouds', *nānāvarṇaḥ meghaḥ'.*
8. In his commentary to *ŚB 7.5.1.22 Sayana* opines on the use of *parokṣa* names - *pārokṣeṇābhidhānam gauravāya kalpyata iti devānām parokṣakāmatvam*
9. *Sayana* comments on this – *janāstu dakārasthāne makāram prakṣipya mānuṣamiti brāhmaṇa kṣatriyādiśarīramācakṣate, tadvastuto daivācāreṇa doṣarahitatvāt māduṣameva, tathāsati māduṣanāmayogyamapi taccharīram parokṣeṇa nāmnā vyavahartavyamityabhipretya varṇavyatyayena mānuṣamityācakṣate, yasmāt loke devavat pūjyāḥ uttamapuruṣāḥ parokṣapriyā iva hi pratyakṣe mātāpiturnirmite devadattādināmni na prītim kurvanti kintūpādhyāyācārya svāmītyādike mātāpitrādīnāmaklṛptatvena parokṣenāmni prītim kurvanti tasmāt parokṣatvāya makāra prakṣepo yujyate*
10. *Sayana* explains – *yadyapi uktabhaṅgyā ādityasya 'svāpyayaḥ' iti pāvana nāma tathāpi 'etam' trilokinayanendīvaraḥ 'svapnaḥ' iti nāmāntareṇa parokṣam yathā tathā śāstrajñāḥ ācakṣate tatra nidānam hi yasmāt devāḥ parokṣakāmāḥ*
11. 'The meaning of the word *āglāgṛdha* is uncertain---The word still remains a moot point', Patyal HC, unpublished Ph.D Thesis submitted at the Univ. of Pune, footnote No – 8, Page 82., He refers to 'The Vedic Etymology' by Fatah Singh, who takes *āglā* as a musical instrument and *āglāgṛdha* would mean 'one who longs for a musical instrument called *āglā*, Kotā; 1952, P. 78; (from The Vedic Bibliography, Vol.4, 1985, section 79, Sr.No – 8) Ali Mohammed, 'Etymology of *āglāgṛdha*,' Indological Study, 2 (1), 1973, P. 11-12, Notes from the Ed. Dandekar RN – (*āglā* from *ā* + *gṛ* = to sing) *āglāgṛdha* – one who is greedy of singing. According to MW

this means 'Languor', a peculiar mental state which further means, in the Oxford Eng. Dict', as '(1) tiredness or inactivity, especially when pleasurable, (2) an oppressive stillness of the air. However, contextually, it stands to denote a defective mental position or an abnormal attitude.

12. Gonda J. 'Notes on Names and the Name of God in Ancient India', North Holland Publishing Company, Amsterdam, London, 1970, P.81
13. *Varuṇa* from *varaṇa* from *'bhagavantameva vayam rājānam vṛṇīmahe'*, *GB 1.1.7,*
*udumbara* from *udumbhara* from *'ayam vāva mā sarvasmāt pāpmana udabhārṣīt', ŚB 7.5.1.22,*
*vetasa* from *vettusa* from *'eṣa va etasya vanaspatirvettviti', ŚB 9.1.2.22,*
*avakā* from *avākkā* from *'yad vai naḥ kamabhūdavāk tadagāditi', ŚB 9.1.2.22,*
*sveda* from *suveda* from *'mahad vai yakṣam suvedamavidamaham'*, *GB 1.1.1,*
*ulūkhala* from *urukara* from *'uru me'karaditi'*, *ŚB 7.5.1.22,*
*mānuṣa* from *māduṣa* from *'medam prajāpate reto duṣat', AB 3.33 (13.9)*

# भारतीया संस्कृतिः-संस्कृतञ्च

**Dr.Y.Suresh**
Assistant Professor in Sanskrit
Department of Languages
Bharatiya Vidya Bhavan's Vivekananda College
(Autonomous) Sainikpuri-Secunderabad ( T.S)

संस्कृतभाषा अखिलविश्वस्य वाङ्मयेषु प्राचीनतमा भाषा अस्ति। अस्यामेव भाषायाम् उपनिबद्धाः वेदाः तारस्वरेण संस्कृतभाषायाः वैशिष्ट्यम् उद्घोषयन्ति। न केवलं भारतीयाः प्रत्युत पाश्चात्याः अपि विद्वांसः संस्कृतभाषायाः महत्त्वं स्वीकुर्वन्ति। प्राचीन-भारतीयानां संस्कृतिः, सामाजिकी व्यवस्था अस्यां भाषायामेव निहिता अस्ति। भाषावैज्ञानिकदृष्ट्या संस्कृतभाषायाः विशेषतः वैदिकभाषायाः महत्त्वम् अपरिहार्यम्। पुरा सर्वे जनाः संस्कृतभाषाम् एव वदन्ति स्म। अतः समग्रमपि प्राचीनसाहित्यं संस्कृत भाषायामेव उपलभ्यते। सर्वप्राचीनतमाः ग्रन्थाः चत्वारः वेदाः देवभाषायामेव निबद्धाः सन्ति यथोक्तम्-

**अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।**

**आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।।**

"वेदोऽखिलो धर्ममूलम् " वेदेषु मनुष्याणां कर्त्तव्याऽकर्त्तव्ययोः निर्धारणमस्ति। ततो वेदानां व्याख्यानभूता ब्राह्मणग्रन्थाः सन्ति। ततश्चारण्यकग्रन्थाः, उपनिषदः सन्ति। ततो अस्माकं गौरवभूताः षड्दर्शनग्रन्थाः सन्ति। संस्कृतभाषा भारतस्य एव न अपितु विश्वस्य प्राचीनतमा भाषा अस्ति। संस्कृतम् अस्य देशस्य अन्यभाषाणां

मूलस्रोतः अस्ति। संस्कृतस्य शब्दाः हिन्दी-तेलुगु,बंगला-मराठी-प्रभूतिभाषासु विद्यन्ते। संस्कृतस्य अध्ययनेन उक्त भाषाशब्दानां शुद्धरूपं ज्ञायते। एवमेव संस्कृतस्य अध्ययनेन राष्ट्रभाषा हिन्दी समृद्धा शक्तिशालिनी च भवितुं शक्नोति। संस्कृतस्य साहित्यम् अतिविशालम् अस्ति। अस्यां भाषायां लिखितानां काव्यानां नाटकानां अध्यनेन हृदयम् आनन्दसिन्धौ निमज्जति। अस्याः भाषायाः काव्यानां माधुर्य विश्वप्रसिद्धम् अस्ति। पुरा आदिकविः वाल्मीकिः संस्कृतभाषायाम् एव रामस्य चरितम् अलिखत्/लिखिलितवान्। व्यासोऽपि विश्वविख्यातं महाभारतग्रन्थं संस्कृतेन एव अलिखत्। कालिदास भारवि माघ-श्रीहर्षादयः अनेके महाकवयः संस्कृतेन सुन्दराणि काव्यानि अलिखन्।

उक्तश्चः-

**धन्योऽयं भारतो देशो, धन्येऽयं सुरभारती।**
**तदुपासकाः वयं सर्वे धन्याः अहो धन्यपरम्पराः।।**

जीवने शान्तेः महती आवश्यकता वर्तते। सा च संस्कृतम् अन्तरेण कथमपि न सम्भवति। छात्रेषु अद्य अनुशासनहीनतायाः लक्षणानि प्राचुर्येण दृश्यन्ते। तत्र संस्कृताध्ययनम् एवं कारणम्। तत्र तु माता, पिता, आचार्यः अतिथिश्च एते देवतुल्याः स्वीक्रियन्ते। यथाहि मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव, देव पितृ कार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् (कृष्णयजुर्वेदः -तैत्तिरीयोपनिषत्-शिक्षाध्यायः -कर्तव्योपदे ) इत्युक्तम्। " मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुषो वेद " शतपथ ब्राह्मणम् (14-6-10 ) एवं संस्कृतभाषा सर्वगुणसम्पन्ना।

अतः सर्वे भारतीयाः संस्कृतभाषां पठेयुः। यथोक्तम् –

सुवर्णां सुशब्दां सुवाक्यां सुपादां,
सुबोधामदीर्घां महार्थां सुशिष्टाम्।
सुबोधां सुभाषां सुरीतिं सुवृतिं
पठेयुः सदा संस्कृतां देवभाषाम्।।

**भारतीया संस्कृतिः :-**

'सा प्रथमा संस्कृतिः विष्ववारा' ( यजुर्वेदः 7-14 )

भारतीया संस्कृतिः विश्वस्य सर्वासु संस्कृतिषु प्राचीना श्रेष्ठा श्रेष्ठा च इति सर्वे विद्वद्भिः स्वीक्रीयन्ते, यदा विश्वस्य अन्येषां सभ्यानां देशानां निवासिनः सभ्यताहीनाः संस्कृतिविहीनाः स्वजीवनयापनं कुर्वन्त्यः आसन् तस्मिन्नेव काले भारतीया संस्कृतिः चरमोत्कर्षं विराजमाना आसीत्। संस्कृतिरेषा प्राचीनत्वेन न गौरवान्विता प्रत्युत स्वगुणैः महनीया विद्यते। अत्र विचारस्वातन्त्र्यं सदाचारपालनं धर्मप्राधान्यं, दुर्भावदमनं, पापानां निवारणं योगमार्गेण , दुःखदहनं, ज्ञानज्योतिप्रदानं, अविघातमोपहरणं, सुखसाधनं सत्यस्थापनं असत्यप्रशमनं, शान्तिप्रदानं विश्वबन्धुत्वस्थापनं मनोऽमलीकरणं इत्यादयः दुर्लभा गुणाः विराजन्ते यैः गुणग्रामैः संस्कृतिरेषा सर्वस्मिन् जगति स्वप्रभावं विस्तारयन्ती जनान् आकर्षयति। अत एवोक्तं मनुना-

**एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।**
**स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।**

देशेऽस्मिन् विविध-भाषाभाषिणः नानावेष-भूषाधारिणः, विभिन्न-देवोपासका विविधस्थान- निवासिनः जनाः सन्ति तेषां

भाषावेष-स्थानोपासनविधिषु वैभिन्नयं भवितुमर्हति परञ्च सर्वेषां देशवासिनां जनानां संस्कृतिस्तु एका एवं विद्यते। भारतीयया संस्कृतिना सर्वे भारतीयाः जना एकतायाः सूत्रे पुष्पाणि इव संगुफिताः सन्ति। तेषाम् ऐक्यस्य मूलं संस्कृतिरेव विद्यते। भारतीया संस्कृतिः पतितपावनी गङ्गा इव स्वमध्यपतितान् अपरानपि संस्कृतिनदीनदादीन् स्वात्मसात्कुर्वन्ती निर्बाधगतिना निरन्तरं प्रवहन्ती विद्यते। सम्पत्यपि अस्याः गुणगणेनाकर्षिताः सुखस्य पराकाष्ठामनुभूताः धनादिदशानामशान्त्या समुद्विग्नाः जनाः शन्तिमवाप्तुमत्रागत्य भारतीयाः संस्कृतेः आश्रय-ग्रहणार्थं प्रयत्नशीलाः दृश्यन्ते।

**वैशिष्ट्यानि:-**

भारतीया संस्कृतिः केवलं प्राचीनत्वादेव न प्रत्युत स्वगुणग्रामात् सर्वैः समादरिता सेवनीया वर्तते। तस्या कतिपयानि वैशिष्ट्यानि अत्र संक्षेपेण विवेच्यन्ते-

**1. पुरुषार्थोत्प्रेरिका:-**

धर्मार्थकाममोक्षाः इति पुरुषार्थचतुष्टयं विद्यते। धर्मपालनं कर्त्तव्यपालनं तेन अर्थोपार्जनं तस्मात् कामानां भौतिकसुखानां प्राप्तिः कर्त्तव्या। अन्ते भौतिकसुखेन सन्तुष्टं भूत्वा तत्सुखञ्च अनित्यमबुध्य मोक्षस्य कृते प्रयत्नो विधेयः। अर्थस्योपार्जनं धर्मेण अर्थात् स्वकर्तव्येनैव करणीयं न तु चौर्यादिनाऽनैतिकरूपेण तेन स्वोपार्जितेन वित्तेनैव भौतिकसुखं सेवनीयम्। येन सन्तुष्टिं समुपलभ्य भौतिकसुखानि अनित्यानि इति चावबुध्य एताभ्यां मोक्षः विरक्तिः प्राप्यर्थं प्रयत्नः करणीयः। इदं पुरुषार्थचतुष्टयं जनानां कृते अनिवार्य कर्म इति अस्माकं संस्कृत्यां परिनिष्ठितं वर्तते। एतेन पुरुषार्थचतुष्टयेन

जनाः अन्ते शान्तिमवाप्तुं समर्थाः भवन्ति। वस्तुतस्तु मानवानां भौतिक सुखलाभस्य इच्छा तु अनन्ता भवति। यत्प्राप्तुं मानवः अत्र अनेकानि कृताकृतानि कार्याणि सम्पादयन्ति। येन अनाचारस्य वृद्धिः जायते। सुखभिलाषिणाम् अपि मनसि शान्तिः न समुद्भवति। परञ्च शान्तिः एव सर्वश्रेष्ठं सुखं दातुं समर्थाः अर्थं विना काम पुष्णाति कामस्य पुष्णिते एवं मोक्षमवाप्तुं शक्यते। अत एव भारतीयायां संस्कृतौ एतेषां पुरुषायां क्रमेण ग्रहणं विद्यते। एवं पुरुषार्थचतुष्टयेनैव जनाः पूर्णशान्तिमवाप्नुमर्हन्ति।

**2. आश्रमव्यवस्थायाः अवधारणाः-**

मानवानां सम्यगभ्युदयार्थं भारतीयायां संस्कृतौ आश्रव्यवस्था स्वीकृता विद्यन्ते। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" ( यजुर्वेदः 40-2)शतवर्ष मनुष्यस्य आयु मत्वा जीवनकालः चतुर्धा विभक्तः विद्यते। जन्मकालात् पञ्चविंशतिवर्ष यावत् ब्रह्मचर्यावस्था वर्तते। अवस्थायामस्यां बालकानां कृते विद्याध्ययनं तपोमयजीवनयापनं सर्वविधगुणग्रहणमावश्यकं कर्त्तव्यमस्ति। विद्याध्ययनं समाप्यनन्तरं आपञ्चविंशतिवर्षात् पाशद्वर्षं यावद् विवाहं कृत्वा दाम्पत्यजीवनयापनपूर्वकं वंशप्रतिष्ठार्थं वंशोत्पत्तिः सांसारिकविषयाणामुपभोगः प्रधानकृत्यः विद्यते। पञ्चाशदवर्षादनन्तरं पञ्चसप्तिवर्षं यावत् अरण्ये निवसन् सामाजिकसेवाकार्य, संयमादिनियमानां पालनं योगादिकार्येषु प्रवृत्तिः क्रमेण सांसारिक सुखात्क्रमेण निवृत्तिसाधनं च प्रमुखं करणीयम्। चतुर्थेऽन्तिमे च काले पञ्चसप्तिवर्षानन्तरं पूर्णरूपेण सांसारिकविषयान् परित्यज्य आत्मपरमात्मविषयकं चिन्तनमेव प्रमुखं कर्त्तव्यम्। मानवानां चतुर्धा

विभक्तोऽयं जीवनकालः आश्रमसंज्ञयाभिहितः वर्तते। प्रथमः कालः ब्रह्मचर्यः द्वितीयः गृहस्थः अपरं च वानप्रस्थः चतुर्थश्च सन्यासः इति नाम्ना ख्यापितः।

**शैशवेभ्यस्त विद्यानां- यौवने विषयैषिनाम्।**

**वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां- योगेनान्ते तनुत्यजाम्।।**

**3. वर्णव्यवस्थाः-**

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः (भगवद्गीता 4-13)

समाजस्य व्यवस्थां सुचारुरूपेण चालयितुं कर्मानुसारं सर्वे जनाः चतुर्विभागेषु विभक्ताः सन्ति। व्यवस्थैषा वर्णव्यवस्था नाम्नाभिधीयते। अध्ययनाध्यापनं यजनयाजनं दानं प्रतिग्रहश्च ये जनाः कुर्वन्ति ते ब्राह्मणवर्णे समायान्ति। देशस्य समाजस्य च संरक्षण क्षत्रियजनानां कर्त्तव्यम्। कृषिगोरक्षा वाणिज्यं च वैश्यवर्णानां प्रमुखं कार्यं विद्यते। एतेषां वर्णत्रयाणा जनानां सेवाकार्यं शारीरिकञ्च कार्यं शूद्रवर्णानां प्रधानं कृत्यं वर्तते। एवं स्वकार्यानुसारं जनाः स्ववर्णं समाश्रयन्ति।

**4.कर्मफलप्राप्ति भावनाः-**

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् इत्ययं भारतीयसंस्कृतेः सिद्धान्तः। यो यथा पुण्यं पापं वा करिष्यति तथैव तस्य पुण्यस्य पापस्य फलं प्राप्यसि। 'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्' 'पुण्यकर्म सुखमूलं पापकर्म दुःखमूलं भवति'। अत एव अनया भावनया संस्कृताः जनाः सुखदायिकानि पुण्यकर्माणि कर्त्तुं प्रवृताः भवन्ति दुःखप्रदायिकानि पापकर्माणि परित्यजन्ति।

**5.पुनर्जन्मावधारणाः-**

जातस्य हि धृवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च (भगवद्गीता 2-27) प्राणिनां मृत्युरवश्यम्भावी मृतस्य पुनर्जन्मापि अवश्यमेव भवति। यथोक्तं गीतायाम्- जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्भुवं जन्म मृतस्य च' इति। ज्ञानत्वं मूर्खत्वं धनधन्यादिपूर्णत्वं दारिद्र्यं मानमसम्मानं गौरवत्वं लाघवत्वं रुग्णत्वं इत्यादयः पूर्वजन्मकृतकर्मतः समुपलभ्यन्ते। अनेनैव विश्वासेन सर्वे जनाः प्रायेण सत्कर्मण्येव प्रवृत्ताः जायन्ते। असत्कर्मणः तेषां निवृत्तिः भवति।

**6. यज्ञस्य प्राधान्यम्** (यज्ञो वै विष्णुः)

**अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।**

**यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञकर्म समुद्भवः।।** (भगवद्गीता 3-14)

भारतीय संस्कृति स्वा निःश्रेयसलाभार्थं यज्ञमवश्यमेव सम्पादनीयनम् यज्ञेन देवाःसन्तुष्टाः भूत्वा प्रसादिताः सन्तः यज्ञकर्तृणामभीष्टं साधयन्ति, अभ्युदयं सम्पादयन्ति मल विस्तारयन्ति निःश्रेयम विधायन्ति ताज्ञातपापानां परमवेदपातरूप देवान प्रसादनार्थं देवदेवः पितृ कटादिभ्योऽनादिदानरूपः भूतयः अतिथीनां सेवारूपः अतिथियज्ञः इत्येते पञ्चमहायज्ञाः प्रतिदिवसं गृहस्थैः समपादनीयाः विद्यन्ते।

**7. यम नियम पालनम्ः-**

मानवानां कृते यमानामचरणमावश्यककृत्यं विद्यते। महर्षिपतंजल्यनुसारं एते यमाः सार्वभौमाः सन्ति ये महाव्रतनाम्ना ख्यापिताः अहिंसासत्यास्तेयाद्यचर्यापरिग्रहाः यमाः( पतञ्जलि - योग

दर्शनम् 2-30)। जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः यमाः इति यमाः। तत्र महर्षिणा नियमाः अपि विहिताः-- शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। एते यमाः मनुष्यैः अवश्यतानिवार्यरूपेण सेवितव्याः यथाक्तं मनुना यमान् सेवेत सततं न नियमान् बुधः। यमान्यतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान्भजन्।। इति

**8. वेदानां प्रामाण्यम्:-**

भारतीयसंस्कृति वेदानुसार जीवन यापनीयम् वेदवचनानुसार जीवनयापनेनैव मतिर्भवति तद्विपरीतानुमेण दुःखमरणि वेदमेव अन्येतु तन्मूलकं प्राणायं समवानुबन्ति अत एव अन्ये परतः प्रमाणरूपाः सन्ति।

**9. आध्यात्मोपेता:-**

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या " इत्यनेन भौतिकस्य जगतः अनित्यत्वं प्रतिपादितम्। जगत्सम्बन्धात् जीवनमप्यनित्यम्। अत्र केवलं ब्रह्मैव नित्यं विद्यते। अस्यां जगत्यां सर्वत्र ब्रह्मैव व्याप्तं विद्यते यथोक्तम्- ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। सर्वे प्राणिनः ब्रह्मणः स्वरूपम्। अत एवं सन्दान् स्व यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते। अत्र कस्यचिदपि प्राणिनः कापि सत्ता नित्या नास्ति, सर्वमेव ब्रह्मावतिष्ठते। अत एव सर्वेषां प्राणिनां कर्मणि एव अधिकारः न तु कलप्न रोग कर्मकारस्ते फलेषु कदाचन। एवमाध्यत्मिकभावनया मानवाः शोकाभिभूताः न भवन्ति।

**10. त्याग भावना:-**

भारतीयायां संस्कृतौ त्यागस्य भावना स्थले स्थले दृश्यते।

धनहीनानां कृते धनिकजनेषु धनदानस्य क्षुत्पीडितानां कृते अन्नदान्स्य माहात्म्यम् अस्यां प्रशंसितम् विद्यते। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा–मोघमन्नं विन्दतेऽप्रचेताः इत्यादिना त्यागस्य गौरव केवलं स्वोपभोगस्य च निन्दा कृता वर्तते आ धनस्य गतिस्वयं प्रतिपादितम्-भोगः दाने क्षयज्ञायः धनस्योपभोग दान न करोति तस्य यस्य धनं विनश्यति। अत एव धनस्य सदुपभोगः दानं करणीयम्।

**11. सत्यभाषणवैशिष्ट्यम्:–** (सत्यज्ञान आनन्द स्वरूपः परमेश्वरः)

"नहि सत्यात्परोधर्मः" इत्यादिना सत्यभाषणस्य महत्ता प्रतिपादितास्ति। सत्यं ब्रह्मणः स्वरूपं विद्यते। यथोक्तं बृहदारण्यकोपनिषदि सत्यं ब्रह्मेति, सत्यं एव ब्रह्म। अत एव ब्रह्मस्वरूपं सत्यमाश्रयणीयम् यथोक्तं छान्दोग्योपनिषदि सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यम्। सत्यस्य महत्त्वमश्वमेध सहस्रादपि अतिरिच्यते। यथोक्तं महाभारते-

**अश्वमेघसहस्रञ्च सत्यञ्च तुलया घृतम्।**

**अश्वमेघसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते।।**

12. **अहिंसायाः पालनम्:-**

"अहिंसा परमोधर्मः" इत्यादिना अहिंसायाः श्रेष्ठता स्वीकृता विद्यते। केवलं कस्यचित् प्राणिनः हत्या एवं हिंसायां नायाति प्रत्युत यावन्तः आत्मनः प्रतिकूलाः भावाः सन्ति ते सर्वेऽपि हिंसापदाभिधेयाः विद्यते। यथा-गालिप्रदानमुपहासश्च वाचनिकी हिंसा,

कस्यचिदमङ्गलचिन्तनं मानसिकी हिंसा ताडनादिकं करचरणयोः हिंसा भवति। एताः हिंसाः परिवर्जनीयाः।

यथोक्तम्:- **आत्मवत्सर्वभूतेषु स्मृत्वा हिंसाम् परित्यजेत्।**

**अहिंसा प्राणिनां प्रीतिपदेति सुधियां मतम्।।**

भारतीयायां संस्कृतौ सदाचारपालनम् अतिथिनां सेवासत्कारपूजा, पित्रोः सेवाज्ञापालनं गुरुजनानां समादरम् इत्यादयः भावाः समाहिताः सन्ति। एवमत्र जनस्य परिवारस्य समाजस्य देशस्य निखिलविश्वस्य चाभ्युदयार्थं सर्वे भावाः विराजन्ते। अत एव भारतीया संस्कृतिः सर्वैः प्रशस्यते। भारतीया संस्कृतिः संस्कृतञ्च भारतीया संस्कृतिः सर्वासु विश्वसंस्कृतीषु स्वयमेव गौरवास्पदा विद्यते। अस्या संस्कृतेन सह अविनाशिसम्बन्धः अस्ति। यतो हि भारतीयायाः संस्कृतेः सर्वाणि मूलभूत तथ्यानि संस्कृतभाषायामेव उपनिबद्धानि विद्यन्ते। संस्कृतस्य ज्ञानं विना अस्याः सम्यगवबोधनम सम्भवं वर्तते। भारतीयायाः संस्कृतेः पूर्णरूपेणावबोधनार्थं संस्कृतभाषायाः ज्ञानमपरिहार्यं विद्यते। संस्कृते एव भारतीया संस्कृतिः सुरक्षिता। यत्र परस्परसहयोगः धैर्य, निर्भयता, मित्रता, सत्सङ्गतिः, सत्यनिष्ठता, अहिंसा, सदाचारः, कुसङ्गतित्यागः, नम्रता, लोभपरित्यागः शिष्टाचारः, वीरता, सन्तोषः क्षमा, निरभिमानः गुणवत्ता, स्वामिभक्तिः मातृपितृगुरुसमादरः, दक्षताविवेकः, कर्तव्याकर्त्तव्यविचारः, शीलतादयः सद्गुणाः वर्णिताः विद्यन्ते। संस्कृतस्य ज्ञानेनैव एतेषां गुणानां ज्ञानं तदनुसरणं च कर्तुं शक्यते। अत एव अस्याः ज्ञानार्थं संस्कृतस्याध्ययन मावश्यकम निवार्यञ्च विद्यते।

**13.भारतीयैकतासाधनं संस्कृतम्:-**

भारतवर्ष निसर्गत: एवं एकमखण्डराष्ट्र विद्यते। अस्योत्तरस्यां दिशि नगाधिराजो हिमालयः तदीयस्य उत्तरस्य दिशायाः सीमां निर्धारयति। पूर्वस्यां पश्चिमस्या दक्षिणस्यां व दिशि समुद्रवलयः विराजन्ते। यथोक्तम्-

**हिमालयादासमुद्रं पुण्यक्षेत्रं च भारतम्।**

**श्रेष्ठपर्वतस्थलानाञ्च मुनीनां च तपः स्थलम्।।**

इत्यं भारतदेशस्य सीमाः पुराणेषु कालिदासादीनां कवीनां काव्येषु निर्धारिताः सन्ति। देशस्यास्यान्तर्भागे विद्यमानान् पर्वतान् प्रवहत्यः नद्यः प्रति अवत्यानां जनानां महती आस्था, प्रशंसनीया भक्तिभावना च सुविराजते।

**महेन्द्रो मलयः साः सुक्तिमान् ऋक्षपर्वतः।**

**विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः।।**

**गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।**

**नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।।**

देशेऽस्मिन् सर्वत्र सर्वेषु प्रदेशेषु नगरे-नगरे ग्रामे ग्रामे वैदिकधर्मावालम्बिनः तस्यानुयायिनः च निवसन्ति सर्वत्राश्रमाणां वर्णानाञ्चास्तित्वं दरीदृश्यते। संस्काराः सम्पाद्यन्ते। ईश्वरस्य सत्तायां विश्वासो विद्यते, मोक्षस्यावाधारणा स्वीकृता जायते। देवीदेवताऋषिमुनीन् प्रति आस्था विराजते, स्वर्गनरकयोः प्रति विश्वासः वर्तते, स्वाभ्युदयार्थमनिष्टपरिहार्थज्ञ व्रतोपवासादीनां स्वीकरणं

समुपलभ्यते। एवं विधायाः भारतीयसंस्कृतेः समुल्लेखः संस्कृतभाषायामेव सुरक्षितः विद्यते। कस्यापि प्रदेशस्य स्थानास्य वा निवासी संस्कृतज्ञः देशस्य अन्येष्वपि प्रदेशेषु, विभिन्न भाषाभाषिणां जनानां मध्ये धर्मानुष्ठानानि सम्पादयति। तेन सर्वेऽपि जनाः समानरूपेण स्वाभाविकतया परितुष्टाश्च भवन्ति।

वर्तमानराष्ट्रियचेतनायाः दृष्ट्यापि संस्कृतमेव सामान्यतः वर्धमानं दृश्यते। साम्प्रतिके समयेऽपि प्रशासनिकरूपेण देशस्यास्य भारतं नाम स्वीकृतं वर्तते। "सत्यमेव जयते" इत्युनिषद् वाक्यः सैद्धान्तिकरूपेण स्वीकृतः जातः। बङ्किमचन्द्रप्रणीतं "वन्देमातरम्" इति देशगीतं प्रायेण संस्कृतपदैरेवान्वितं विद्यते। एवमेव रवीन्द्रनाथप्रणीतं जनगणमन इति राष्ट्रगानमपि संस्कृतपदविपुलत्वेन समन्वितमस्ति। अनयोः गानयोः अर्थावबोधः सर्वैः भारतीयैः सारल्येनानुभूयते।

आकाशवाण्या प्रयुक्तः आदर्शवाक्यः "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय" दूरदर्शनेन सत्यं शिवं सुन्दरम्" चिकित्सालयेषु "सर्वे सन्तु निरामया" भारतीयजीवनवीमानिगमेन"योगक्षेमं वहाम्यहम् जलसेनया "शं नो वरुणः" विदेशनीतेः "पञ्चशीलम् "एवं विविधानि चादर्शवाक्यानि एवमेव अन्यैरपि प्रशासनिक विभागैः स्वीकृतानि आदर्शवाक्यानि प्राचीनभिः संस्कृतभाषायां प्रणीतेभ्यः ग्रन्थेभ्यः उद्धृतानि विद्यन्ते। इत्थं ज्ञायते यत् संस्कृतं सर्वैः भारतीयजनैः समादरितं वर्तते। सर्वेभ्यः महोत्सवेभ्यः माङ्गलिककार्येभ्यः भाषणादिव्याख्यानात्मक विचारप्रस्तुती करणात्पूर्व समुच्चारिताः माङ्गलिकाः मन्त्राः श्लोकाश्च सर्वेषां जनानां मनांसि मोहयन्ति

आनन्दञ्च जनयन्ति। एवं जायते यत् संस्कृतमेव राष्ट्रियाकांक्षा प्रस्तुतीकरणे उपयुक्तभाषारूपेण सुविराजते।

भारतीयैतिहासिकदृष्ट्यापि संस्कृतभाषा एवं सम्पूर्णान्भारतीयजनान् एकतायाः सूत्रे निबंधितुं समर्था विद्यते। भारतदेशस्य सर्वेष्वपि प्रदेशेषु प्रचलिता पितृपरम्परया प्राप्ता संस्कृतिः प्रायेण समा वर्तते। या संस्कृतभाषामेव उपनिबद्धा अस्ति। यस्य संस्कृतिः यस्यां भाषायां मूलरूपेण निबद्धा सैव भाषा उद्देशस्य राष्ट्रियकतायां बद्धं समर्थ जायते।

इजराइलदेशस्य धर्मः संस्कृतिश्च हिब्रू भाषायां प्राप्यते। अत एव तंत्र वास्तव्यैः जनैः हिब्रू भाषा राष्ट्रभाषारूपेण स्वीकृता विद्यते। तेषामियं धारणा वर्तते यत्संयुक्तराष्ट्ररूपेण आत्मानं जीवयितुं राष्ट्रस्य सांस्कृतिको धार्मिकीञ्चैकतासुरक्षितुं हिब्रू भाषा एवं सक्षमा अस्ति। एवमेव चीनाभाषायां वस्तूनां चित्ररूपं विचाराणां च प्रतीककाव्यरूपं समुपलभ्यते। भाषायामस्यां ध्वनीनां विचाराणां संयुक्त भावानां च कृते सङ्केतात्मकविचारचित्राणि भावचित्राणि ध्वनिचित्राणि च निर्धारितानि विद्यन्ते। अनया एवं भाषया चीनदेशस्य दूरवर्तिषु स्थानेष्वपि जनसम्मर्दः सांस्कृतिकरूपेण परस्परं संश्लिष्टः विद्यते। यदि तत्र चीनीभाषायाः स्थाने काचिदन्या ध्वन्यात्मकभाषा प्रतिष्ठापयेत तर्हि तस्य देशस्य सांस्कृतिकी धार्मिकी राजनैतिकी व्यवस्था छिन्ना भिन्ना च भवितुमर्हति। अत एव तत्रस्थानां जनानां संगठनार्थं चीनी भाषा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विद्यते। एवमस्माकं भारतदेशस्य संस्कृतिः सभ्यता प्राचीनेतिहासश्च संस्कृतभाषायामेवोपलभ्यमाणेषु, ग्रन्थेषु समुपलभ्यन्ते। अत एवास्माकं भारतीयानामैक्यं स्थापयितुं संस्कृतमेव

समर्थः जायते। सम्प्रति नूनमेव संस्कृतभाषा चिरकालाद् भारतदेशनिवासिनः विविधभाषाभाषिणः जनाः स्वतन्त्रं जीवनं यापयन्तः जनसमूहान् सुदृढैक्यस्य सूत्रे बद्धवा अनुपमं कार्य सम्पादयन्ति। संस्कृतं विना शतकोटिपरिमितान् भारतीयजनान् एकीकर्तुं सम्पूर्ण राष्ट्रं च एकतायाः सूत्रे सङ्गठनीकर्तुं न शक्यते। भारतदेशः अनेकधा राष्ट्रेषु विभक्तः भवति। इत्थं ज्ञायते यत्सम्प्रति देशस्यैकतायाः सुदृढीकरणार्थमस्माकं संस्कृतेः मूलं संस्कृतमेव समर्थ विद्यते। अत एव अस्माभिः सर्वे देशवासिभिः संस्कृतमवश्यमेव पठितव्यम्।

## Reference Books:

उपयुक्त ग्रन्थासूचि :

1.भगवद्गीता

2.तैत्तिरीयोपनिषत्

3.ईशावास्योपनिषत्

4.चतुर्वेदाः

5.रघुवंशः

# औषधियों का आधुनिक स्वरूप व प्रयोग:- एक समीक्षात्मक अध्ययन

**डॉ० मधु**
सह आचार्या, संस्कृत विभाग
एस०आर०डी०ए० गर्ल्स, पी०जी कॉलेज, हाथरस

वनस्पतियाँ हमारे प्राकृतिक पर्यावरण का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। उनका आधुनिक स्वरूप उनकी सामर्थ्य और उपयोगिता में सुधार का परिणाम है। प्राचीन काल में वनस्पतियाँ केवल खाद्य और आवास के लिए महत्वपूर्ण थीं, लेकिन आधुनिक काल में उनका महत्व और उपयोग विस्तारित हो गया है। आधुनिक समय में, वनस्पतियों का विज्ञान और प्रौद्योगिकी क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान है। उनके विभिन्न रूपों जैसे जीनोमिक्स, बायोटेक्नोलॉजी, और जैव इंजीनियरिंग में उनका उपयोग हो रहा है। यह नई प्रौद्योगिकीयों के उत्थान और समाधानों में महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। वनस्पतियों का आधुनिक स्वरूप भी चिकित्सा और फार्मास्यूटिकल क्षेत्रों में महत्वपूर्ण है। उनके औषधीय गुणों का अध्ययन और उनका विकास नई औषधीय दवाओं के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान कर रहा है।

आधुनिक युग में वनस्पतियों के आधुनिक स्वरूप और उनके प्रयोग ने हमें यह दिखाया है कि वनस्पतियों का महत्व न केवल चिकित्सा विज्ञान में है, बल्कि उनका उपयोग खाद्य, उद्योग, और पर्यावरण के कई क्षेत्रों में भी है।

समाज में भी वनस्पतियों का आधुनिक स्वरूप महत्वपूर्ण है। उनका सही उपयोग स्वास्थ्य, पर्यावरण और आर्थिक विकास में मदद करता है। इसके अलावा, आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के माध्यम से वनस्पतियों के संरक्षण और उनके संग्रहण का कार्य भी सुगम हो रहा है। वनस्पतियों के आयुर्वेदिक उपयोग से न केवल शारीरिक स्वास्थ्य का ध्यान रखा जाता है, बल्कि मानसिक और आत्मिक स्वास्थ्य का भी संरक्षण किया जाता है। इस प्रकार, आयुर्वेदिक वनस्पतियों का उपयोग भारतीय समाज में संतुलित और स्वस्थ जीवन के लिए एक महत्वपूर्ण संसाधन साबित होता है। इस प्रकार, वनस्पतियों का आधुनिक स्वरूप हमारे समाज और पर्यावरण के लिए महत्वपूर्ण है और हमें उनके संरक्षण और उपयोग में सावधानी बरतनी चाहिए।

**शब्दकुंजी:-** आयुर्वेद, वनस्पति, आधुनिकस्वरूप, स्वास्थ्य, विज्ञान, संसाधन

वेद विश्व-संस्कृति के आधार स्तम्भ हैं। आदिकाल से ही वेद मानवजाति के लिए प्रकाश स्तम्भ रहे हैं। वेदों में ज्ञान और विज्ञान का अनन्त भंडार विद्यमान है। अतएव मनु ने वेदों को सर्वज्ञानमय कहा है **"सर्वज्ञान्मयो हि सः"** अर्थात् वेदों में सभी प्रकार का ज्ञान और विज्ञान निहित है। चरक संहिता में आयुर्वेद का लक्षण दिया है **"आयुर्वेदयति इति आयुर्वेदः"** अर्थात् जो आयु का ज्ञान कराता हो वह आयुर्वेद **है।** आयुर्वेद शास्त्र की दृष्टि से वेदों का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि चारों वेदों में आयुर्वेद के विभिन्न अंगों और उपांगों का यथा स्थान विशद वर्णन हुआ है। आयुर्वेद की दृष्टि से अथर्ववेद

अत्यंत महनीय ग्रंथ है। इसमे प्राय: सभी अंगों और उपांगो का विस्तृत वर्णन मिलता है। अथर्ववेद आयुर्वेद का मूल आधार है। **"ऋच: सामानि भेषजा, यजूंषि"** अथर्ववेद में ही आयुर्वेद को भैषज या भिषग्वेद नाम से पुकारा गया है। **"यजूंषि च ब्रह्म च"** अथर्ववेद का एक नाम ब्रह्मवेद भी है।

वेदों और ब्राह्मण ग्रंथों आदि में वनस्पतियों और उनके पर्याय शब्दों का विस्तृत उल्लेख मिलता है ऐतरेय ब्राह्मण में एक महत्वपूर्ण बात कही गई है **"प्राणो वै वनस्पति:"**वनस्पतियां प्राण हैं। वनस्पतियां जीवन रक्षक हैं और चिकित्सा की प्रमुख साधन हैं इनके द्वारा विभिन्न रोगों को दूर किया जाता है अत: इन्हे भेषज और सुभेषज (उत्तम चिकित्सा) कहा गया है **"तत् ते कृणोमि भेषजम् सुभेष जम्"** इसीलिए प्राचीन काल से ही वनस्पतियां महत्वपूर्ण रही हैं, लेकिन आधुनिक युग में इनका महत्व और अधिक बढ़ गया है। वनस्पतियों के आधुनिक स्वरूप और उनके प्रयोग न केवल चिकित्सा विज्ञान में बल्कि खाद्य और उद्योगों में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। आधुनिक विज्ञान ने वनस्पतियों के गहन अध्ययन किए है और उनके औषधीय गुणों को समझने में उत्कृष्टता प्राप्त की है। उन्होंने वनस्पतियों के रसायनिक तत्वों को परखा है और उनके औषधीय उपयोगों का परीक्षण किया है। वनस्पतियों के आधुनिक स्वरूप और प्रयोग के बारे में बात करें तो वे अब न केवल परंपरागत रूप से खाद्य और औषधि के रूप में ही प्रयोग किए जा रहे हैं, बल्कि वे विभिन्न अन्य क्षेत्रों में भी उपयोग किए जा रहे हैं। आधुनिक संशोधनों और प्रौद्योगिकियों के साथ, वनस्पतियों के उत्पादन और प्रयोग में वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिए, जैव इंजीनियरिंग द्वारा,

नवीनतम तकनीकियों का उपयोग करके वनस्पतियों की जीनोमिक्स का अध्ययन किया जा रहा है, जिससे उनकी उत्पादनशीलता, स्थायिता, और प्रोत्साहन को बढ़ाया जा सकता है। साथ ही वनस्पतियों के आधुनिक उपयोग के क्षेत्र में नई रचनात्मकता भी देखी जा रही है, जैसे जीवाश्म, बायोडाटा, और बायोफ्यूल।

इसके अलावा, वनस्पतियों के रसायनिक गुणों का उपयोग भी नई औषधीय उत्पादों के रूप में किया जा रहा है, जो रोगों के इलाज में महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं।

यहां कुछ वनस्पतियों के आधुनिक प्रयोग की बात करते हैं।

**• इंद्रायण:-**

**"किंकुकाशोकपद्मभः वहनि:"** पैप्पलाद संहिता में इसका उल्लेख मिलता है इंद्रायण एक प्राचीन आयुर्वेदिक औषधि है जो कई रोगों के इलाज में प्रयोग किया जाता है। आधुनिक समय में, इंद्रायण का उपयोग विभिन्न संशोधित और समीक्षित रूपों में किया जाता है, जिसमें इसे कैप्सूल्स, तेल, लिपिद और पाउडर के रूप में बनाया जा सकता है।

आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययनों ने इंद्रायण के विभिन्न औषधीय गुणों की पुष्टि की है, जिनमें एंटीऑक्सीडेंट, एंटीमाइक्रोबियल, और एंटीइन्फ्लेमेटरी गुण शामिल हैं। इसके अलावा, इंद्रायण को मानसिक स्वास्थ्य को संतुलित करने और स्ट्रेस को कम करने के लिए भी प्रयोग किया जाता है।

**• पीपल:-**

**"पिप्पलं स्वाद्वत्ति"** ऋग्वेद में इसका उल्लेख मिलता है यह एक औषधीय वृक्ष है। पीपल का आधुनिक प्रयोग विभिन्न क्षेत्रों में किया जा रहा है. जैसे की आयुर्वेदिक चिकित्सा, जैव-उपचार, तंत्रिका, और वास्तुशास्त्र। इसके अलावा, पीपल के पत्ते, जड़, और फलों का उपयोग आहार, औषधि और सौंदर्य संबंधी उत्पादों में भी किया जाता है। आयुर्वेदिक चिकित्सा में पीपल की पत्तियों का उपयोग अनेक रोगों के इलाज में किया जाता है, जैसे कि दांत के दर्द, पेट की समस्याएं, और त्वचा संबंधी समस्याएं।

जैव-उपचार में, पीपल का उपयोग विभिन्न बीमारियों के निदान और उपचार में किया जाता है, जैसे कि डायबिटीज, हृदय रोग, और कैंसर।

पीपल को धार्मिक और आध्यात्मिक उपदेशों के लिए महत्वपूर्ण माना जाता है और इसका प्रयोग योग और मेडिटेशन में भी किया जाता है। वास्तुशास्त्र में पीपल के पेड़ को गृह और व्यापारिक स्थानों के लिए महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि इसे सकारात्मक ऊर्जा का स्रोत माना जाता है।

यहां तक कि पीपल के पेड़ को वनस्पति छिद्र योजना (AFORESTATION PLAN) के हिस्से के रूप में भी उपयोग किया जाता है ताकि जलवायु परिवर्तन के खिलाफ लड़ाई में मदद मिल सके।

**• नीमः-**

नीम का आधुनिक प्रयोग विभिन्न क्षेत्रों में किया जा रहा है जिनमे शामिल हैं आयुर्वेदिक चिकित्सा, कृषि और पर्यावरण संरक्षण।

1. **आयुर्वेदिक चिकित्साः-** नीम का उपयोग विभिन्न त्वचा संबंधी समस्याओं, जैसे कि दाद, खाज, खुजली, त्वचा के रोग, और एक्जिमा के इलाज में किया जाता है। नीम के पत्ते, तेल, और छाल का उपयोग इन समस्याओं के लिए किया जाता है।

2. **कृषिः-** नीम का उपयोग कृषि में कीटनाशक और कीटाणुनाशक के रूप में किया जाता है। नीम का विषाणुरोधी गुण और अन्य औषधीय गुणों के कारण, इसे पेड़ों की बीमारियों और कीटों से लड़ने के लिए प्रयोग किया जाता है।

3. **पर्यावरण संरक्षणः-** नीम का पेड़ और उसके उत्पादों का उपयोग पर्यावरण संरक्षण के लिए भी किया जाता है। इसका उपयोग जलवायु परिवर्तन, वन संरक्षण और वन स्थापना कार्यक्रमों में होता है।

**• तुलसीः-**

तुलसी का आधुनिक उपयोग भी विभिन्न क्षेत्रों में किया जाता है, जैसे आयुर्वेदिक चिकित्सा, जैव उपचार, स्वास्थ्य और सौंदर्य, और खाद्य संयंत्र।

1. **आयुर्वेदिक चिकित्साः**- तुलसी का उपयोग विभिन्न रोगों के इलाज में किया जाता है, जैसे कि सर्दी-जुकाम, बुखार, प्रतिरक्षा को बढ़ाने के लिए, और तंतुर्वायुक्त विकारों के लिए।

**2 जैव उपचारः-** तुलसी को जैव उपचार के रूप में भी प्रयोग किया जाता है, जैसे कि कीटाणुनाशक, एंटीफंगल, और ऑर्गेनिक खेती के लिए प्राकृतिक प्रदार्थ के रूप में।

**3. स्वास्थ्य और सौंदर्यः-** तुलसी का उपयोग स्वास्थ्य और सौंदर्य सम्बंधित उत्पादों में भी होता है, जैसे कि त्वचा की देखभाल, बालों का संरक्षण, और मुँह की स्वच्छता के लिए औषधि और उत्पादों में।

**4.खाद्य संयंत्रः-** तुलसी के पत्ते का सेवन कई खाद्य पदार्थों में भी किया जाता है, जैसे कि चाय, पानी, और चटनी में इसका उपयोग किया जाता है। यह उपयोगिता न केवल स्वास्थ्य के लिए होती है, बल्कि इससे अर्क में भी एक विशेष स्वाद मिलता है।

**• पलाशः-**

**"अश्वत्थपलाशम्"** ऋग्वेद में विवाह प्रकरण में इसका उल्लेख मिलता है यह एक ढाक है और इसके फूल लाल होते हैं। पलाश का आधुनिक प्रयोग भी कई क्षेत्रों में किया जा रहा है. जैसे कि औषधीय, कृषि, और जलवायु संरक्षण।

**1. औषधीय उपयोगः-** पलाश का उपयोग आयुर्वेदिक औषधियों में किया जाता है, जैसे कि रक्तशोधक, दर्दनाशक, और श्वासनाशक के रूप में। इसके अलावा, पलाश की बल का उपयोग त्वचा के लिए बेहद लाभकारी होता है।

**2. कृषिः-** पलाश के पेड़ का उपयोग कृषि में भू.मि संरक्षण और अरिक के रूप में किया जाता है। इसकी खेती से कार्बन संयंत्रन

को बढ़ावा मिलता है और मिट्टी की उर्वरता की बनाए रखाने में मदद मिलती है।

**3.जलवायु संरक्षणः**- पलाश के पेड़ों का वृक्षारोपण कार्यक्रमों में भी उपयोग होता है। इन्हें जलवायु परिवर्तन के खिलाफ लड़ाई में शामिल किया जाता है और वन संरक्षण के लिए उपयोगी माना जाता

• **अमृता (गिलोय)**:-

गिलोय एक औषधीय पौधा है जिसका आधुनिक प्रयोग भी कई क्षेत्रों में किया जा रहा है।

**1. आयुर्वेदिक चिकित्साः**- गिलोय का उपयोग आयुर्वेदिक चिकित्सा में विभिन्न रोगों के इलाज के लिए किया जाता है, जैसे कि इम्यूनिटी बढ़ाने, ज्वर, रक्तशोधक, पाचन और संबंधित समस्याओं के लिए।

**2. स्वास्थ्य और फिटनेसः**- गिलोय का उपयोग स्वास्थ्य और फिटनेस संबंधित उत्पादों में भी किया जाता है। जैसे कि सप्लीमेंट्स, चाय, और जूस के रूप में। इसका सेवन इम्यूनिटी को मजबूत करने और शरीर को ऊर्जा प्रदान करने के लिए किया जाता है।

**3. खाद्य संयंत्रः**- गिलोय के पत्ते और द्रव्य का उपयोग विभिन्न खाद्य उत्पादों में भी किया जाता है, जैसे कि चटनी, सूप, और स्वादिष्ट व्यंजनों में।

**4.जैव उपचारः**- गिलोय का उपयोग जैव उपचार में भी किया जाता है, जैसे कि अभयारिष्ट और क्वाथ के रूप में। इससे वायरल

इन्फेक्शन,फंगल इफेक्शन और पेट की समस्याओं का इलाज किया जा सकता है।

• **शहद:-**

**"मधु मधुला मधू:"** अथर्ववेद में उसे मधुजाता, मधुला, मधु कहा जाता है।

शहद (हनी) का आधुनिक प्रयोग भी विभिन्न क्षेत्रों में हो रहा है, जैसे कि स्वास्थ्य, खाद्य, सौंदर्य, और औषधियों में।

**1.स्वास्थ्य संरक्षण:**- शहद का उपयोग स्वास्थ्य संरक्षण में होता है, जैसे कि इम्यूनिटी बढ़ाने, साइनस समस्याओं के इलाज में और त्वचा स्वास्थ्य को बनाए रखने के लिए।

**2.खाद्य:**- शहद को विभिन्न खाद्य उत्पादों में उपयोग किया जाता है, जैसे कि शहद की चाय, शहद वाली मिठाई।

**3.सौंदर्य:**- शहद का उपयोग सौंदर्य संबंधित उत्पादों में भी होता है, जैसे कि शहद का फेस पैक और बॉडी स्क्रब। इसके अलावा, सहद को लिप बाम्बू और बॉडी लोशन में भी शामिल किया जाता है

**4.औषधियां:**- शहद को आयुर्वेदिक चिकित्सा में भी उपयोग किया जाता है, जैसे कि खाँसी और सर्दी के इलाज के लिए शहद और तुलसी का काढ़ा।

• **कालीमिर्च:-**

कालीमिर्च (BLACK PEPPER) का आधुनिक प्रयोग भी

विभिन्न क्षेत्रों में किया जाता है, जैसे कि स्वास्थ्य, खाद्य, और औषधियों में।

**1.स्वास्थ्य संरक्षणः-** काली मिर्च का उपयोग स्वास्थ्य संरक्षण में होता है, जैसे कि पाचन सुधारने, वायरल इंफेक्शन के इलाज में, और श्वासनाली में साफी के लिए।

**2.खाद्यः**- काली मिर्च को विभिन्न खाद्य उत्पादों में उपयोग किया जाता है, जैसे कि सब्जियों, नाश्तों, और व्यजनों में। इसका उपयोग खाद्य में स्वाद बढ़ाने के लिए किया जाता है।

**3.औषधियाँः**- काली मिर्च को आयुर्वेदिक चिकित्सा में भी उपयोग किया जाता है, जैसे कि गठिया और अर्थराइटिस के इलाज में। इसके अलावा, काली मिर्च का तेल मसाज और लोशन में भी उपयोग किया जाता है।

**• सौंफः-**

सौंफ का आधुनिक प्रयोग भी विभिन्न क्षेत्रों में किया जा रहा है. जैसे कि स्वास्थ्य, खाद्य, सौंदर्य, और औषधियों में।

**1.स्वास्थ्य संरक्षणः**- सौंफ का उपयोग स्वास्थ्य संरक्षण में होता है, जैसे कि पाचन सुधारने, गैस की समस्याओं के इलाज में, और श्वासनली में सफाई के लिए।

**2.खाद्यः**- सौंफ को विभिन्न खाद्य उत्पादों में उपयोग किया जाता है, जैसे कि चाय, मिठाई, और अचार मसाला। इसका उपयोग खाद्य में स्वाद और खुशबू बढ़ाने के लिए किया जाता है।

**3.सौंदर्यः-** सौंफ का उपयोग सौंदर्य संबंधित उत्पादों में भी होता है, जैसे कि फेस पैक और बॉडी स्क्रब। इसके अलावा, सौंफ का तेल मसाज और लोशन में भी उपयोग किया जाता है।

**4.औषधियां:** सौंफ को आयुर्वेदिक चिकित्सा में भी उपयोग किया जाता है, जैसे कि अनिद्रा, माईग्रेन, और तंत्रिका रोगों के इलाज में।

**• हल्दी:-**

हल्दी के आधुनिक प्रयोगों में शामिल हो सकते है त्वचा की देखभाल, स्वास्थ्य उत्पादों में उपयोग, खाद्य सामग्री में रंग और स्वाद के लिए। हल्दी के उपयोग का विस्तार आपके आवश्यकताओं और इच्छाओं पर निर्भर करता है। आप इसे अपने भोजन में शामिल करके, त्वचा के लिए फेस पैक या स्क्रब के रूप में उपयोग कर सकते हैं।

**• अजवाइन:-**

अजवाइन के आधुनिक प्रयोगों में शामिल हो सकते हैं खाने में स्वाद और सेहत के लिए उपयोग, उत्पादों में प्राकृतिक उपचार के रूप में शामिल किया जाता है। अजवाइन को दानों के रूप में या पाउडर के रूप में उपयोग किया जा सकता है, जैसे की दाल और सब्जियों में मसाला के रूप में या चाय और काढ़ों में भी उपयोग किया जाता है।

**• जीरा:-**

जीरा के आधुनिक उपयोगों में समाविष्ट है

**1.खाने में स्वाद बढ़ानाः-** जीरा खाने में स्वादिष्टता और गंध बढ़ाता है। यह दाल, सब्जी, राइस, और चाय में उपयोग किया जा सकता है।

**2.सेहत के लाभः-** जीरा सेहत के लिए भी फायदेमंद है। यह पाचन को सुधारता है, गैस और एसिडिटी को कम करता है. और वजन घटाने में मदद कर सकता है।

**3.उत्पादों में उपयोगः-** जीरा कार्यक्रमों, चटनियों, और बिस्किट्व जैसे उत्पादों में भी उपयोग किया जाता है।

**4.प्राकृतिक उपचारः-** जीरा औषधीय गुणों के लिए भी प्रसिद्ध है, और इसका उपयोग आंतरिक और बाहरी रोगों के इलाज में किया जाता है।

आजकल कई आयुर्वेदिक औषधियां वनस्पतियों पर आधारित हैं, जो स्वास्थ्य सेवाओं को सुधारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। वनस्पतियों का उद्योगों में भी व्यापक उपयोग है। उदाहरण के लिए, वनस्पतियों के रसायनिक तत्वों का उपयोग औद्योगिक उत्पादों में किया जाता है, जो उत्पादन प्रक्रिया को सुधारते है। आधुनिक युग में वनस्पतियों के आधुनिक स्वरूप और उनके प्रयोग ने हमें यह दिखाया है कि वनस्पतियों का महत्व न केवल चिकित्सा विज्ञान में है, बल्कि उनका उपयोग खाद्य, उद्योग, और पर्यावरण के कई क्षेत्रों में भी है।

इस प्रकार, वेदों में निर्दिष्ट आयुर्वेदिक वनस्पतियों का उपयोग स्वास्थ्य और उपचार के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है। इन वनस्पतियों का नियमित उपयोग शारीरिक, मानसिक और आत्मिक स्वास्थ्य को सुदृढ़ बनाए रखने में मदद करता है। वनस्पतियों के सही उपयोग से

व्यक्ति अपने जीवन को स्वस्थ और सतुलित बनाए रख सकता है। इस तरह. वनस्पतियों के आयुर्वेदिक उपयोग ने भारतीय समाज के लिए एक महत्वपूर्ण स्वास्थ्य संस्कृति का निर्माण किया है। वनस्पतियों के आयुर्वेदिक उपयोग का महत्व विशेष रूप से भारतीय संस्कृति और आयुर्वेद के समृद्ध इतिहास में दिखाई देता है। वेदों में उल्लेखित वनस्पतियों का उपयोग प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में स्वास्थ्य और उपचार के लिए किया जाता रहा है। इन वनस्पतियों के नियमित उपयोग से विभिन्न रोगों का उपचार किया जा सकता है और स्वास्थ्य को बनाए रखने में मदद मिलती है।

आयुर्वेद में इन वनस्पतियों के उपयोग के पीछे वैज्ञानिक तथ्य होते हैं, जो उनकी प्राकृक्तिक गुणों और उपचारीय गुणों को समझने में मदद करते हैं। यह वनस्पतियों विभिन्न रोगों जैसे कि पाचन संबंधित समस्याएं, ज्वर, गैस्ट्रो-इंटेस्टाइनल समस्याएं, चिकित्सकीय उपचार में सहायक होती हैं। इनका उपयोग संतुलित और स्वस्थ जीवन जीने में भी किया जा सकता है। वनस्पतियों के आयुर्वेदिक उपयोग से न केवल शारीरिक स्वास्थ्य का ध्यान रखा जाता है, बल्कि मानसिक और आत्मिक स्वास्थ्य का भी संरक्षण किया जाता है। इस प्रकार, आयुर्वेदिक वनस्पतियों का उपयोग भारतीय समाज में संतुलित और स्वस्थ जीवन के लिए एक महत्वपूर्ण संसाधन साबित होता है।

**संदर्भ-ग्रन्थ-सूची:-**

1.“सर्वज्ञान्मयो हि सः” मनुस्मृति 2.7

2.आयुर्वेदयति इति आयुर्वेदः” चरकसूत्र 30.23

3.“ऋचः सामानि भेषजा, यजूंषि” अथर्व० 11.6.14

4."यजूंषि च ब्रह्म च" अथर्व० 15.6.8
5."प्राणो वै वनस्पतिः" ऐ० ब्रा० 2.4, 5.23, 7.32
6."तत् ते कृणोमि भेषजम् सुभेषजम्" अथर्व० 3.31.10
7."किंकुकाशोकपद्मभः वहनिः" अ० परि० 21.7.3
8."पिप्पलं स्वाद्वत्ति" ऋग०1.164.20.22
9."मधु मधुला मधूः" अथर्व० 7.58.2
10. वेदों में आयुर्वेद, डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, विश्वभारती अनुसंधान परिषद, ज्ञानपुर भदोही
11. आरोग्य अंक, गीताप्रेस गोरखपुर
11. चरकसंहिता
12. श्रीमद्भागवद्गीता
13. https://pharmeasy.in/blog/ayurveda-uses- benefits-nutritional-value-of-blackpepper-hindi/
14. https://www.webmd.com/vitamins/ai/ingredientmono-311/fennel
15. https://www.medicalnewstoday.com/articles/2646 67
16. https://www.1mg.com/ayurveda/adoosa-84

# वाल्मीकि रामायण में प्रतिबिम्बित रसात्मक स्वरूप: ध्वनि सिद्धान्त के विशिष्ट परिप्रेक्ष्य में

**मंजु कुमारी**

पीएच. डी. शोधच्छात्रा, संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

आदि काव्य रामायण एक समृद्ध एवं प्रमाणिक लक्ष्य ग्रन्थ है। इसी प्रवाह में काव्य शास्त्रीय जगत् में भरत, भामह, दण्डी, वामन एवं यास्क, पाणिनि, पतंजलि और भर्तृहरि का विशिष्ट योगदान व्याकरण विषयक लक्षणों, ग्रन्थों में परिभाषिक एवं उदाहरणों में शब्दों के आक्षेप में ध्वनितत्व प्रतिबिम्बित हुआ है। ध्वनि सिद्धांत का आर्विभाव एवं प्रतिपादन सर्वप्रथम आचार्य आनन्दवर्धन द्वारा विवक्त है।1 जो आध्यात्मिक परम्परा में मानव के सूक्ष्मतमतत्त्व का स्वरूप आनन्दमय कहा गया है। ऐसा वैदिक वाङ्मय में निर्दिष्ट है।

**तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञान मयाद् अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमय[2]**

आनन्द प्रदान करने वाला तत्व अति सूक्ष्म स्वरूप में कहा है। परन्तु ज्ञान परम्परा में 'काव्य' को ही आनन्द प्राप्ति का स्रोत कहा है। काव्य में निहित परम श्रेष्ठ प्रयोजन रसानुभूति आनन्द अतिशय माना गया है। यहां इस संदर्भ में कवि के अन्तःकरण में विद्यमान उद्भित ज्ञान को काव्य कहा है, जो यह ज्ञान वाहक है। उसे दार्शनिक एवं वैयाकरण रूप में औचित्य न मानकर कवि रूप ही ग्राह्य माना है।

**कविर्मनीषी परिभू: स्वयम्भू:[3]**

अतः कवि को काव्य में निहीत आनन्द स्त्रष्टा कहा है। लौकिक रूप से विविध अनुभावों को काव्य में अलौकिक रसात्मक तत्व को आनन्द स्वरूप में परिणत करता है। यह पूर्ण व्यापार कवि की प्रतिभा, प्रज्ञा का अर्विभाव है। अतः कवि का मुख्य कर्म भावावेश हृदय से निःसृत विचित्र अभिव्यक्ति का नाम काव्य रूप से अभिहित किया गया है। वस्तुतः कवि का अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के मध्य लौकिक, मधुर, कटु, सुख दुःखात्मक प्रवृत्तियों सौन्दर्य का आधान स्वरूप है जो आनन्द की अनुभूति करता है। काव्य शास्त्रीयों ने इसी सौन्दर्य को आत्मा के रूप में प्रतिपादित किया है। जैसे शरीर का महत्व आत्मा के अभाव में व्यर्थ है उसी प्रकार काव्य में भी रस आनन्द तत्व विहीन काव्यत्व नहीं रह जाता है।

अतः मानव शरीर में आत्मा से परमश्रेष्ठ तत्व का अलौकिक प्रतीति कराता है। वही रसात्मक स्वरूप काव्यत्व में भी सदैव आनन्ददायक होती है। यहाँ आनन्दायक- आत्मतत्व रस के नाम से अभिहित किया है।

**रसौ वै सः रसं ह्येवाय लब्ध्वाऽऽन्दी भवति**[4]

संस्कृत काव्य जगत् में काव्यतत्व की प्रतिपुष्टि हेतु विभिन्न संप्रदाय रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति औचित्य आदि विविध विवेचनाओं सहित परम्पराओं का प्रतिपादन किया है। जिनमें कुछ तो काव्य के बाह्य तत्व को आत्मतत्व मानने के पक्ष में है। परन्तु यह तो आन्तरिक तत्व में ही सदैव रहता है। रस सम्प्रदाय के आद्य प्रवर्तक आचार्य भरत मुनि ने रस की सत्ता को स्वीकारते हुए कहा भी है-

**न ही रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवृतते।**[5]

रस के बिना काव्य तत्व विलुप्त रहता है। अग्नि पुराणकार ने भी प्राण तत्व रस को ही प्रतिपादित किया है-

**वाग्वैदग्ध्य प्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितमु।**[6]

आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य की आत्मतत्व ध्वनि को ही प्रतिष्ठित किया है। काव्यस्यात्मा ध्वनिः (ध्वन्यालोक 1.1) ध्वनिकार ने ध्वनि की परिभाषा निम्न प्रकार से कही है।

**यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुप सर्जनीयकृतस्वार्थो।**

**व्यङक्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सुरभिकथितः।।**[7]

जहां अर्थ स्वयं को तथा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके इस प्रतीयमान नार्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। उस विशेष काव्य को विद्वान लोग ध्वनि कहते हैं।

'ध्वन्यालोक में आनन्द वर्धन ने काव्य में आन्तरिक दृष्टि से काव्य तत्व की उद्घोषणा की है। बाह्यपक्ष तो सदैव दोषयुक्त माना है। इसी संदर्भ में आदि कवि की यह आन्तरिक स्थिति को बड़ी सचेष्टता से प्रतिपादित किया है।

**काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।**

**क्रौचीद्वन्द्वियोगोरथः शोकः श्लोकत्वमागताः।।**[8]

कवि की करुणामयी वाणी को राम के जीवन चरित ही नहीं अपितु रसात्मक भाव से अनन्त आनन्द अनुभूति को काव्य का परम तत्व लक्षित किया है।

**शोक की श्लोक रूप में अवधारणा:-**

वाल्मीकि ने रामायण में शोक की अवस्था में अनायास ही नैसर्गिक रूप में वाणी उत्कण्ठित होती है। अतः यहां कवि की यह आन्तरिक स्थिति में स्वतः कि शकुनि मेरे द्वारा यह क्या कहा गया।

**शाकार्तेनास्य शकुनेः किमिदं व्याहतं मया।**[9]

अतः शोक की अवस्था में चितवृत्ति से निकली वाणी श्लोक के रूप में लक्षित किया है। जो मन में निहित भावों को स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं किया जा सकता। ऐसी ही कुछ स्थिति को करुण रस में परिणत कर कहा गया है।

**मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम्ः शाश्वती शमाः।**

**यत्क्रौञ्चमिथुना देकमवधीः काममोहितम्।।**[10]

महर्षि वाल्मीकि ने क्रौञ्चपक्षी क्रीड़ा व्यवस्था के समय एक पक्षी का वध होने से उनके अन्तःकरण से व्यथापूर्ण, विचलित करने वाली चितवृति सम्पूर्ण वातावरण शोकमग्न कर देती है। इस श्लोक में व्यवृहत अन्तःकरण की आवृति को श्लोक रूप में परिणत करुण रस का परिपाक उद्धृत होता है।

इष्ट का नाश होने एवं अनिष्ट की प्राप्ति को यहां करुण रस के रूप में प्रतिपादित किया है।[11]

क्रौञ्च पक्षी के वध का शोक, व्यथित क्रौंची के लिए शोक को करुण रस के स्थायी भाव के रूप में व्यवृहत किया है। बन्धु का वियोग विनिष्ट रूप में आलम्बन विभाव है। अतः क्रौञ्चीगत पक्षी का क्रन्दन, कर्म उद्दीपन भाव है। भाग्य की प्रतिकूलता, भूमि पर गिरना

छटपटाना ये सब रस के अनुभाव में परिणत है। निर्वेद, मोह, ग्लानि, उन्माद, चिन्ता को रूप संचारी भाव कहा है।12 अतः वाल्मीकि कृत रामायण में मुख्यतः करुण रस ध्वनि का प्रयोग मुख्य रूप से हुआ है। यहाँ कवि की अलौकिक प्रतिभा का परिचायक कहा गया है।

येतु रामस्य सुहृदयः सर्वे ते मुढचेतसः।

शोकभारेण चाक्रान्ताः शयनं न जहुस्तदा।।13

राम के वनवास प्रस्थान के समय मित्र अत्यधिक शोक से आतुर हो गए। परन्तु उनकी मूर्छा दूर होने का नाम नहीं ले रही थी। उस अवस्था में कवि ने उस व्याकुलता को अति मार्मिक अभिव्यक्ति से प्रतिपादित किया है। अतः यहां करुण रस ध्वनि एवं तत्वों सहित परिपाक हुआ है।

कौसल्या च सुमित्रा च दृष्टवा च पार्थिवम्।

हा नायेति परिक्रुश्य पेततुर्धरणीतले।।

सा कौसलेन्द्रदुहिता वेष्टमाना महीतले।

न बभ्राज रजोध्वस्ता तारेव गगन च्युता।।14

पुत्र वियोग में राजा दशरथ प्राण त्याग देते हैं। जिससे सुमित्रा एवं कौसल्या अत्यधिक विलाप करती हुई निष्प्राण सी भूमि पर गिर पड़ती हैं। ऐसा प्रतीत होता की आकाश से कोई तारा टूट कर गिर पड़ता है।

राजा का मृत होना आलम्बन, कौसल्या आदि का विलाप

अनुभाव है। अतः सभी तत्वों का उत्पन्न शोक स्थायी भाव सहित करुण रस की अभिव्यक्ति कराता है।

तेलद्रोण्यां तु सचिवैः शायितं तं नराधिपम्।

हा मृतोऽयमिति ज्ञात्वा स्त्रियस्ताः पर्यदेवयन्।।

बाहूनुद्यम्य कृपणा नेत्र प्रस्त्रवणैर्मुखैः।

रूदन्त्यः शोकसन्तप्ता कृपणं पर्यदेवयन्।।

बाप्पपर्याकलजना हाहा भूतकलाऽना।।15

राजा दशरथ की मृत्यु सम्पूर्ण नगरी में शोक की लहर से व्याप्त थी। राजा का मृत शरीर तेल की द्रोणी रख दिया जाता है। अतः यहां बड़ी ही विषादपूर्ण स्थिति से मन आक्रन्द करने लगता है। जिससे स्त्रियों का विलाप अति हृदय विदारक घटना का परिपोषण हुआ है। अतः यहां कवि ने विशद् दृष्टि से शोक का स्थायी भाव सहित करुण रस की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।

तां श्रुत्वा करुणां वाचं पितुर्मरणसंहिताम्।

राघवो भरतेनोक्तां बभूव गतचेतनः।।

वाग्वज्रां भरतेनोक्तममनोज्ञं परन्तपः।

प्रगृहा बाह रामो वै पुष्पिताग्रो यथा द्रुमः।

वने परशुना कृतस्तथा भूवि पपात।।16

चित्रकूट पर राम लक्ष्मण सहित भरत के मुख से पिता की मृत्यु का शोक समाचार जानकर राम पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं जैसे कुल्हाड़ी से कटा हुआ पुष्पिताग्र गिर जाता है। यहां कवि ने बड़ी कुशलता से

उस दयनीय अवस्था का प्रतिस्थापन किया है कि दुःखद समाचार सुनने से पूर्व राम अत्यधिक प्रश्न अवस्था में था। यहां वृक्ष की अग्र भाग का पुष्पों के भार से लदा होना यही स्थिति को उत्पन्न करता है। यहां राम की करुण अवस्था का प्रतिपादन बडी ही कष्टजन्य, दुख विदारक है। अतः शोक सहित करुण रस का परिपाक भाव है।

**श्रृंगार रसध्वनि**

साहित्य जगत् में श्रृंगार रस की अभिव्यक्ति स्वाभाविक रूप से अति अवश्यक हो जाती है। जहां महाकाव्य में नायक-नायिका छवि को रसमयी ध्वनि में उच्चरित हो। श्रृंगार रस का स्थायीभाव रति विषयक आस्वाद्यमान हो। अतः यह 1 संयोग एवं 2 विप्रलम्भ नामक दो प्रकार से व्यक्त है।

तंत्र श्रृंगारस्य दो भेदौ संभोगो विप्रलम्भश्च ।17

तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च ।18

रामश्च सीतया सार्धं विजहार बहूनृतून।

मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः।।19

यहां इस श्लोक के माध्यम से आदि कवि ने श्रृंगार रस की सुन्दर छटा का बड़ा ही अलौकिक वर्णन किया है। राम के हृदय में सीता का मन सदैव रमण करता है। वहीं अनुभूति राम की सीता के प्रति लक्षित किया है। अतः यहां मनोहर ऋतु परिवर्तन में प्रेम-प्रसंग की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। श्रृंगार रस की अनूठी पहल कवि ने काव्यत्मक भाषा के रूप में अभिवञ्चित किया है।

प्रियातु सीता रामस्य द्वाराः पितृकृता इति।

गुणाद्रूपगुणाच्चापि प्रीतिर्भूयोऽभिवर्धते।।

तस्याश्च भर्ता द्विगुणं ध्दये परिवर्तते।

अन्तर्गतमपि व्यक्तमाख्यति हृदयं हृदा।।

तस्य भूयो विशेषेण मैथिली जनकात्मजा।

देवताभिः समा रूपे सीता श्रीरीव रूपिणी।।20

इन पंक्तियों के माध्यम से युग दृष्टा कवि ने राम व सीता को आलम्बन विभाव, रति स्थायी भाव, सीता के प्रेम-आकर्षण आदि का वातावरण उद्दीपन विभाव। अनुभाव एवं व्याभिचारी भावों सहित श्रृंगार रस की अभिव्यक्ति को अलौकिक छटा का भाव, काव्यमयी भाषा का प्रयोग विलक्षण प्रतिभा का परिचायक है।

राम सीता को पत्नि रूप में पाकर अत्यधिक प्रेम का आक्षेप लक्षित है। वहीं सीता के पतिव्रता धर्म के अनन्तर यह रति क्रीड़ा अधिक तीव्र हो जाती है।

तया स राजर्षि सुतोऽभिकामया।

समेयिवानुत्तमराज कन्यया।।

अतिव रामः शुशुभे मुदान्वितो।

विभुः श्रिया विष्णुरिवामरेश्वरः।।21

राम व सीता का अनन्य प्रेम, अत्यन्त सात्विक है। यह विष्णु एवं लक्ष्मी की भाँति प्रेम सहित मान-सम्मान की प्राप्ति होती है। अतः यहां कवि ने सभी तत्वों सहित श्रृंगार रस की निष्पत्ति की है।

श्रृंगार रस की प्रतिती एन्द्रिय संयोग की अपेक्षा नहीं रखता अपितु नायक एवं नायिका का भ्रमण, परस्पर दर्शन, संगीत श्रवण, वन विहार, आभूषणादि धारण आदि को सम्मलित रूप से श्रृंगार रस के अन्तर्गत निर्दिष्ट किया है।

तत्र सम्भोगस्तावत् दादतु माल्यानुलेपनाल।22

अथ दाशरथिश्चित्रं चित्रकूटम दर्शयत्।

भार्याममरसंकाशः शचीमिव पुरन्दरः।।23

चित्रकूट की रमणीयता सीता को दिखाते हैं। जिससे वहां सुन्दरता एवम् अलौकिक सुषमा में खोए हुए राजवैभव व सुहृदय वर्ग को भी स्मरण नहीं कर पाते।

अतः वहां राम-सीता के क्रिड़ा, हंसना, विहार आनन्दित रमणीय वातावरण में श्रृंगार रस की सुन्दर अभिव्यक्ति अपने सभी तत्वों सहित हुई है।

**विप्रलम्भ श्रृंगार**

यह श्रृंगार नायक-नायिका का अनुराग तो प्रकट करता है। अपितु परस्पर मिलन का अभाव होता है। अतः विप्रलम्भ श्रृंगार को चार प्रकार से विभक्त किया है।

1. पूर्व राग विप्रलम्भ
2. मानकृत विप्रलम्भ
3. शाप हेतु क
4. सम्भावित प्रवास

यहां वाल्मीकि ने इस महाकाव्य में सभी भेदों का उल्लेख विशद प्रकार से किया है।

यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ।

स च पूर्व रागमान प्रवास करुणात्मकश्चतुर्धा स्यात्।।

साहित्यदर्पण- 3.187

**मानकृत विप्रलम्भ श्रृंगार**

तथा प्रोत्साहिता देवी गत्वा मन्थरया सह।

क्रोधागारं विशालाक्षी सौभाग्यमदगर्विता।।

अनेक शतसाहस्रं मुक्ताहारं वराङ्गना।

अवमुच्य वराहाणि शुभान्याभरणानि।।24

कैकेयी अत्यधिक क्रोधावेश में मोतियों के हार को तोडती हुई, तीव्र गति से कोप भवन में भूमि पर गिर पड़ती है।

यहां कैकेयी व दशरथ के परस्पर मिलन में बाधा राजा के पूर्व विचार है। जो कैकेयी के हृदय को आहत करती है। 'सौभाग्यमद गर्विता' यहां कवि की चारुत्वपूर्ण विधि में मान को ध्वनित किया है। यह मन्थरा के प्रोत्साहन से यह स्थिति उत्पन्न है।

प्रस्थितं दण्डकारण्यं या मामनुजगाम ह।

क्व सा लक्ष्मण वैदेही यां हित्वा त्वमिहागतः।।25

**हास्यरस ध्वनि**

महर्षि वाल्मीकि द्वारा विरचित रामायण भले ही आध्यात्मिक

आदि एवं गाम्भीर्य दृष्टि का उल्लेख किया है। परन्तु यहां यत्र का हास्यरस ध्वनि का भी व्यापक प्रयोग हुआ है। जिसमें अनेक प्रकृति एवं अनेक प्रसंग में हास्यरस व्यक्त है।

ततः प्रहस्तं नियन्तिं दृष्ट्वा भीमपराक्रमम्।

उवाच सस्मितं रामो विभीषणमरिंदमः।।26

रावण के विशालकाय सेनानायक प्रहस्त को देखकर राम का मंद-मंद मुस्कराना। यहां राम की हस्त मुद्रा में हास्यरस ध्वनि को अलौकिक रूप से ध्वनित किया है।

**वीररस ध्वनि**

महाकाव्य के उत्तम पात्र में वीररस सदैव आश्रित रहता है। वीर रस में उत्साह स्थायी रहता है।

विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रिय दर्शनः।

कालाग्नि सदृशः क्रोधे क्षमया पृथ्वीसमः।।

धनदेन समस्तयागे सत्य धर्म इवापरः।

तमेवं गुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम्।।27

यहाँ इस श्लोक के माध्यम से राम को विष्णु की भांति वीर पराक्रमी कहा है। अतः यहा कवि द्वारा वीररस ध्वनित हुआ है।

गो ब्राह्मणहितार्थाय देशस्यास्य सुखाय च।

तव चैणप्रमेयस्य वचनं कर्तृ मुद्यतः।।

एवमुक्त्वा धनुर्मध्ये बद्धा मुष्टिमन्दिमः।

ज्याशब्दमकरोती दिशः शब्देन पूरयन।।

तामापतन्ती वेगेन विक्रान्तामशनीमिव।

शरेणोरसि विव्याध सा पपात ममार च।।28

यहां इस श्लोक में युगद्दष्टा कवि ने युद्धवीर नामक रस ध्वनि का निरूपण विशद् रूप से किया है। इसका उदाहरण रामायण के ताडका वध में, गौ, ब्राह्मण, यज्ञ रक्षार्थ की भावना से यह रस सभी तत्वों सहित परिपाक हुआ है। अतः वीर रस विषयक समस्त सामग्री सहित उज्ज्वल प्रतीति हुई है।

**निष्कर्षः-**

युगद्दष्टा वाल्मीकि एक सिद्धहस्त कवि माने गए हैं। जो रामायण में विविध प्रसंग को उद्धृत कर परवृत्ति कवियों को काव्य क्षेत्र में आश्रय दिया है। रामायण में केवल राम का लौकिक एवम् अलौकिक स्वरूप ही निरूपित नहीं है अपितु यह की काव्य जगत् अपूर्व पृष्ठभूमि का परायण भी करते हैं।

काव्य में ध्वनितः आहाय अतिशय आनन्दायक कहा है, जो पाठक एवम् श्रोता को अनन्य आनन्द की अनुभूति कराता है। अतः रस ध्वनि से काव्य का काव्यत्व जानना स्वाभाविक होता है।

**संदर्भ-ग्रन्थ-सूची:-**

1. डॉ० टी० एस० नन्दी, दी आरिजीन एण्ड डवलपमेंट ऑफ दा थ्योरी आफ रस एण्ड ध्वनि इन संस्कृत पोयटिक्स, गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदाबाद, 1973

(ख) डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित, रससिद्धान्त-स्वरूप विश्लेषण, 21

2. तैतरिय उपनिषद्- 2.5

3. यजुर्वेद- 40.8
4. तैतरिय उपनिषद- 2.7.1
5. नाट्य शास्त्र - 6.31 (वृत्ति)
6. अग्नि पुराण- 33.7.33
7. ध्वन्यालोक- 1.13
8. ध्वन्यालोक- 1.5
9. वाल्मीकि रामायण- 1.2.15
10. वा० रा०- 1.2.14
11. साहित्य दर्पण- 3.177
12. इष्ट नाशादनिष्टापतेः करुणाख्यो रसो भवेत्। साहित्य दर्पण- 3.222.25
13. वाल्मीकि रामायण 2.36.16
14. वा०रा० 2.59.10-11
15. वा०रा० 2.60.14.15-17
16. वा०रा० 2.95.8-9
17. काव्य प्रकाश- 4.29 वृत्ति
18. नाट्यशास्त्र, अध्याय- 6, पृ० 303
19. वा०रा०- 1.77.25, पृ० 219
20. वा०रा०- 1.77.26-29, पृ० 219-220
21. वा० रा०- 1.77.29
22. नाट्य शास्त्र, अध्याय-6, पृ० 303
23. वा० रा०- 2.88.2-3
24. वा० रा० 2.10.55-56
25. वा० रा० 3.58.2, पृ० 695
26. वा० रा० 6.58.1 (गी० प्रै०)
27. वा० रा० 1.1.17-18
28. वा०रा० 1.25.5-6-14

# उपनिषदां भाषा संस्कृतिः च

---

**ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।**

**पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।**

(ईशावास्योपनिषद्)

भारतीयसंस्कृतिः विश्वे प्राचीनतमा विशिष्टा च। भारतीयसंस्कृतेः नैकानि वैशिष्ट्यानि सन्ति। अद्वितीया खलु भारतीयसंस्कृतिः। संस्कृतेः मूलं भाषायां वर्तते। भाषया एव राष्ट्रस्य इतिहासः संस्कृतिः च ज्ञायते। संस्कृतभाषा एव भारतस्य प्राचीनतमा भाषा अतः एव भारतस्य इतिहासः संस्कृतिः च संस्कृतभाषया ज्ञायते।संस्कृतं संस्कृतेः मूलम्। बहु विस्तृतम् संस्कृतसाहित्यम्। तर्हि भारतीयसंस्कृतेः मूलं वेदेषु अस्ति। वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। वेदानाम् अन्तिमः पर्वः उपनिषदः सन्ति। वेदानां सारार्थः उपनिषत्सु उक्तः अतः ताः 'वेदान्तः' इति कथ्यते। भारतीयसंस्कृतिः उपनिषत्सु प्रतीबिम्बिता खलु। कानिचित् उदाहरणनि अधः उद्धृतानि।

**एकात्मता- वसुधैव कुटुम्बकम् एषा सङ्कल्पना उपनिषदि प्रतिपादिता** सर्वासु उपनिषत्सु प्रायः एतद् वर्णितं यत् परब्रह्म एकमेव सर्वचराचरसृष्टेः कारणम्। न केवलं सर्वे जनाः अपि तु प्राणिमात्राणि एकस्य परब्रह्मणः अंशाः। अतः पृथ्वीतले तिष्ठन्तः सर्वे बान्धवाः।ईशावास्योपनिषदि उक्तम्–

**यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।। ( ईशावास्योनिषद् ६)**

यः सर्वेषु प्राणिषु परमात्मनः साक्षात्कारं करोति सः कस्यापि जुगुप्सां कर्तुं न शक्नोति।

**यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।। ( ईशावास्योनिषद् ७)**

यः परब्रह्म जानाति सः सर्वेषु भूतेषु परमात्मनम् एव पश्यति अतः एकत्वभावनया तत्र मोहः शोकं च न दृश्यते। भारतीयसंस्कृतेः एतद् महत् तत्वं यत् पृथ्वीतले तिष्ठन्तः सर्वे बान्धवाः। अतः कस्यापि अहितं न चिन्तनीयम्

अतः भारतीयानां प्रार्थना अस्ति।

**सर्वे सुखिनः सन्तु ,सर्वे सन्तु निरामयाः।सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित दुःखभाग् भवेत्।**

विश्वबन्धुत्वस्य संकल्पना भारतीयसंस्कृतेः परमं वैशिष्टम् उपनिषत्सु नैकवारं वर्णितम्।

**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।**

**कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।।(श्वेताश्वतरोपनिषद् अ. ६ /११ )**

सर्वभूतेषु एकः एव अन्तरात्मा एतादृशः वर्णनं श्वेताश्वतरोपनिषदि अपि अस्ति।सर्वेषां प्रति सौहार्दता भवेत् एषा भारतीयसंस्कृतिः।

**सत्यस्य महत्त्वम्–** भारतीयसंस्कृत्यां सत्यस्य महत्वं सर्वदा प्रतिपादितम्। तस्य उगमः प्रायः उपनिषत्सु दृश्यते।

सत्यस्य पालनं परब्रह्मणः प्राप्तेः साधनम् इति मुण्डकोपनिषदि उक्तम्–

**सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।**

**अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।।(मुण्डकोपनिषद् ३/१/५ )**

**सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।**

**येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्।।(मुण्डकोपनिषद् ३/१/६)**

सत्यस्य पालनं सर्वथा करणीयम्। यतः सत्यम् एव विजयते न अनृतम्। सत्यस्य पालनेन एव परमनिधानस्य प्राप्तिः भवति। सर्वे जनाः यदि सत्यस्य पालनं कुर्वन्ति तर्हि समाजे कलहाः न्युनाः भवन्ति।

**कर्तव्यपरायणता –सत्यस्य धर्मस्य च पालनम् – सत्यं वद। धर्मं चर। सत्यान्न प्रमादितव्यम्। धर्मान्न प्रमादितव्यम्। (तैतरीयोपनिषद् अनु.११)**

सत्यपालनस्य संदेशः उपनिषद् करोति। धर्मस्य नाम कतर्व्यपालनस्य कृते प्रोत्साहितं करोति।

**स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। कुशलान्न प्रमादितव्यम्। भूत्यै न प्रमादितव्यम्।**

**देवपितृकार्याभ्यां न प्रमादितव्यम्। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। (तैतरीयोपनिषद् अनु.११)**

उपनिषद् कर्तव्यपालनार्थं प्रोत्साहनं ददाति। विद्यार्थिभिः विद्यार्जनं करणीयम्। अनन्तरं गृहस्थधर्मस्य पालनं कृत्वा शुभकार्याणि करणीयानि। देवपितृकार्येषु स्वकर्तव्यं पालनं करणीयम्। निदोषकर्माणि करणीयानि। दोषयुक्तानि कर्माणि सर्वथा त्याज्यानि।एतादृशैः आचरणैः समाजव्यवस्था सुचारुः भवेत्।

**सम्मान प्रकटनम् –** ये अस्माकं कृते पूजनीयाः तेषां प्रति सम्मान प्रकटनम् अस्माकं दायित्वं खलु।एषा भारतीयानां संस्कृतिः। उपनिषत्सु वर्णितम्-

**मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। (तैतरीयोपनिषद् अनु.११)**

ये वयोवृद्धाः, ज्ञानवृद्धाः गुरवः, अतिथयः, मातुः पितुः च एतेषां सम्मानः करणीयः एषा भारतीयसंस्कृतिः। एतस्य वर्णनमपि उपनिषत्सु वर्तते। आचार्याः ऋषयः ये अस्मान् परमज्ञानस्य समिपं नयन्ति तेषां प्रति कृतज्ञता प्रकटीकृता प्रश्नोपनिषदि। **ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नःपिता योऽस्माकमविद्यायाःपरं पारं तारयसीति नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः। (प्रश्नोपनिषद् ६/८)**

अतिथेः सत्कारः करणीय नोचेत् पापकर्म तत्। यदा नचिकेता यमराजस्य गृहं गच्छति तस्य प्रतिक्षां करोति तदा एतद् वर्णनं तत्र - **वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्। तस्यैताशाँन्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्।।( कठोपनिषद् १/१/७)**

**आशाप्रतीक्षे संगतँ सूनृतां च इष्टापुर्ते पुत्रपशूँश्च सर्वान्। एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यास्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे।।( कठोपनिषद् १/१/८)**

नचिकेता यमराजस्य गृहे तिस्रः रात्रीः अनशनं वसति तस्मात् पापात् निवर्त्यर्थं यमराजः तस्मै त्रीन् वरान् ददाति। तात्पर्यम् अतिथिसत्कारः आवश्यकम्। एषा भारतीयपरम्परा उपनिषदि वर्णिता।

**हृदयस्थस्य ईश्वरस्य वर्णनम्– न संदृशे तिष्ठति रुपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।**

**हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरामृतास्ते भवन्ति।।(श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/२०)**

प्रायः सर्वे भारतीयज्ञानिनः उपासकाः एतद् प्रतिपादितवन्तः यत् यदि नैकाः मूर्तयः,नैकानि मन्दिराणि तर्हि हृदिस्थम् ईश्वरं ये जानन्ति ते एव अमृतत्वं प्राप्नुवन्ति।

**सकारात्मकता**- नैकासु उपनिषत्सु एषः शान्तिमन्त्रः प्रार्थना रूपेण पठ्यते– **ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।**

अत्र उक्तं यत् कर्णेभिः कल्याणकारकं श्रुणवन्तु। कल्याणकारकं पश्यन्तु तेषां शरीराणि सुदृढानि भवन्तु। अत्र प्रायः सकारात्मकतया आचरणं भवेत् एषा संकल्पना स्थापिता तस्याः उगमस्थानम् उपनिषदि दृश्यते।

**विनम्रता– ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।** अस्मिन् शान्तिपाठे आचार्यः शिष्यः च प्रार्थनां कुर्वतः। अत्र आचार्यस्य विनम्रता दृश्यते।पाठने आचार्यस्य अहं सर्व जानामि एषः भावः न अपि आवां मिलित्वा पठावः एषः विचारः दर्शितः।

एवं भारतीयसंस्कृते; मूलम् उपनिषत्सु अस्ति।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

# भारतीय दर्शन से अनुप्राणित सन्त साहित्य की वर्तमान समय में प्रासंगिकता

**डॉ० अंशुल दुबे**
असि० प्रोफेसर संस्कृत विभाग
तिलक महाविद्यालय, औरैया

शोधालेख सार:-

**धर्मं यो बाधते धर्मः, न स धर्मः, कुधर्म तत्,**
**अविरोधी तु यो धर्मः, स धर्मः सत्यविक्रमः।**

**दृष्यते हि अनेन इति दर्शनम्** इस व्युत्पत्ति के अनुसार भारतीय दर्शन का परम लक्ष्य जीव, जगत, आत्मा, मोक्ष, परमसत्ता, परम सत्य की खोज करना है। जबकि भारतीय संत साहित्य सत्य को भगवत स्वरूप मानता है एवं सत, चित आनंद स्वरूप की प्रतिपुष्टि में सांच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप को प्रमाणित वाक्य के रूप में स्वीकार करता है। भारतीय वाङ्मय में दर्शन और साहित्य एक ही ज्ञान सरिता के दो पुलिन हैं। साहित्य भी तो ज्ञान राशि का ही संचित कोष है। दार्शनिक कवि मनीषी, परिभू और स्वयम्भू भी कहे गये हैं। मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक इन दर्शनों की चिन्तनधारा से काव्य, विशेष रूप से सन्त साहित्य प्रभावित है। पूजा, कर्मकाण्ड, भक्ति, उपासना, ध्यान-योग और खण्डन-मण्डन आदि की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर ही सन्त साहित्य पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ है। जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य अद्वैत वेदान्तियों में सर्वाधिक सम्मानित एवं लोकप्रिय है। उन्होंने भी श्रीराम, कृष्ण, शिव एवं दुर्गा आदि देवगण पर बड़ी ही भक्ति परक और गीतिमय

स्तुतियाँ रहीं। आने वाले समय में भक्तगण और सन्त कवि उनसे पर्याप्त प्रभावित हुये। सूर, तुलसी एवं कबीर आदि के निर्गुण, सगुण, द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैताद्वैत परक भक्तिपूर्ण रचनाओं और रहस्यवाद को भी इस परम्परा से प्रेरणा मिली। वर्तमान भौतिकतावादी युग में जो व्यक्ति बनाम मानवतावाद का द्वन्द्व है वह और अधिक प्रबल होता जा रहा है परिवार संस्था का अवनयन, बढ़ते जातीय तथा धार्मिक संघर्ष हमें एक बार पुनः भारतीय दर्शन से अनुप्राणित संत साहित्य कि ओर चिंतन करने के लिए बाध्य करते हैं।

भारतीय आस्तिक दर्शन का मूल वेद माना जाता है इन दर्शनों में वेद को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है साथ ही वेद, वेदांग एवं उपनिषद् में दार्शनिक विचारधारा प्रमुख रूप से पुष्पित एवं पल्लवित हुई है। दर्शन जो वस्तुतः कर्म मार्गी की जगह ज्ञानमार्गी अधिक दिखाई देता है वेदांत और उपनिषद के विशेष संदर्भ में इसकी प्रतिपुष्टि भी होती है। लेकिन वैदिक दर्शन के बाद में आर्ष कवि महर्षि वाल्मीकि महर्षि वेदव्यास इनके द्वारा रचित वाल्मीकि रामायण और महाभारत में भी जीवन के लिए आवश्यक दार्शनिक चिंतन का सूत्रपात किया गया है, जो आज भी विविध भारतीय संतों द्वारा स्वीकार करके अपने संत साहित्य में उनका प्रमुख रूप से स्थान दिया गया है। यदि हम कुछ प्रमुख तत्वों की बात करें तो परवर्ती काव्य के माध्यम से समाज के चिन्तन-मनन में एकता और समानता की भावना का संचार करने में दर्शन, विशेष रूप से वेदान्त दर्शन की बड़ी भूमिका है। श्रीमद्भगवद्गीता में समता मूलक दर्शन के अनेक प्रामाणिक उदाहरण प्राप्त होते हैं। यही नहीं सत्य,

अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और अस्तेय आदि पंचरत्न इसी दर्शनिक परम्परा से निकलकर भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर तथा महात्मा गान्धी जी तक जाते हैं। मनुष्य के जन्म की नहीं बल्कि कर्म की महत्ता हमारी संस्कृति में है। भारतीय समाज में एक प्रमुख स्थान बना चुकी जातीय परंपरा की उच्चता और निम्नता के विषय में गोस्वामी तुलसीदास एवं संत कबीर आदि संतों ने इसका बहुत ही प्रामाणिक रूप में खंडन किया किंतु दुर्भाग्य की बात है कि ऐसे सत साहित्य के प्रचार प्रसार का अभाव कहें या अवहेलना कि दार्शनिक तत्त्व आज भी सिद्धांत से निकल कर व्यवहार में प्राप्त नहीं होते हैं। इस शोध आलेख में इन्हीं विभिन्न संत साहित्य में उपलब्ध सद्विचारों एवं सिद्धांतों का विश्लेषण वर्तमान समाज की उपयोगिता के संदर्भ में करने का का प्रयास किया गया है।

**महत्त्वपूर्ण शब्दावली:–** दर्शन, वेद, विवेकख्याति, रहस्यवाद, सत्यमेव जयते , ऋतम्भरा, सत्यं शिवं सुन्दरम्

भारतीय ज्ञान परंपरा की कल्पना, बिना वेद, रामायण, महाभारत, गीता एवं दर्शन शास्त्र के नहीं की जा सकती। देश का प्राचीन और सार्थक नाम भारतवर्ष भी है। क्योंकि यह ज्ञान-विज्ञान की वर्षा भी पूरे विश्व में करता है। हमारा देश वस्तुतः जगद्गुरु है। ईश्वर, जीव, जगत्, बन्धन, मोक्ष, जीवन्मुक्ति, माया और ब्रह्म आदि तत्त्वों की व्याख्या करने वाले शास्त्र को दर्शन या दर्शनशास्त्र कहते हैं। इसे उक्त विषयों का अन्तर्दशन भी कहते हैं। वस्तुतः कवि, मनीषी और ऋषि ईश्वरत्व को भी प्राप्त हो जाते हैं। रामकथाकार भगवान् शिव और गीताकार भगवान् श्रीकृष्ण भी कवि हैं। वस्तुतः कवि, सन्त और ऋषि भी प्रायः एक ही हैं, इनमें कोई विशेष अन्तर

नहीं है। चिन्तन, मनन और आत्मदर्शन के पश्चात् काव्य सृजन वस्तुतः दार्शनिक पृष्ठभूमि पर ही होता है। इसलिये कवि और दार्शनिक में कोई विशेष अन्तर नहीं है। कहा गया है- कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः।

सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति पुरुष के ज्ञान से उत्पन्न विवेक ख्याति को दुःख के स्थायी रूप से सम्पूर्ण विनाश के लिये सक्षम माना गया। वेदों से प्रेरित षड्दर्शन-मीमांसा-वेदान्त, सांख्य-योग और न्याय-वैशेषिक आदि प्रसिद्ध है। महर्षि जैमिनि, महर्षि व्यास, जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य, महर्षि पतंजलि, महर्षि कपिल, महर्षि गौतम और महर्षि कणाद आदि के सूत्रों एवं व्याख्याओं का प्रभाव प्रमुख संत कवि गण, कबीर, तुलसी, सूर, रहीम और मीरा बाई आदि के साहित्य पर देख सकते है। भक्ति, पूजा, कर्मकाण्ड, अर्चना, उपासना, ध्यान, योग और खण्डन-मण्डन आदि में उक्त दर्शनाचार्यों से सन्त कवि गण ने प्रेरणा ली है।

भारतीय ज्ञान परंपरा गंगा के दो तट इन्हीं ज्ञानियों एवं कवियों के है। ज्ञान गंगा रूपी सरस्वती नदी के एक तट पर अमृत जैसा काव्य रस है, तो दूसरे तट पर नीम के रस का प्रवाह है। स्पष्ट है कि केवल ज्ञान कुछ कठोर या कसैला (कड़वा भी) हो सकता है, किन्तु वह भी औषधि के समान स्वास्थ्य लाभ ही देता है

**कवित्वपाण्डित्यतटगयेन सरस्वती सिन्धुरिव प्रवृत्ता।**
**एकत्र पीयूषमयो रस स्याद् अन्यत्र निम्बात्मकमस्ति वारि।।**

भगवान् जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य जी का पर्याप्त प्रभाव सूर, तुलसी एवं कबीर पर दिखायी देता है। यद्यपि वे अद्वैत वेदान्ती है, तथापि उन्होंने राम, कृष्ण, शिव एवं दुर्गा आदि देवगण पर बडी

भक्ति भावना परक स्तुतियों की रचना की, जिससे सन्तकवियों ने उनसे प्रेरणा ली। इस प्रसंग में वे वस्तुतः सर्वाधिक अनुकरणीय हैं –

**श्रुतिस्मृतिपुराणानामालय करुणालयम्।**
**नमामि भगवत्पादं शङ्करं लोकशङ्करम्।।**
**श्लोकार्थेन, प्रवक्ष्यामि यद्भणितं ग्रन्थकोटिभिः।**
**ब्रहमसत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।।**

आदि शंकराचार्य वेद, स्मृति एवं पुराणों तथा करुणा के आगार हैं। वे लोक कल्याणकर्त्ता हैं। जो करोड़ों ग्रन्थों में नहीं कहा जा सका, वह सिद्धांत उन्होंने आधे श्लोक में कह दिया। ब्रह्म ही सत्य, संसार मिथ्या है, तो जीव कौन है? वे कहते हैं वह ब्रह्म ही है। संत कवियों को इनसे बड़ी प्रेरणा मिली। गोस्वामी तुलसी दास जी लिखते हैं–

**कोऊ कह झूठ, सत्य कह कोऊ,**
**जुगल प्रबल करि गाने।**
**'तुलसीदास परिहरै तीन भ्रम,**
**सो आपन पहुँचाने।।**

द्वैत, अद्वैत और विशिष्टाद्वैत मतों की पृष्ठभूमि भी यहीं है। सन्त कवि सूरदास और सन्त कबीर को भी वेदान्त से प्रेरणा मिली है। आगे चलकर निर्गुण और सगुण भक्ति में निराकार और साकार ईश्वर के भावनात्मक चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। सत् और असत् के विवेक से सम्पन्न व्यक्तित्व ही सन्त कहलाते हैं। सन्तगण स्वयं प्रकाश होते हैं। वे दूसरों के गुणों को ही प्रकाशित करते हैं। साधु-सन्तों का चरित कपास की तरह होता है। वे नीरस किन्तु गुणवान् होते हैं। अनेक दुःखों को सहकर भी दूसरों के दोषों को छिपाते हैं। रामचरित

मानस में भगवान् श्रीराम जी सन्तों के उनगुणों के बारे में बताते हैं, जिनके कारण वे उनके वश में रहते हैं। सन्तजन काम, क्रोधादि और छः विकारों से रहित, निष्पाप और निष्काम होते हैं। उनका ज्ञान असीमित किन्तु भोग सीमित होता है। सत्य के ज्ञाता सन्त कवि, कोविद और योगी भी होते है। भले ही वे अपनी प्रशंसा सुनने में संकोच करते है, किन्तु दूसरों की तारीफ करते कभी नहीं थकते। भारत की भक्त, कवि, दार्शनिक और सन्त परम्परा बहुत पुरानी है। भारतीय ज्ञान निधि का सागर अनादि, अथाह और अनंत है।

आर्ष काव्य रामायण, महाभारत एवं श्रीमद्भागवत महापुराण हिन्दी साहित्य समेत पूरे भारतीय काव्य के उपजीव्य ग्रन्थ है। भक्ति, दर्शन और काव्य के सन्दर्भ में सबने इनसे प्रेरणा ली है। महाकवि सूरदास के सूर सागर में भागवत पुराण की ही भाँति 12 स्कन्धों में श्रीकृष्ण लीला का वर्णन है। दार्शनिकता का अर्थ है जीवन और जगत् के पारमार्थिक स्वरूप तथा मानव जीवन के चरम लक्ष्य का चिन्तन मनन और साक्षात्कार। आध्यात्मिक दृष्टिकोण को लेकर चलने वाले कवि को भी दार्शनिक माना जाता है। सूरदास जी कहते हैं शरीर नश्वर है,मरने के बाद ये यूँ ही पड़ा रह जायगा। जलने पर चुट्की भर राख शेष रह जायगी।

**या देही को गरब न करिये, स्यार काग गिध खैहे।**

सूरदास कहते हैं- कि भक्ति और हरि सुमिरन के बिना मानव शरीर की कोई उपयोगिता नहीं है-

**क्यों तू गोविन्द नाम बिसारौ।**
**अज हूँ चेति भजनकरि हरिकौ,**
**काल फिरत सिर ऊपर कारो।।**

सूर माया के विद्या और अविद्या दो रूप बताते हैं, माया बड़ा विचित्र शब्द है। इसका शब्दार्थ हैं- 'जो नहीं है-फिर भी है।' वह नारी के रूप में शक्ति बताते हैं। वो लाठी लेकर जीव को नचाती है। उधर कबीर कहते हैं-**'माया महाठगिनि हम जानी।** उधर तुलसी कहते हैं- भक्त को ये परेशान नहीं करती ज्यादा। भक्ति भी स्त्री है, माया भी स्त्री है। एक स्त्री से दूसरी स्त्री कैसे मोहित होगी? गोस्वामी जी लिखते हैं मोहे न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह चलित अनूपा।। हाँ ज्ञानी इससे परेशान रहता है। ज्ञान पुरुष है न, तो माया प्रभावित करेगी। परमज्ञानी नारद और विश्व मोहिनि का प्रसंग हम सब जानते ही हैं। सूरदास जी सांख्य दर्शन से भी प्रभावित है। वे द्वैत-अद्वैत की भी चर्चा करते है:-

**प्रकृति-पुरुष एक हिं कर जानहु, बातनि भेद करायौ।**
**द्वैत न जीव एक हम दोऊ, सुख कारन उपजायो।**
**ब्रह्म रूप द्वितीया नहि कोऊ, तब मनतिया जनायो।।**

सूरदास द्वारा वर्णित कृष्ण-गोपी अनन्यता या अद्वैत भाव दृष्टव्य है। उनके "भ्रगरगीत" को देखें मथुरा में श्रीकृष्ण जब गोपियों को याद करते तो उद्धव उन्हें तत्त्व ज्ञान देते थे। श्रीकृष्ण ने उन्हें गोपियों के पास भेजना ज़रूरी समझा। परम ज्ञानी उद्धव को प्रेम का महत्त्व समझाने के लिए गोपियाँ उद्धव से पूछती है-

**'निरगुन कौन देश को वासी?**
**मधुकर ! हँसि समुझाय सोहदे बूझत साँच न हाँसी।**
**कोहै जनक? जननि को कहियत? कौन नारि, को दासी?**
**कैसो बरन भेस है कैसो? केहि रस में अभिलाषी?**
**'ऊधौ मन न भये दस बीस,**

**एकु हतो ते गयो स्याम सँग को आराधे ईस?**
**बो मथुरा काजरि की कोठरि जे आवें ते कारे।**
**तुमकारे जसुमति सुत कारे, कार भँवर भँवारे।।**[1]

सन्त कबीर ने भी दर्शन-धर्म के प्रतीकों के माध्यम से समाज को पर्याप्त प्रभावित हैं। भारतीय दर्शन भक्ति और अध्यात्म के माध्यम से कबीर को प्रभावित करता है। साथ ही दर्शनशास्त्र के पंच तत्त्वों, आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी आदि के प्रतीक भी उनके काव्य में आये हैं। साथ ही भक्ति के दाम्पत्य प्रतीक देखते ही बनते हैं:-

**"दुलहिन गावो मंगलचार, हमारे घर आये राजा राम भरतार,**
**तन रति करि कै मन रति करिहौं, पाँचों तत्त्व बराती।**
**राम देव मोहि ब्याहन आये, मैं जोवन मद माती।।"**

यहाँ पर वे प्रिया और प्रियतम के संबंध से जीवात्मा और परमात्मा का निरूपण करते हैं। परमात्मा प्रियतम के प्रति कबीर की विरहिणी आत्मा एक आदर्श प्रेमिका की प्रतीक है कही भक्ति को वात्सल्य भाव से व्यक्त करते है- **हरि जननी मैं बालक तोरा**

उत्पत्ति , स्थिति , संहार की स्थिति को वे जीवन में देखते हैं तथा मृत्यु अनिवार्य मानते हुए कहते हैं:-

**पानी केरा बुद बुदा अस मानस की जाति।**
**देखत ही छिप जायगा ज्यों तारा परभात।।**

पारमार्थिक रूप में केवल ब्रह्म ही सत्य है यही उनका रहस्यवाद है। उनके रहस्यवाद में अद्वैत वेदान्त और सूफीमत का गंगा-जमुनी संगम है। इस सन्दर्भ में उन्होंने कई प्रयोग किये।

---

[1] भ्रमरगीतसार सम्पादक आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल जी।

उन्होंने परमात्मा के प्रेम को गूँगे का गुड़ कहा, उसे अवर्णनीय बताया जो वस्तुतः एक ओर ब्रह्म कि अनिर्वचनीयता कि सिद्धि करता है तो दूसरी ओर जैन दर्शन के स्याद्वाद से प्रभावित प्रतीत होता है:-

**अकथ कहानी प्रेम की कछू कही न जाइ।**
**गूँगे केरी सरकरा बैठी ही मुस्काय।।**

अन्य सूफी संतों से इतर उनका रहस्यवाद वस्तुतः सर्वात्मवादमूलक है। इसमें माधुर्य मिलने से वह पूर्णता को प्राप्त होता है। वे ब्रह्म की प्राप्ति में प्रेम या भक्ति को अचूक साधन मानते हैं। हरिभक्ति को एक व्यसन अथवा नशा के रूप में व्यक्त करते हुए ब्रह्मानन्द सहोदर सुख प्राप्ति कि बात करते हुए कहते हैं :-

**'हरि रस पीया जानिये, जे कहुँ न जाइ खुमार।**
**गैगन्ता घूगत है, नहीं तन की सार।।"**
**"पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोग अनन्त।**
**संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कन्त।।"**

वेदांती जहां अज्ञान के आवरण हटाने कि बात करते हैं तो वहीं कबीर आत्मा से ब्रह्म के साक्षात्कार को निम्न प्रतीकों से समझते हैं:-

**जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, भीतर बाहर पानी।**
**फूटा कुम्भ जल जलहि समाना यह तथ्य कहयौ ज्ञानी।।**

मनुष्य जन्म से नहीं कर्म से महान् होता है। भारतीय दर्शन और संस्कृति के एकता, सत्य, प्रेम, दया, अहिंसा, करूणा और समता के दर्शन भी सन्त साहित्य में हमें पदे-पदे मिलते हैं। वैदिक साहित्य से लेकर बुद्ध महावीर और महात्मा गान्धी के दर्शन, चिन्तन और सन्दर्भित साहित्य में सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह आदि "पंचरत्न" माने गये हैं। श्रीमद्भागवत महापुराण के

परम ब्रह्म के स्वरूप को सत्, चित और आनंद के रूप में व्यक्त किया गया है

**सच्चिदानंद रूपाय विश्वोत्पत्यादिहेतवे!**
**तापत्रय विनाशाय श्री कृष्णाय वयं नम: !!**

सत के प्रति विशेष आग्रह तथा असत की वर्जना को गोस्वामी तुलसीदास जी के मानस में प्रमुखता से विवेचित किया गया है-

**'धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना।।'**
**'नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा।'**

निश्चित रूप से इन पंक्तियों से सत्य की महत्ता स्पष्ट होती है। वैदिक साहित्य की परम्परा हमारे सन्त काव्य में भी बखूबी दिखाई देती है। वैदिक साहित्य का एक वाक्य बहुत प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय है- **सत्यमेव जयतेद,**[1] परन्तु ये पूरा वाक्य नहीं है। इसके अन्त में एक शब्द और आता है नानृतम्, तब पूरा वाक्य बनता है 'सत्यमेव जयते नानृतम्। तब अर्थ बनता है सत्य की ही जीत होती है अनृत की नहीं। भारतीय दार्शनिक संस्कृति मे 'ऋतम्' का अर्थ होता है शाश्वत, सनातन और मर्यादा आदि। 'ऋतम्भरा' शब्द भी इसी से बना है। हिंसा, चौर्य, व्यभिचार, मद्यपान, द्यूत, असत्य भाषा एवं पापी दुष्टों का अनुगमन इन सात निषिद्ध, कार्यों की से बचना ही है - मर्यादा या ऋतम्।। ये ही हैं 'अन्ऋतम्' इनकी जीत नहीं होती है। वैदिक साहित्य में इन्हीं का उल्लेख है- **'सप्तमर्यादा कवयस्ततक्षु।**[2] सूर, कबीर, तुलसी और महात्मा गान्धी के चिन्तन, दर्शन और रचनाओं में ये मीमांसा स्पष्ट देखी जा सकती है। वस्तुतः हमारा

---

[1] मुंडकोपनिषद 3.1.6

[2] ऋग्वेद 10 5 61

साहित्य सत्यं शिवं सुन्दरम् है। अद्वैत वेदान्त, शंकराचार्य, श्रीमद्भगवद्गीता, सन्त कबीर, सूरदास, गोस्वामी तुलसी और महात्मा गान्धी जी में समता और एकता के दर्शन होते हैं। केवल मनुष्यों में नहीं अपितु प्राणिमात्र में समानता और एकता की बात कही गयी है-

**विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हरितनि।**
**शुनि चैन श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।**[1]

ज्ञानी अथवा पण्डित तो वह है जो विद्या और विनय से सम्पन्न विद्वान् ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में, कुत्ते में और उसको मार के खाने वाले में समनता देखता है। सबको एक मानता है। भेद नहीं करता। तो वही अन्यत्र स्थल पर पंडित इस शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि

**मातृवत् परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्ठवत्।**
**आत्मवत् सर्वभूतेषु, यः पश्यति सः पण्डितः।।**

अर्थात् दूसरे की पत्नी को अपने माता के समान एवं दूसरे का धन को पाषाण के सामान जो समझे साथ ही सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान व्यवहार करे उसे हम ज्ञानी अथवा पंडित कहते हैं।

पुराणों के प्रणेता महामुनि वेदव्यास जी की दृढ़ मान्यता है कि सत्य, दम और धर्म में सतत संलग्न शूद्र को भी मैं ब्राह्मण मानता हूँ। क्योंकि सच्चरित्रता ही ब्राह्मणत्व की कसौटी है। किसी जाति विशेष में जन्म लेने से कुछ नहीं होता। मनुष्य जन्म से नहीं कर्म से महान् होता है। लोग वसुदेव को नहीं वासुदेव को नमस्कार करते हैं:-

**'यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः।**

---

[1] श्रीमद्भगवद्गीता - पञ्चम अध्याय श्लोक 18

**तं ब्राह्मणमहं मन्ये, वृत्तेन हि भवेद्विजः।।**[1]

इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी भी जाति की अपेक्षा कर्म कि श्रेष्ठता बतलाते हुए कहते हैं:-

**तुलसी भगत सुपच भलो, भजे रैन दिन राम।**
**ऊचो कुल केहिं काम को जहाँ न हरि को नाम।।**

वर्तमान समय मे सामाजिक संघर्षों का एक बड़ा कारण जाति कुल, धर्म कि श्रेष्ठता बताकर करके वर्चस्व की स्थापना करना है। इधर शबरी के राम को यदि देखें तो वे इन श्रेष्ठता के तत्त्वों को नकारते हैं:-

**जाति पाँति कुल धरम बढ़ाई। धन बल परिजन कुल चतुराई।।**
**कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मान हूँ एक भगति कर नाता।।**

इसी प्रकार यदि हम निषाद के प्रसंग को देखें, रामचरित मानस में जहां राम निषाद से अपनी मित्रता करके जातीय श्रेष्ठता को नकारते हुए मर्यादा पुरुषोत्तम का आचरण व्यक्त करते हैं।

राम और कृष्ण द्वारा नारी सशक्तीकरण के उदाहरण भी हैं अहल्या, द्रौपदी आदि रामायण एवं महाभारत आदि में देखे जा सकते हैं -

**राम सखा ऋषि बरबस भेंटा।**
**जनु महि लुटत सनेह समेटा।।**

तुलसी दास जी जिनपर अतार्किक लोग नारी और शूद्र विरोधी होने का प्रमाण देते हैं वे स्वयं अपने उदाहरण से जातीय आधार को नकारते प्रतीत होते हैं:-

**जायो कुल मंगनि के बधावन बजागो सुनि।**

---

[1] महाभारत वनपर्व 216/14-15

**भयो परिताप जननी जनक कों।**
**बारे ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन जान,**
**चारिफल चारि ही चनक को।।**
**धूत कहो अवधूत कहो, रजमूत कहो,**
**जुलहा कहो कोऊ, काहू की बेटी से बेटा बिहाव न,**
**काहू की जाति बिगारन कोऊ।**

भारतीय समाज में बढ़ता जातीय संघर्ष मिटाने के लिए सन्त कबीर का भी यह भी मत है कि वे जातीय श्रेष्ठता को नकारते हुए **जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते।** स्कन्द पुराण के इस सिद्धांत की ही प्रतिपुष्टि करते हैं-

**एक ज्योति के सब जग उपजा,**
**को बामन को सूदा?**
**जो बामन तू ब्राह्मनी जाया,**
**आन राह हमे क्यों नहि आया?**
**जो तू तुरक तुरकनी जाया,**
**आन राह वै क्यों नहिं आया?**
**जाति जुलाहा नाम कबीरा,**
**बनि बिन फिरों उदासी।**
**तननां बुननां तज्या कबीर,**
**राग नाम लिख लिया सरीर।।**
**हरि को नाम अभय पद दाता,**
**कहै कबीरा कोरी।।**

भारतीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अद्वैत दर्शन, एकता, परोपकार और समानता की है। रामायण-महाभारत आदि वैदिक साहित्य से

इन्ही सिद्धांतों को संत साहित्य में लिया गया जो वर्तमान में और अधिक प्रासंगिक होता जा रहा है। चूंकि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत ने **बहुलता में एकता Unity in diversity** को अंगीकार किया है। वेद और मंत्र द्दष्टा ऋषि से सद्दश ही आदि कवि महर्षि वाल्मीकि ने भी यही समाज का तानाबाना प्रस्तुत किया। वेद यदि क्षीरसागर हैं तो महाभारत ताजा नवनीत है। महाभारतकार के अनुसार उसने वेदों का सारा ज्ञान महाभारत में डाल दिया है। और वह भी वेदों की तरह महत्वपूर्ण है। चूंकि वह चार वेदों के बाद रचा गया महत्वपूर्ण ग्रंथ है इसलिए इसे पंचम वेद भी कहा जाता है। महर्षि कृष्ण द्वैपायन महामुनि वेदव्यास ने महाभारत कि व्यापकता के संदर्भ में कहा है कि- **'यन्न भारते तन्न भारते'** अर्थात् जो महाभारत में नहीं है, वह भारत में भी कही नहीं है। अर्थात् महाभारत में सब कुछ है। उधर रामचरितमानस के बालकाण्डीय मङ्गलाचरण में तुलसीदास जी ने आगम, निगम, एवं विविध पुराणों के सार तत्त्व को विवेचित किया है ऐसी घोषणा करते हुए लिखते हैं:-

**नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामयणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।**
**स्वान्तः सुखाय तुलसीरघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति।।**[1]

**निष्कर्ष:-**

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण से हम निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन से प्रेरित संत साहित्य में कहीं भी जातीय उच्च निम्न का भेदभाव दिखाई नहीं देता है सर्वत्र एकता और समानता की बात कही गई है जो वर्तमान संवैधानिक परिप्रेक्ष्य में भी उचित ही है। व्यक्तिगत हित से ऊपर मानवता को स्थान देने वाला संत

---

[1] रामचरित मानस बालकाण्ड मंगलाचरण श्लोक 7

साहित्य "परहित सरिस धरमु नहि भाई। पर पीडा सम नहिं अधमाई।। कि उक्ति को सर्वथा चरितार्थ करता हुआ प्रतीत होता है। भारतीय दर्शन और सन्तों की इस महती परम्परा का न केवल सम्मान बल्कि हमें पालन भी करना चाहिये। परन्तु अब ये एकता और समानता कहाँ गयी? ये चिन्तन, मनन और शोध की बात है-

विविध धर्म एवं पंथ के मतानुयायी जिसे प्राप्त करना चाहते हैं सर्वथा एक ही है:-

**'यं शैवाः समुपासते शिवतया, देवीति शक्त्यर्चकाः बौद्धाः बुद्ध इति प्रभुर्विभुरिति, ज्यूरिव्रस्तमार्गानुगाः।**
**अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः, अल्लेति मुस्लिम्मताः ; सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं ब्रह्मात्मरूपो हरिः।।'**

और अंततः-

**मैं इंसान हूँ, मुझे बस इंसान रहने दो,**
**ना बनाओ शैतान, ना भगवान् बनने दो**
**बनाई अपनी मंजिल, हस्ती व कीर्ति तूने**
**ना यूँ लूटो मुझे, मेरी भी पहचान बनने दो**

## सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची :-

वाल्मीकीय रामायण (महर्षि वाल्मीकि), महाभारत (महर्षि वेदव्यास), श्रीमद्भागवत महापुराण (महर्षि वेदव्यास), कबीर ग्रन्थावली, सूरसागर (महाकवि सूरदास), रामचरित मानस (गोस्वामी तुलसीदास) एवं 'खान खाना अब्दुर्रहीम और संस्कृत'

# वेदकालीन कृषि संस्कृति

**जानी वन्दना यज्ञप्रकाश**
शोधछात्रा, सौराष्ट्र विश्वविद्यालय, राजकोट, गुजरात

**• शोधसार:-**

संस्कृति शब्द संस्कृत से निष्पन्न है। इसलिए अंग्रेजी शब्द 'Culture' से उसकी तुलना करके उसकी व्यापक अर्थाभिव्यक्ति को ग्रहण करना सम्भव नहीं है। इसकी व्युत्पत्ति देखे तो- 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में 'सुट्' आगम करके और 'क्तिन्' प्रत्यय करने पर 'संस्कृति' शब्द बनता है।[1] भारत को सदैव सबसे प्राचीन संस्कृतियों में से एक का भंडार माना गया है। भारत में कई विदेशी जातियाँ आयी और बस गयी। भारतीयों के आचार-विचार, रहन-सहन आदि पर उनका कुछ प्रभाव भी पड़ा। पर इससे यह नही कहा जा सकता कि भारतीय संस्कृति का आधार ही बदल गया। भारत हिंदुओं का देश है, अतः उन्ही की 'संस्कृति' अर्थात् 'भारतीय संस्कृति' है, जिसके मूल स्त्रोत वेदादि शास्त्रों में निहित है। अत एव लौकिक-पारलौकिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, उन्नति का वेदादिशास्त्र सम्मत मार्ग ही भारतीय संस्कृति है। दर्शन, भाषा, साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, इतिहास, कला आदि संस्कृति के सभी अङ्गों पर वेदादिशास्त्र मूलक सिद्धांतों की ही छाप दिखाई देती है। संस्कृतियाँ हर देश में होती है, लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति सबसे प्राचीन में से एक मानी जाती है। संस्कृति के स्वरूप के अंतर्गत वैदिक संस्कृति, उपनिषदों की तर्कप्रधान संस्कृति, दर्शनों की विचारप्रधान संस्कृति, पुराणों की धर्मप्रधान संस्कृति, महाकाव्यों

की आदर्शप्रधान संस्कृति, जैनधर्म की आचारप्रधान संस्कृति, बौद्धधर्म की समन्वयप्रधान संस्कृति देखने मिलती है। इसके अंतर्गत वर्णाश्रम, धर्म, कर्म, आचार और संस्कार, सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन, न्याय और शासन, कला, सौन्दर्य इत्यादि मिलते है। इसमें आर्थिक जीवन के अंतर्गत कृषि संस्कृति की चर्चा यहाँ की गई है। भारत प्राचीन काल से ही कृषिप्रधान देश रहा है। लोगों का प्रमुख व्यवसाय कृषि और पशुपालन रहा है। इसके प्रमाण हमें सिंधु घाटी की सभ्यता से मिलता है। वैदिक काल में भी लोगों का व्यवसाय कृषि और पशुपालन था। ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों से हमें कृषि तथा पशुपालन करने के प्रमाण मिलते है। आर्य लोग खेतों की जुताई, बुआई, सिंचाई, कटाई आदि बहुत अच्छी तरह से संपन्न करते थे। भूमि के उपजाऊपन के लिए पशुओं की खाद का प्रयोग भी करते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे भारत में कृषि का क्रमिक रूप से विकास होता गया। इस प्रकार यहाँ वैदिक साहित्य के अंतर्गत कृषि संस्कृति मिलती है उसकी चर्चा की गई है।

वैदिक काल से कृषि व्यवस्था तथा अन्य विषयों के सम्बन्ध में लिखित प्रमाण मिलते थे। संपूर्ण वैदिक साहित्य कृषि से सम्बन्धित शब्दों से भरा पड़ा है, आर्यो को कृषि का ज्ञान ईरान में ही हो गया था। अवेस्ता में 'करेश', 'हत्थ' एवं 'यवो' शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो वैदिक शब्द 'कृष', 'सस्य' एवं 'यव' के रूपान्तरण है।[2] वैदिक आर्य कृषिजीवी थे। ऋग्वेद[3] में उल्लिखित 'कृष्टि' शब्द से समस्त आर्यजनों के कृषक होने का प्रमाण मिलता है। आज की तरह तब भी कृषि को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता था। कृषि आर्यत्व और श्रेष्ठत्व की पहचान मानी जाती थी। समाज के सभी लोग

प्राणरक्षण एवं जीवन निर्वाह के लिए धरती के प्रति अत्यन्त आदर सम्मान का भाव रखते थे। ऋग्वेद में कहा गया है कि 'यह विशाल धरती हमारी माता है:-

**'माता पृथिवी महीयम्।'[4]**

इस प्रकार अथर्ववेद में मिलता है- 'पृथिवी मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ।'

**'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।'[5]**

इस प्रकार आज भी धरती के प्रति मातृत्व का श्रद्धाभाव अनेक कारणों से है। उनमें से एक कारण वह अन्नदात्री होने के कारण समस्त मानवता का आधार है।

वैदिक आर्यों के कृषि प्रेम के अनेक उदाहरण वेदों में मिलते है। वैदिक कवियों ने **'कृषिमित् कृषष्व'** अर्थात् 'खेती करो' ऐसा अभियान चलाकर समाज को कृषि की ओर प्रेरित किया। कृषि जीवन की इस प्रगति ने तत्कालीन जनजीवन को जो आत्मनिर्भर प्रदान की उसके अतिरिक्त दुर्व्यवहार में फँसे हुए लोगों को अच्छे मार्ग पर लगाकर उनके लिए यह भी निर्देश किया है- **'अक्षैर्मा दीव्यः, कृषिमित्कृषष्व'**[6] अर्थात् 'जुआ न खेलो, खेती करो'।

**● कृषि के विभिन्न रूप और सिंचाई:-**

वेदों में कृषि की दृष्टि से भूमि के दो भागों का वर्णन मिलता है। (१)कृष्टपच्य और (२)अकृष्टपच्य ऋग्वेद में कृषि योग्य भूमि के अनेक रूपों का वर्णन हुआ है। यजुर्वेद में कृषि के द्वारा उत्पन्न अन्न के लिए 'कृष्टपच्या' तथा बिना कृषि किए उत्पन्न अन्न के लिए

'अकृष्टपच्या' शब्द का प्रयोग किया गया है।[7] अथर्ववेद में भी कृषि योग्य भूमि को 'कृष्य' कहा गया है।[8] संहिताओं में भूमि के दोनों प्रकारों का उल्लेख मिलता है।[9] इनके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में कृषि भूमि के अन्य तीन प्रकारों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में भूमि के तीन प्रमुख भेद मिलते है-

(१)आर्तना:- मैक्डोनल एवं कीथ के अनुसार ऋग्वेद में यह बंजर भूमि का द्योतक है।[10] वैदिक कोश के अनुसार ऋग्वेद में इसका आशय उसे क्षेत्रों से है।[11] शतपथ ब्राह्मण में इस भूमि को अकृष्ट कहा गया है।[12]

(२)अप्रस्वती:- वैदिक इण्डेक्स तथा वैदिक कोश के अनुसार ऋग्वेद में यह शब्द उर्वर भूमि का बोधक है।[13] शतपथ ब्राह्मण में इस भूमि को कृष्ट कहा गया है।[14]

(३)उर्वरा अथवा क्षेत्र:- यह भूमि कृषि की दृष्टि से सबसे अधिक उपयुक्त थी। ऋग्वेद की विभिन्न ऋचाओं में उपजाऊ भूमि के लिए उर्वरा[15] तथा खेत के लिए क्षेत्र[16] शब्द मिलते है। शतपथ ब्राह्मण में भी कृषि भूमि को क्षेत्र अथवा उर्वरा कहा गया है।[17]

पाणिनि[18] ने फसलों के नाम पर क्षेत्रों का विभाजन किया है- व्रैहेय(व्रीहि का खेत), शालेय(जडहन का खेत), यव्य(जौ का खेत), षष्टिक्य(साठी का खेत), तिल्य-तैलीन(तिल का खेत), माष्य-माषीण(उडद का खेत), उम्य-औमीन(अलसी का खेत) इत्यादि। पाणिनि ने कृषि के अयोग्य भूमि का ऊषर(ऊसर) कहा है। जुती हुई भूमि को सीत्य, हल्य आदि नाम दिए गए थे।

नारदस्मृति में दर्शाया गया है कि– जिस भूमि में एक वर्ष तक

खेती न की गई हो वह 'अर्द्धखिल' है, जिसमें तीन वर्षों तक खेती न हो वह 'खिल' है।[19]

अमरकोश में बारह प्रकार की भूमियों का वर्णन प्राप्त होता है- उर्वरा(उपजाऊ भूमि), उषर(उसर भूमि), मरु(रेगिस्तान), अप्रहत(जिस पर खेती नही होती), शाद्वल(घास का मैदान), पंकिल(कीचड की भूमि), जल से भरी भूमि, कच्छ(पानी के निकट की भूमि), शर्करा(कंकडयुक्त भूमि), शर्करावती(रेतीली भूमि), नदी मातृक(नदी से खींची जाने वाली भूमि), देव मातृक(बरसात से खींची जाने वाली भूमि)।

ऋग्वेद[20] तथा अथर्ववेद[21] से ज्ञात होता है कि उस समय कृषि की सिंचाई के लिए समुचित व्यवस्था थी। नदी तथा कूप दोनों से सिंचाई की जाती थी। ऋग्वेद[22] के अनेक स्थलों पर 'अवत' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिससे प्राकृत स्त्रोतों के विपरीत कृत्रिम रूप में बनाये गए कूपों का अर्थ किया गया है। ऐसे कूपों को ढाक कर व्यवस्थित रूप में रखा जाता था। वे सदा जल से परिपूर्ण रहते थे। उनसे पत्थर के चक्र से पानी निकाला जाता था। इन पहियों में एक वस्त्रा लगा रहता था, जिससे पात्र सन्नद्ध रहता था। पानी को खींच कर लकड़ी की बाल्टियों में संग्रह किया जाता था।[23] कृषि को अधिकाधिक उपजाऊ बनाने के लिए सिंचाई के अतिरिक्त खाद का उपयोग होता था। इस प्रकार यहाँ कृषि के विभिन्न रूप और सिंचाई की बात की गई है।

**● कृषि के साधन:-**

वेदों एवं वैदिक साहित्य में स्पष्ट और व्यापक रूप से देखने को

मिलता है कि आज की तरह तब भी कृषि के लिए विभिन्न प्रकार के साधनों का उपयोग होता था। ऋग्वेद[24] में कृषि कार्य से सम्बन्धित जोताई-बोवाई, हल, बैल, जुआ, हंसिया, गाडी, नाद, गोलाशा, प्रस्थर, कुठार और लौहदात्र आदि विभिन्न प्रकार की सामग्री का उपयोग होता था।

कृषि की जोताई-बोवाई करने सम्बन्धी अनेक उल्लेख वैदिक साहित्य में प्रचुर मात्रा में मिलता है। ऋग्वेद के एक मंत्र में कृषि को जोतने और उसके लिए बैलों का उपयोग करने का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद इत्यादि में जोत कर बोए हुए बीज और उससे उत्पन्न अन्न को 'यवंकृत्' तथा 'सस्य' कहा गया है।[25] अथर्ववेद[26] में कृषि आरम्भ करने का श्रेय वेन के पुत्र पृथु को दिया गया है। ऋग्वेद[27] में अश्विनों को हल जोतकर बीज बोते हुए दर्शाया गया है।

कृषि के लिए आज की तरह वैदिक युग में भी हल को प्रमुख साधन माना जाता था।[28] ऋग्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता, निरुक्त और आपस्तम्ब सूत्र इत्यादि में हल के अनेक प्रकारों का उल्लेख हुआ है।[29] अथर्ववेद, तैत्तिरीय ब्राह्मण और वाजसनेयि संहिता में हल को 'सीर' कहा गया है।[30] उस युग में कृषि कितने व्यापक तरीके से की जाती थी ऐसा अनुमान लगाया जाता है। बैलों को हाँकने के लिए हलवाहे जिस छडी का उपयोग करते थे उसे 'आष्ट्रा' कहा गया है।

शतपथ ब्राह्मण[31] में जोतना, बोना, काटना, दँवाई करके अन्न अलग करना (कृषन्तः, वपन्तः, लुनन्तः, मृणन्तः) आदि विभिन्न कृषि क्रियाओं का स्पष्ट उल्लेख है। यहाँ फसल को हँसिया से काटे जाने

उसे गठ्ठरों में बाँधे जाने और अन्न को 'अन्नागार' में रखने का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद[32] में 'अन्नागार' को 'शाला' और गृहस्वामी को 'शालापति' कहा गया है। यहाँ अन्न को चलनी(तितउ) और सूप(शूर्प) से साफ करने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

● **अन्न के प्रकार:-**

वैदिक युग में किन-किन अन्नों का उत्पादन होता था इसकी जानकारी स्त्रोतों के माध्यम से पता चलती है। वाजसनेयि संहिता[33] में व्रीहि(चावल), यव(जौ), मुद्ग, माष, तिल, अणु, खर्व, गोधूम(गेहूँ), नीवार, प्रियङ्गु, मसूर और श्यामा का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद[34] में कृषित अन्न के दस प्रकार बताये गए है- (१)व्रीहि(धान), (२)यव(जौ), (३)तिल(तिलाः), (४)माष(उड़द), (५)अणु(साँवा), (६)प्रियङ्गु(काँगनी), (७)गोधूम(गेहूँ), (८)मसूर(मसूराः), (९)खल्व(बाल) और (१०)खलकुल(कुलथी)।

वैदिक आर्यों धान्य, आटा और सत्तू बहुत उपयोग में लेते थे।[35] अथर्ववेद, मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता, ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद में तण्डुल का उल्लेख चावल के अर्थ में हुआ है।[36] ऋग्वेद, अथर्ववेद तथा वैदिक साहित्य के ग्रन्थों से वैदिक युग में धान की खेती का व्यापक रूप से प्रचलन होता है।[37] तैत्तिरीय संहिता[38] में काले और श्वेत चावलों का उल्लेख मिलता है। काले धुनों को अच्छा बढने वाला बताया है। उसी को 'षष्टिक'(साठ दिनों में पकने वाला) कहा है।

ऋग्वेद[39] में घी के साथ मीठी रोटी के लिए 'अपूप' शब्द का

प्रयोग मिलता है। शतपथ ब्राह्मण[40] में चावलों(व्रीहि) की बनी रोटी का वर्णन है। ऋग्वेद[41] से पता चलता है कि वैदिक आर्यों के खेत जौ से परिपूर्ण होते थे। सत्तू को ऋग्वेद में देवान्न कहा गया है।[42] इसलिए इसे दान में भी दिया जाता था। तैत्तिरीय संहिता[43] के अनुसार जौ की खेती ग्रीष्म ऋतु में बोने का वर्णन है। सत्तू के सूप का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है।[44]

खाद्य अन्नों में गेहूँ का प्रमुख स्थान माना जाता है। मैत्रायणी संहिता, वाजसनेयि संहिता, शतपथ ब्राह्मण, बृहदारण्यक उपनिषद में गोधूम का गेहूँ के अर्थ में बहुवचन में प्रयोग हुआ है।[45] तिल और माष का वर्णन अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता, वाजसनेयि संहिता, शतपथ ब्राह्मण आदि अनेक ग्रन्थों मिलता है।[46] उर्द और तिल को हेमन्त और शिशिर ऋतु में उगने वाला अन्न कहा गया है। वाजसनेयि संहिता तथा बृहदारण्यक उपनिषद में मसूर की गणना दालों में की गई है।[47] वैदिक युग के अन्नों में ईख(ईक्षु) का वर्णन प्राप्त होता है।[48]

**● भूमि स्वामित्त्व, उत्तराधिकार और अविभाजन:-**

भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व, उसका उत्तराधिकार और उसके अविभाजन सम्बन्धी निर्देशों से पता चलता है कि वैदिक युग में उसका अधिक महत्त्व था। ऋग्वेद[49] के एक मंत्र से पता चलता है कि खेतों की तब नाप जोख होती थी। इस प्रकार कृषि पर व्यक्तिगत स्वामित्व का पता चलता है। ऋग्वेद के एक मंत्र के अनुसार अपाला का अपने पिता की भूमि पर वैसा ही व्यक्तिगत अधिकार था, जैसा कि अपने शिर के बालों पर। यहाँ सन्तान भावना का वैयक्तिक

अधिकार दिखाई देता है।[50] छान्दोग्य उपनिषद[51] में भूमि और घर को सम्पत्ति में परिगणित किया गया है।

वैदिक युग में भूमि का बहुत महत्त्व था। ऋग्वेद में उपहारों या दान में दी जाने वाली वस्तुओं में केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति की वस्तुओं की गणना की गई है जैसे कि– गाय, अश्व, भेंस, ऊँट और अलंकार इत्यादि।[52]

भूमि पर राजा का स्वामित्व होता था। राजतन्त्र के सुदृढ होने पर राजाओं के अधिकार में भी वृद्धि होती है और राजा अपने राज्य की सम्पूर्ण भूमि का स्वामी है। मनुस्मृति के अनुसार भूगर्भ से निकली सम्पत्ति पर राजा का अधिकार होता है।[53] अर्थशास्त्र के अनुसार राजा भूमि एवं जल दोनों का स्वामी होता है। महाभारत में राजा को समस्त भूमि का स्वामि माना गया है। किन्तु इन तथ्यों से राजा का भूमि पर स्वामित्व सिद्ध नही होता। सैद्धांतिक रूप से राजा भूपति है क्योंकि वह भू-राजस्व प्राप्त करता है। परंतु व्यावहारिक रूप से भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व होता था। कौटिल्य ने लिखा है कि जो व्यक्ति अपने खेतों में कृषि न करे राजा उसके खेतों पर अधिकार रख सकता है। अर्थशास्त्र में दो प्रकार की भूमि में अन्तर किया गया है। प्रथम प्रकार की भूमि राजा की अपनी भूमि होती थी जिस पर कृषि अधिक्षक, श्रमिकों या किसानों द्वारा खेती करवाता था। इस भूमि से होने वाली आय को कौटिल्य ने 'सीता' कहा है। दूसरे प्रकार की भूमि किसानों की होती थी जिससे राजा भू-राजस्व प्राप्त करता था। इसे 'भाग' शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है।[54] इसके उपरांत कई जगह पर व्यक्ति का स्वत्व सिद्ध होता है। इन सबसे यह सिद्ध नही

होता कि व्यक्तिगत स्वामित्व नही था। मैक्डोनल आदि का भी यही मत है कि भूखण्डों के स्वामी व्यक्ति ही होते है, राजा नही। भूमि प्रबन्धन देखे तो प्रशासन व्यवस्था हर जनपद में थी। सर्वोच्च अधिकारीयों को राजा के मंत्री का पद मिला होता था, उनसे नीचे के अधिकारी समितियों में बैठते थे। जनपद की भूमि की दो सुस्पष्ट कोटियाँ थी : राष्ट्र को कर देने वाली और सीधे राज्य के निरीक्षण में बसाया और जोती जाने वाली 'सीता' भूमि। यहाँ भूमि का अधिकतम उपयोग होने से धन लाभ प्राप्त होता था।[55] इस प्रकार यहाँ भूमि का स्वामित्व, उत्तराधिकार और अविभाजन व्यक्ति पर निर्भर करता था।

**● निष्कर्ष:-**

प्रस्तुत शोधपत्र में हमने वेदकालीन कृषि संस्कृति का अध्ययन किया है। इस शोधपत्र में वेद और वैदिक साहित्य में कृषि संस्कृति का वर्णन प्राप्त होता है यह दर्शाने का प्रयास किया है। वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि आर्यों के जीवन में कृषि का महत्त्वपूर्ण स्थान था। कृषि से प्राप्त हुआ अन्न ही आजीविका का मुख्य साधन माना जाता था। इस प्रकार वैदिक कालीन सभ्यता के लोग कृषि के विभिन्न आयामों से भलीभांति परिचित थे। जनसंख्या में वृद्धि होने पर अधिक उपज के लिए विभिन्न तरीकों का प्रयोग करते थे। कृषि व्यवस्था आर्थिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एवं उन्नतिशील मानी जाती थी। इस प्रकार यहाँ कृषि के विभिन्न रूप और सिंचाई, कृषि के साधन, अन्न के प्रकार, भूमि स्वामित्त्व, उत्तराधिकार और अविभाजन दर्शाया गया है।

## • संदर्भ-ग्रन्थ-सूची :-

(१) हिंदू संस्कृति पृ.-२४
(२) वैदिक इण्डेक्स भाग-१ पृ.-१८१, भाग-२ पृ.-४४१
(३) ऋग्वेद-१/५२/११
(४) वही-१/१६४/३३
(५) अथर्ववेद-१२/१/१२
(६) ऋग्वेद-१०/३४/१३
(७) यजुर्वेद सुबोध भाष्य-१८/१४
(८) अथर्ववेद-२/४/५
(९) तैत्तिरीय संहिता-४/७/५/१,२ मैत्रायणी संहिता-२/११/५ काठक संहिता-१८/१०
(१०) वैदिक इण्डेक्स हि. अनुवाद भाग-१ पृ.-१११
(११) वैदिक कोश पृ.-४०
(१२) शतपथ ब्राह्मण-७/२/४/१७
(१३) वैदिक इण्डेक्स हि. अनुवाद भाग-१ पृ.-१११, वैदिक कोश पृ.-१७
(१४) शतपथ ब्राह्मण-७/२/४/१७
(१५) ऋग्वेद-१/१२७/६, ४/३८/१, ५/३३/४, ६/२०/१, ६/२५/४
(१६) वही-१/३३/१५, १/१००/१८, १/११०/५, ३/३१/१५, ४/३८/१
(१७) शतपथ ब्राह्मण-१/४/१/१६
(१८) वासुदेवशरण अग्रवाल पाणिनि कालीन भारतवर्ष पृ.२००
(१९) नारदस्मृति-१/८७/९१
(२०) ऋग्वेद-७/४९/२
(२१) अथर्ववेद-१/६/४, १९/६/१
(२२) ऋग्वेद-१/५५/८, ४/१७/१६
(२३) वही-१०/१०१/६,७
(२४) ऋग्वेद-१०/१०१/२-११
(२५) वही-१/२३/१५
(२६) अथर्ववेद-८/१०(४)/११

(२७) ऋग्वेद-१/११७/२१

(२८) वही-१०/७१/९

(२९) वही-४/५७/४, अथर्ववेद-२/८/४, तैत्तिरीय संहिता-६/६/७/४, निरुक्त-६/२६, आपस्तम्ब सूत्र-२२/४/७

(३०) अथर्ववेद-६/३०/१, तैत्तिरीय ब्राह्मण-१/७/१/२, वाजसनेयि संहिता-१८/७

(३१) शतपथ ब्राह्मण-१/६/१/२

(३२) अथर्ववेद-५/३१/५

(३३) वाजसनेयि संहिता-१८/१२

(३४) बृहदारण्यक उपनिषद-६/३/१३

(३५) ऋग्वेद-३/५२/१

(३६) अथर्ववेद-६/१४०/२, १०/९/२६, मैत्रायणी संहिता-२/६/६, काठक संहिता-१०/१, ऐतरेय ब्राह्मण-१/१, शतपथ ब्राह्मण-१/१/४/३, छान्दोग्य उपनिषद-३/१४/३

(३७) ऋग्वेद-५/५३/१३, अथर्ववेद-६/१४०/२

(३८)तैत्तिरीय संहिता-१/८/१०/१

(३९) ऋग्वेद-३/५२/७

(४०) शतपथ ब्राह्मण-२/२/३/१२,१३

(४१) ऋग्वेद-१०/१३१/२

(४२) वही-६/५६/१

(४३) तैत्तिरीय संहिता-७/२/१०/२

(४४) ऋग्वेद-१/१८७/१०

(४५) मैत्रायणी संहिता-१/२/८, वाजसनेयि संहिता-१८/१२, शतपथ ब्राह्मण-१२/७/१/२, बृहदारण्यक उपनिषद-६/३/१३

(४६) अथर्ववेद-२/८/३, तैत्तिरीय संहिता-७/२/१०/२, मैत्रायणी संहिता-४/३/२, वाजसनेयि संहिता-१८/१२, शतपथ ब्राह्मण-९/१/१/३

(४७) वाजसनेयि संहिता-१८/१२, बृहदारण्यक उपनिषद-६/३/१३

(४८) अथर्ववेद-१/३४/५, मैत्रायणी संहिता-३/७/९, ४/२/९, वाजसनेयि संहिता-२५/१

(४९) ऋग्वेद-१/११०/५

(५०) वही-८/९१/५-६
(५१) छान्दोग्य उपनिषद-७/२४/२
(५२) ऋग्वेद-१/१२६/१-४
(५३) मनुस्मृति-८/३९
(५४) हिन्दू रेवन्यू सिस्टम पृ.२९-३४
(५५) भूमि का प्रबन्ध पृ.-१८१

## • संदर्भ-ग्रन्थ-सूची:-

(१) वैदिक साहित्य और संस्कृति, वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली-११०००७ सं.-२०१३
(२) वैदिक इण्डेक्स, मैक्डोनल और कीथ, भाग-१,२ लंडन सं.-१९१२
(३) वैदिक कोश, सूर्यकान्त, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी सं.-१९६३
(४) ऋग्वेद, डॉ. गंगासहाय शर्मा संस्कृत साहित्य प्रकाशन नई दिल्ली-११०००१ सं.-२०१६
(५) यजुर्वेद, सुबोध भाष्य डॉ. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मंडल पारडी सं.-१९८५
(६) अथर्ववेद डॉ. गंगासहाय शर्मा संस्कृत साहित्य प्रकाशन नई दिल्ली-११०००१ सं.-२०१५
(७) काठक संहिता, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मंडल सं.-१९९९
(८) तैत्तिरीय संहिता, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मंडल सं.-२०००२
(९) मैत्रायणी संहिता, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्याय मंडल सं.-१९९८
(१०) वाजसनेयि संहिता, श्रीशुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिनी शाखा
(११) पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वासुदेवशरण अग्रवाल मोतीलाल बनारसीदास बनारस वि. सं.-२०१२
(१२) मनुस्मृति, डॉ. सुरेन्द्रकुमार आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली-११०००६, सन्-२०१७
(१३) कल्याण हिन्दू संस्कृति अङ्क गीताप्रेस गोरखपुर सं.-१९५०
(१४) शतपथब्राह्मण, स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती दयानन्द संस्थान नई दिल्ली-५ सं.-२०३०

(१५) शतपथब्राह्मणम् सायणाचार्यकृतवेदार्थप्रकाशाख्यभाष्यसहितम् एशियाटीक सोसायटी कलकत्ता सं.-१९०५
(१६) प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, डी. डी. कोसाम्बी राजकमल प्रकाशन दिल्ली-६ सं.-१९६९
(१७) वैदिक इण्डेक्स, मैक्डोनल एवं कीथ (हिन्दी अनु. रामकुमार राय) भाग-१ चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१ सं.-१९६२
(१८) વૈદિક કૃષિવિધા, ડો. નારાયણ મંદિર કંસારા મહર્ષિ વેદવિજ્ઞાન અકાદમી અમદાવાદ-૩૮૦૦૧૫
(१९) Hindu Revenue System U. N. Ghoshal University of Calcutta 1929

# संस्कृत भाषा का आयुर्वेद अध्ययन में महत्व

**वै.हेमांगी श्रीरंग जोशी**

व्याख्याता, संस्कृत संहिता सिद्धान्त विभाग,

श्रीम.के.सी.अजमेरा आयुर्वेद महाविद्यालय देवपूर धुळे

**वै.प्राजक्ता पटेल**

व्याख्याता द्रव्यगुणविभाग,

श्रीम.के.सी.अजमेरा आयुर्वेद महाविद्यालय देवपूर धुळे

**मार्गदर्शिका**

**वै.ज्योति बोरकर,**

विभाग प्रमुख संस्कृत संहिता सिद्धान्त विभाग

श्रीम.के.सी.अजमेरा आयुर्वेद महाविद्यालय देवपूर धुळे

**सारांश:-**

प्रस्तुत लेख में आयुर्वेद संहिता ग्रंथोके अध्ययन में संस्कृत भाषा का सटीक ज्ञान होने का महत्त्व, उद्देश तथा उसके स्वरुप का उल्लेख किया गया है।

**कायवाग्बुध्दि विषया ये मला:समुपस्थिता।**

**चिकित्सा लक्षणाध्यात्म शास्त्रैस्तेषां विशुध्दय:।।**

**(वाक्पदीय)**[१]

संस्कृत भाषा विश्व की प्राचीनतम भाषा हैं। तथा यह विश्व के अनेक भाषाओं की जननी हैं। संस्कृत भाषा भारतीय संस्कृति के विरासत का प्रतीक हैं। आयुर्वेद शास्त्र एक भारतीय पुरातन चिकित्सा प्रणाली हैं। आयुर्वेद को अथर्व वेद का उपवेद भी माना गया हैं।

**आयुष:पालनं वेद: इति आयुर्वेद:।**

**आयुरस्मिन् विद्यते इत्यायुर्वेद:। (निरुक्ति)**[२]

आयुर्वेद के माध्यम से व्यक्ति आयु संबंधित सभी प्रकार के संज्ञानात्मक तथ्यों का ज्ञान प्राप्त कर सकता हैं। जिसके पालन करके दिर्घायु प्राप्त कर सकता हैं। यह आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उपलब्ध प्रमुख संहिताओं की प्रमुख भाषा संस्कृत हैं। चरक संहिता, सुश्रुत संहिता ,अष्टांग संग्रह यह बृहतत्रयी कहलाती हैं। यह पुराण काल की संहिता हैं। तथा माधव निदान, शारंगधर संहिता, योग रत्नाकर यह आधुनिक काल की लघुत्रयी कहलाती हैं। तथा इनके प्रति संस्करण, और टीका यह सभी ग्रंथोकी प्रमुख भाषा संस्कृत हैं। इनके आलावा निघण्टु आदि अन्य रचनांए भी संस्कृत प्रचुर ही हैं। वर्णित आयुर्वेद के प्रमुख सिद्धांत, हेतु, लिंग, औषधी आदि विषय संस्कृत श्लोको में सुत्र रुप में हैं। "सूत्ररूप विषय वर्णन" यह संस्कृत भाषा एकमेवाद्वितीय विशेष गुण हैं,जो अन्य किसी भी भाषा में संभव नहीं। आयुर्वेद संहिताओं का अध्ययन करते समय इन संस्कृत श्लोको में वर्णित विषय वस्तु का भावार्थ उस संहिता की "तंत्रयुक्ती" की सहायता से प्रकाशित किया जाता हैं। किंतु यह सब करने के लिए संस्कृत व्याकरण का सटीक ज्ञान होना अत्यंत आवश्यंभावी हैं। अन्यथा उस सूत्र का यथायोग्य भावार्थ प्रकाशित नहीं होगा। इसिलिए आयुर्वेद में वर्णित विषय वस्तु के आधार पर संशोधन करने हेतु संस्कृत भाषा पर प्रभुत्व आवश्यंभावी हैं। आयुर्वेद संहिता संस्कृत टीका के पठन हेतु प्रोत्साहन मिलना आवश्यक हैं। जिसके कारण पठण, संशोधन सादरीकरण ऐसे विविध माध्यमसे आयुर्वेद के गूढ़

सिद्धान्त प्रकाशित कर आयुर्वेद का सौंदर्य प्रकट कर सकते हैं।

**उद्देशः-**

१) संस्कृत भाषा की उत्पत्ती तथा विकास पर प्रकाश डाला गया हैं।

२) आयुर्वेदीय संहिता ग्रंथो के अध्ययन में संस्कृत भाषा के योगदान का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया हैं।

**कूट शब्दः**- संहिता ग्रंथ, आयुर्वेद , संस्कृत भाषा.

**प्रास्ताविकः-**

विश्व की समस्त प्राचीन भाषाओं और उनके साहित्य (वाङ्मय) में संस्कृत का अपना विशिष्ट महत्त्व है। यह महत्त्व अनेक कारणों और दृष्टियों से है। भारत के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, अध्यात्मिक, दर्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन एवं विकास के सोपानों की संपूर्ण व्याख्या संस्कृत के वाङमय माध्यम से आज उपलब्ध है। भारतीय संस्कृति का रहस्य इसी भाषा में निहित है। संस्कृत का अध्ययन किये बिना भारतीय संस्कृति का पूर्ण ज्ञान कभी सम्भव नहीं है। भारत की यह सांस्कृतिक भाषा रही है। सहस्राब्दियों तक समग्र भारत को सांस्कृतिक और भावात्मक एकता में आबद्ध रखने को इस भाषा ने महत्वपूर्ण कार्य किया है।[३]

यह एक ऐतिहासिक सत्य है की प्राचीन भारत के चिंतन मनान कथन कथा लेखन की भाषा संस्कृत थी। ज्योतिष योग आयुर्वेद जैसे वैज्ञानिक और प्रायोगिक विषय बिना किसी त्रुटि के सूत्र रूप में संस्कृत भाषा में विवेचित किए गए हैं। भारत के वैदिक ऋषियों और

विद्वानों ने अपने वैदिक वाङमय को मौखिक और श्रुति परंपरा द्वारा प्राचीनतम रूप में अत्यंत सावधानी के साथ सुरक्षित और अधिकृत बनाए रखा। संस्कृत भाषा का लालित्य और नए शब्द गढ़ने की अद्भुत क्षमता विश्व की किसी अन्य भाषा में नहीं है। व्याकरण शास्त्रानुसार "सिद्ध शब्द" (पद)यह तो संस्कृत भाषा का प्रमुख शक्ति स्थल है। यह सिद्ध शब्द से वर्णित विषयों के सूत्रों का अर्थ और अधिक गहन करते हैं। आयुर्वेद भारत का प्राचीनतम चिकित्सा शास्त्र है आयुर्वेद की व्याख्या करते समय शास्त्र कारोंने कहां है,

**हिता हितम् सुखं दु:खं आयुस्तस्य हिता हितम्।**

**मानं च तच्च यत्रोक्तम् आयुर्वेद: स उच्चते।।**[४]

आयु के मान , प्रमाण, हित-अहित, सुख और दुख इनका वर्णन करने वाला आयुर्वेद अनादि स्वभाव सिद्ध तथा नित्य हैं।(च्.सू.३०/२७) आयुर्वेद का ज्ञान ब्रह्मा देव जी को सर्वप्रथम स्मरण हुआ। इन्होंने इसे दक्षा प्रजापति को प्रदान किया। दक्षा प्रजापति ने यह ज्ञान अश्विनी कुमारों को सिखाया। अश्विनी कुमारों ने इससे इंद्र को प्रदान किया। यहां तक की दैविक परंपरा सभी आयुर्वेद संहिता में वर्णित है। पृथ्वी पर जब व्याधियों से मनुष्य आदि ग्रसित हुए तब उनके दुख निवारण हेतु आचार्य आत्रेय , भरद्वाज , काश्यप , आदि महर्षि यों ने यह ज्ञान इंद्र से प्राप्त किया। उनका मनुष्य पर प्रयोग कर उसे सिद्ध किया। तथा उसे उन्होंने आयुर्वेद के सिद्धांत रूप में प्रतिपादित भी किया। किंतु ग्रंथों में यह विषय संस्कृत भाषा में तथा सूत्र रूप में ही वर्णित है। आयुर्वेद आज भले ही हिंदी अंग्रेजी या प्रांतीय भाषाओं में लिखा पढा जा रहा हो परंतु बीना

संस्कृत ज्ञान के हम आयुर्वेद के रहस्य नहीं जान सकते। आयुर्वेद की भाषा अन्य साहित्य ग्रंथोके भाषांसे थोडी भिन्न हैं। आयु संबंधित वैद्यकीय परिभाषाएं, मानवी शरीर संबंधित दोष, धातु, मल आदि विशिष्ट संज्ञांओं का इनमें प्रचुर मात्रा में वर्णन है, और इन्हे समझने हेतु आयुर्वेद सूत्रों के शब्दों का योग्य प्रयोग समझना होगा और यह समझने का उपयुक्त मार्ग व्याकरण है।

प्रधानम् च षट्सु अङ्गेषु व्याकरण।

वेद तथा वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छंद, निरुक्त , तथा ज्योतिष )और षट शास्त्रों का प्रधान अंग व्याकरण ही है। सभी ग्रंथों का अध्ययन व्याकरण के ज्ञान के बिना संभव नहीं। क्योंकि प्रत्येक विषय की अभिव्यक्ति शब्दों के माध्यम से होती है। शब्द समूह सर्वदा वर्ण समूह के रूप में भाषित होते हैं जो क्रमबद्ध और यथोचित स्वरूप में प्रयुक्त होने पर ही अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। यह यथोचित स्वरूप और क्रम बद्धता व्याकरण के द्वारा ही नियंत्रित होते हैं। किसी भी शास्त्र के समग्र अध्ययन के लिए मुख्य रूप से पांच प्रकार के ग्रंथ संपदा उपलब्ध होनी चाहिए जैसे सूत्र ग्रंथ, वृत्ति ग्रंथ वार्तिक ग्रंथ, भाष्य ग्रंथ, टिका ग्रंथ। व्याकरण शास्त्र में यह सभी ग्रंथ वर्तमान काल में उपलब्ध है। इस कारण संस्कृत व्याकरण का सखोल अध्ययन संभव हो पाता है किंतु अन्य शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए केवल यह पांच प्रकार के ग्रंथ पर्याप्त नहीं अपितु इनके साथ व्याकरण शास्त्र का सहयोग भी महत्वपूर्ण है। व्याकरण शास्त्र के आधार पर अन्य शास्त्रों के सूत्रों का विवरण, गुढार्थ प्रकाशन संभव हो पाता है। प्राचीन वाङ्मय सभी सूत्र रूप में ही वर्णित होते

थे, इन्हें "तंत्र" संज्ञा दी गई। सूत्र शब्द का अर्थ है, संक्षेप।

सूत्र की व्याख्या:-

**अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवत् विश्वतोमुखम्।**

**अस्तोभमनवद्यं चसूत्रं सूत्रविदो विदु:।।**[५]

अल्प अक्षरों में संशय विरहित विषय का संपूर्ण सारांश का विवरण जिसमें किया गया है जो विश्व के सभी स्थानों पर एक समान अर्थ में ग्रहण होता है तथा अवास्तव रचना मैं प्रकट नहीं है ऐसे शब्द को विद्वान जन "सूत्र" कहते हैं। पूर्व काल में इन सूत्रों का तथा में इन में वर्णित सिद्धांतों का विवरण पूर्व पक्ष तथा उत्तर पक्ष के स्वरूप में सुसंगत रीती से गुरु द्वारा शिष्यों को विदित किए जाते थे। आर्ष काल में विद्या दान केवल मौखिक परंपरा से ही होता था। किंतु कालांतर में गुरु परंपरा लोप होने के कारण सूत्रों में विदित गुढार्थ और भी गहन होता गया। इन सूत्रों का समुचित भावार्थ प्रकाशित करने के लिए शब्दों की व्युत्पत्ति का ज्ञान अर्थात् व्याकरण का ज्ञान होना अनिवार्य हो गया। "अव्याकरणमधीनम्।" अर्थात् व्याकरण के बिना कियहुआ किसी भी विषय का अध्ययन निष्फल हैं।

व्याकरण शब्द की व्याख्या:-

**व्याक्रियन्ते नाम व्युत्पाद्यन्ते शब्दा:अनेन इति व्याकरणम्।**

**व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते प्रकृति प्रत्ययादयो यत्र तद व्याकरणम्।।**[६]

इस व्युत्पत्ति से यह स्पष्ट होता हैं। कि जिसमें शब्दों की प्रकृति और प्रत्यय आदि का विवेचन किया जाये वह व्याकरण हैं। संस्कृत व्याकरण में पाणिनी अष्टाध्यायी ग्रंथ सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

संस्कृत साहित्य के सभी ग्रंथों पर जिनका काल इ.पू.२५०० से २८०० शतक तक समझा जाता है उन सभी पर पाणिनीय व्याकरण का ही प्रभाव हैं। वेद, उपनिषद, तथा ब्राह्मण के आरण्य के आदि ग्रंथ आर्ष वांङ्ग्मय कहलाते हैं। महर्षी वेदव्यास ने वैदिक मंत्रों का संकलन करते हुए संहिताओं के रूप में उन्हें प्रतिष्ठित किया। यह सब पाणिनि के पूर्व काल मे होने के कारण इन पर पाणिनि का प्रभाव नहीं है, अर्थात् इनका व्याकरण पाणिनि व्याकरण से भिन्न है। किन्तु समकालीन आयुर्वेदीय संहिताओं पर पाणिनी व्याकरण का प्रभाव स्पष्ट रुप से विदित हैं।

आयुर्वेद आयु के विषय में समग्र ज्ञान प्रदान करता है। यह ज्ञान करने हेतु आयुर्वेद की अपने दार्शनिक पार्श्वभूमी भी है। आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांतों में "त्रिगुण वाद," पंचमहाभूत वाद त्रिदोष वाद, षडधातु पुरुष, पंचविंशात्मक पुरुष, चिकित्साधिकृत पुरुष आदि वर्णन प्राप्त होते हैं चरक आचार्य जी ने षडधात्वात्मक पुरुष वर्णन करते समय लोक पुरुष साम्य सिद्धांत का वर्णन भी किया है इसे ही पिंड ब्रह्मांड न्याय कहां गया है।

**पुरुषोऽयं लोक सम्मितः ।७**

संपूर्ण ब्रह्मांड का सार पुरुष है जो पुरुष में विद्यमान है वही संपूर्ण ब्रह्मांड में भी है।

आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांत समझने के लिए उपनिषद तथा दर्शनशास्त्र इनका ज्ञान होना भी आवश्यक है। सृष्टि उत्पत्ति समझना आवश्यक है। आयुर्वेद में वर्णित परमाणुवाद सांख्य तत्त्वज्ञान से प्रेरित है। इसीलिए सांख्य, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, आदि दर्शन

शास्त्रों का का ज्ञान होना भी अनिवार्य है। किंतु यह ज्ञान होकर भी आयुर्वेदिक परिभाषा पूर्ण रूप से विशद करना कठिन हो जाता है परंतु आयुर्वेदीय संहिता के तंत्रयुक्ति और टीका की सहायता से व्याधि उत्पत्ति सिद्धांत द्रव्य गुण कर्म, शोधन आदि क्रिया एवं चिकित्सा सिद्धांत, व्याधि विनिश्चय आदि आयुर्वेदिक विषयों का विस्तृत विवरण कर सकते हैं।[८]

**रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्।**

**तत:कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्व समाचरेत।।२०।।**

**वस्तु रोगमविज्ञाय कर्मण्यारभते भिषक्।**

**अप्यौषधविधानज्ञस्तस्य सिध्दिर्यदृच्छया।।२१।।**

**वस्तु रोगविशेषज्ञ:सर्व भैषज्यकोविद:।**

**देश काल प्रमाणज्ञस्तस्य सिध्दिरसंशयम्।।२२।।**[९]

"युक्ति प्रमाण "यह आयुर्वेदिक चिकित्सा के शक्ति स्थल है। रोग और रोगी के अवस्था आदि का सूक्ष्म विचार करके सुयोजित काल में अचूक औषधि योजना करना यह आयुर्वेद की विशेषता है। इन विशेषताओं के आधार पर आयुर्वेद का प्रयोजन धातु साम्य क्रिया तथा स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य रक्षण यह साध्य किया जा सकता है। इस लिये समग्र संहिता का अध्ययन टीका सहित दार्शनिक पार्श्वभूमी के साथ सटीक व्याकरण कि सहाय्यता से और तंत्रयुक्ति साधन सह एकसाथ होना जरुरी हैं।

**साहित्य (Materia ।s):-**

वर्तमान काल में उपलब्ध आयुर्वेद की चरक संहिता, (बृहत्रयी) तथा उनके प्रतिसंस्करण और टीका ग्रंथोका भी अध्ययन में समावेश किया गया है। चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, अष्टांग संग्रह यह बृहतत्रयी कहलाती हैं। यह पुराण काल की संहिता हैं। तथा माधव निदान, शारंगधर संहिता, योग रत्नाकर यह आधुनिक काल की लघुत्रयी कहलाती हैं। पाणिनी अष्टाध्यायी का प्रस्तावना खंड

लघुसिध्दान्त कौमुदी, वैद्यकीय सुभाषित साहित्यम्, आयुर्वेद का बृहत् इतिहास आदि ग्रंथ संपदा अध्ययन हेतु प्रयोग में लायी गयी हैं।

**अध्ययन शैली (Methodology):-**

संस्कृत भाषा की उत्पत्ति तथा विकास:-

जिस प्रकार देवता अमर हैं उसी प्रकार संस्कृत भाषा भी अपने विशाल-साहित्य, लोक हित की भावना, विभिन्न प्रयासों तथा उपसर्गों के द्वारा नवीन-नवीन शब्दों के निर्माण की क्षमता आदि के द्वारा अमर है। आधुनिक विद्वानों के अनुसार संस्कृत भाषा का अखण्ड प्रवाह पाँच सहस्र वर्षों से बहता चला आ रहा है।

उसकी वैदिक संहिताओं की बड़ी विशेषता यह है कि हजारों वर्षों तक जब लिपि कला का भी प्रादुर्भाव नहीं था, वैदिक संहिताएँ मौखिक और श्रुतिपरंपरा द्वारा गुरुशिष्यों के समाज में अखंड रूप से प्रवहमान थीं। उच्चारण की शुद्धता को इतना सुरक्षित रखा गया कि ध्वनि ओर मात्राएँ, ही नहीं, सहस्त्रों वर्षों पूर्व से आज तक वैदिक मंत्रों में कहीं पाठभेद नहीं हुआ। उदात्त अनुदात्तादि स्वरों का उच्चारण शुद्ध रूप में पूर्णत: अविकृत रहा।[१०]

पाणिनि और उनसे पूर्वकालीन तथा परवर्ती वैयाकरणों द्वारा जाने कितने व्याकरणों की रचना हुई जिनमें पाणिनि का व्याकरण-संप्रदाय 2500 वर्षों से प्रतिष्ठित माना गया और आज विश्व भर में उसकी महिमा मान्य हो चुकी है। पाणिनि के पूर्व भी कई व्याकरणकार रह चुके हैं, जैसे यास्क का निरुक्त पाणिनि से पूर्वकाल का ग्रंथ है और उससे भी पहले निरुक्तिविद्या के अनेक आचार्य प्रसिद्ध हो चुके थे। शाकल्य,स्फोटायन आदि किंतु उनकी व्याकरण की रचना कालानुरूप न थी। वैदिक वाङ्ग्मय और प्राकृत भाषा इनमें गहरा अंतर था इस कारणा पाणिनी पूर्व व्याकरण रचनाए कालबाह्य हो गयी। वैदिक और वैदिकोत्तर भाषा का व्याकरण का विचार करते हुए संस्कृत व्याकरण की पुनर् बांधणी करने हेतु भगवान पाणिनी ने माहेश्वर सूत्र की सहायता से "अष्टाध्ययी"ग्रंथ की रचना की। पाणिनीय व्याकरण को त्रिमुनि व्याकरण भी कहते हैं, क्योंकि पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि इन तीन मुनियों के सत्प्रयास से यह व्याकरण पूर्णता को प्राप्त किया।

पाणिनि ने अष्टाधयायी में 3995 सूत्रें की रचना कर भाषा के नियमों को व्यवस्थित किया जिसमें वाक्यों में पदों का संकलन, पदों का प्रकृति, प्रत्यय विभाग एवं पदों की रचना आदि प्रमुख तत्त्व हैं। इन नियमों की पूर्त्ति के लिये धातु पाठ, गण पाठ तथा उणादि सूत्र भी पाणिनि ने बनाये। सूत्रों में उक्त, अनुक्त एवं दुरुक्त विषयों का विचार कर कात्यायन ने वार्त्तिक की रचना की। बाद में महामुनि पतंजलि ने महाभाष्य की रचना कर संस्कृत व्याकरण को पूर्णता प्रदान की। इन्हीं तीनों आचार्यों को 'त्रिमुनि' के नाम से जाना जाता है। प्राचीन व्याकरण में इनका अनिवार्यतः अधययन किया जाता

है।[११]

**सुप्तिङन्तं पदं। १। ४।१४।।**

**वृत्ति --सुबन्तं तिङन्तं पदं संज्ञं स्यात।[१२]**

**उदा. देव +सु -- देवः( सुबन्त-नाम इत्यादी)**

**पठ + ति -- पठति ( तिङन्तं -धातु )**

सुप प्रत्यय (लिंग ,वचन , विभक्ती प्रत्यय) और तिङ प्रत्यय (काल, पुरुष, वचन प्रत्यय) लगने के बाद "पद" ही संज्ञा प्राप्त होती हैं। पद अर्थात् अर्थपूर्ण शब्द सिद्ध होने के बाद संस्कृत वाक्य में पदों को किसी भी क्रममें रखा जा सकता है, इससे अर्थ का अनर्थ होने की कोई भी संभावना नहीं होती है। क्योंकि सभी शब्द विभक्ति और वचन के अनुसार होते हैं और क्रम बदलने पर भी सही अर्थ सुरक्षित रहता है अपितु सूत्रों का गुढार्थ और भावार्थ भी सुरक्षित रहता हैं। लघुसिद्धांत कौमुदी में वर्णित संधि, समास, धातु, कृदन्त आदि संज्ञाओं की सहायता से संहिता में वर्णित सूत्रों का समुचित अर्थ करके सूत्रों का अन्वय करना सरल हो जाता हैं अपितु उनका भावार्थ करना भी सरल हो जाता हैं। संस्कृत भाषा अल्प शब्दों में अधिक ज्ञान संबोधित करती है।

## निरीक्षण तथा विवरण (Observation and Discussion):-

आयुर्वेदीय संहिता ग्रंथोके अध्ययनमे संस्कृत भाषा के योगदानः-

आज के दौरा में संहिता ग्रंथो के अध्ययन कि आवश्यकता हैं, क्योंकि संहिता ग्रंथों की वर्णन शैली में विभिन्न रोगों के निदान एवं चिकित्सा के स्वतंत्र स्थान पाए जाते हैं इन में वर्णित आर्य सूत्रों की

महिमा आधुनिक युग की भाषा में करना भी जरूरी है। क्योंकि उन सूत्रों का भाव अधिक ठोस है। और उनमें प्रचूर वैज्ञानिक विचारणा का तथ्य भरा हुआ है। उनका जो कुछ भी सत्य रहा वह आज भी सत्य है और भविष्य में भी सत्य ही रहेगा। उन्होंने रोगों के बारे में जिनको "साध्य" कहा वह रोग आज भी "साध्य " ही है ,और उन्होंने जिसको असाध्य घोषित किया वह आज भी असाध्य ही है। व्याधि हेतु सेवन के बारे में तथा व्याधि उपक्रमो के संदर्भ में उन्हों जो भी कुछ उद्देश्य रखा आज भी उसी उद्देश्य से वैज्ञानिक लोग अग्रसर है। लक्ष्य में कोई अंतर नहीं हैं। मगर साधनों में विविधता जरूर है। प्राचीन काल में आचार्यों ने जो सिद्धांत स्थिर किए गए थे वें हीं आज भी हैं मगर साधन और द्रव्य अनेक प्रकार के हो गये हैं। अन्यथा" यदि हास्ति तदन्यत्र " कथन की सार्थकता नहीं हो सकती थी।[१३] आयुर्वेद के आचार्य ने जीवन को पूर्ण रूप से देखने का प्रयास किया है उसके शरीर के साथ साथ प्राण तत्व ,मानस तत्व, और आत्म तत्व को भी ध्यान में रखा है।[१४]

**समदोष: समाग्निश्च समधातु मला क्रिया।**

**प्रसन्न आत्मेन्द्रिय मन: स्वस्थ इत्याभिधीयते।।**[१५]

यह संपूर्ण स्वास्थ्य की व्याख्या सुश्रुत संहिता में वर्णित हैं,किन्तु आज आधुनिक वैद्यक में वर्णित स्वास्थ्य व्याख्या(Comp।ete Hea।th Definition by WHO) इनमे हमें समानता दिखति हैं। आर्ष ग्रंथों, दर्शनशास्त्र, तथा व्याकरण शास्त्र इन में वर्णित भाषा तथा आयुर्वेद की भाषा यह प्रकृत्या भिन्न है।

**संशोधनाद्दते येषां रुक्षणं संप्रवक्ष्यते।**

**न तेषां स्नेहनं शतस्तमुत्सन्नकफमेदसाम्।।५३।।**

**अभिष्यण्णाननगुदा नित्यमन्दाग्नयश्च ते।**

**तृष्णा मूर्च्छा परीताश्च गर्भिण्यस्तालुशोषिणः।।५४।।**

चक्र.टीका ---

अस्नेह्यनाह संशोधनाद्दत इत्यादि। येषां रुक्षणं लक्ष्य ते लंघनबृंहणीये अभिष्यंदा महादोषा मर्मस्था व्याधयश्च ते। ऊरुस्तंभप्रभृतयो रुक्षणीया निदर्शगता (सू.स्था.अ.२२)

उपरोक्त श्लोक का अर्थ के संशोधन के बिना शरीर को रुक्षता आती है ऐसा किया जाता है, किंतु

टीकानुसार अर्थ देखा जाए तो स्नेहन वर्ज्य की अवस्थाओं का वर्णन हैं।

**रुक्षःशीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदःखरः।**

**विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति।।५९।।**

**सस्नेहमुष्णंतीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु।**

**विपरीत गुणैःपित्तंद्रव्यैराशुप्रशाम्यति।।६०।।**

**गुरुशीतमृदुस्निग्ध मधुर स्थिर पिच्छिलाः।**

**श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः।।६१।।**

इस श्लोक में दोषों के गुणों का वर्णन किया गया है। उसी के साथ दोषों के गुणों के विपरीत गुणों के द्वारा दोषों का शमन होता

है। सरल अर्थ हुआ किंतु यहां पर विपर्यय तंत्रयुक्ति का प्रयोग हो सकता है जिस के उपयोग से हमें यह ज्ञात होता है की इन समान गुण वाले द्रव्य से दोषों का प्रकोप भी होगा तथा गुरु शब्द से यहां पर रस वीर्य, विपाक, प्रभाव, सर्व एकत्र अर्थ गृहित धरना है, यह चक्रपाणि जी के टीका में विदित किया गया है। उसी समय गुण और गुणी का "अन्योन्य" संबंध आचार्य चक्रपाणि जी प्रकाशित करते हैं। गुणों का शमन गुणी का भी शमन कराता है। श्लोक में वर्णित सरल अर्थ ही भाषांतर में प्रकाशित होता है किंतु श्लोक में वर्णित पदों का अगर संधि विग्रह, समास, धातु विचार, विभक्ति विचार, कृदन्त आदि अनुसार अर्थ किया जाए तथा यही नियम अनुसार टीका में वर्णित विषयोंका भी अर्थ किया जा सकता है।[१६]

शरीरेंन्द्रीय- शरीर+इंद्रिय, प्रयुक्त पद की गुण संधि करके 2 पदों में विच्छेदित किया गया है, अर्थात संधि विच्छेद करके दो विभिन्न पर बने जिसमें पहला पर शरीर है यहां शरीर का शरीर से तात्पर्य की बनावट है जो सभी अंगों को धारण किए हुए हैं और जिस में आत्मा निवास करती है तथा इंद्रिय से तात्पर्य उन अंगों से है जो किसी भी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान करवाती है।[१७]

**क्षय: स्थानंच वृध्दिश्च दोषाणां त्रिविधा गति:।**

**ऊर्ध्व चाधश्च तिर्यश्च विज्ञेया त्रिविधा परा।।११२।।**[१८]

उपरोक्त श्लोक में स्थान का अर्थ इस श्लोक के भाषांतर में दिया गया नहीं है टीका में हमें स्थान का अर्थ स्पष्ट रूप से दिखाई देता है स्थानम् स्वमानावस्थानम् , ।

चरक संहिता चक्रपाणी दत्त टीका सूत्रस्थान अध्याय २०

अंतर्गत वात विकार की व्याख्या की गई है इसके अनुसार वात के ८० नानात्मज व्याधिओं का वर्णन हैं ऐसे ही विद्यालयों में हमें पढाया जाता था, किंतु इसमे द्वंद्व समास का प्रयोग तथा समुच्चय तंत्रयुक्ति कि सहियता से इससे असंख्य अनुक्त वात व्याधिओं का हमें ज्ञान होता हैं।[१९]

इस प्रकार संस्कृत व्याकरण के आधार पर तथा तंत्रयुक्ति और टीका की सहायता से संहिता में वर्णित हर एक श्लोक का अन्वर लगाकर अर्थ किया जाए तो आयुर्वेद के रहस्य उजागर होंगे और चिकित्सा में अधिक सरलता प्राप्त हो सकती है।

चरकसंहिता आयुर्वेद का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह संस्कृत भाषा में है। इसके उपदेशक अत्रेय पुनर्वसु, ग्रंथकर्ता अग्निवेश और प्रतिसंस्कारक चरक हैं।चरकसंहिता की रचना दूसरी शताब्दी से भी पूर्व हुई थी। चरक संहिता में व्याकरण के आधार पर अग्निवेश तंत्र के सूत्र,तथा प्रतिसंस्कारित चरक रचित श्लोक तथा

दृढबल ने पूर्ण किये हुए श्लोक,व्याकरण शास्त्रदृष्ट्या पृथक किये जा सकते हैं।

**अग्निवेश कृतेतन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते।**

**यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित।।(दृढबल)[२०]**

चरक संहिता मेंआये जनपदोदध्वंसनीय(च्.वि.अ.३)आदि शब्दोंका अर्थ पाणिनी व्याकरण हे ज्ञात होता हैं।पाणिनी में विविध जनपदोंका उल्लेख हैं। रोग और औषधियों से सम्बन्धित कुछ पल अष्टाध्यायी में आते हैं।

उदा.गद।६।३।७०- रोग का पर्याय वाची शब्द स्पर्शरोग।३।३।१६।[२१]

**अथातो दीर्घाञ्जीवितीयमध्यायं व्याख्यास्याम:।**

चरक संहिता के प्रथम अध्याय केप्रथम श्लोक में व्याख्यास्याम: इस रुप कर्मणि प्रयोग का वर्णन किया गया है।यह हर अध्याय के शुरुआत में किया गया हैं इस का तात्पर्य हैं, आचार्य आत्रेय जी का उपदेश जो अग्निवेश तंत्र में वर्णन किया है उसका व्याख्यान कर रहा हुं। यह श्लोक मंगलाचरण के स्वरुप समझकर आचार्य चक्रपाणि जी ने इस को अष्टपदात्मक बताया हैं। संस्कृत के महत्व को स्पष्ट रुप से बताते हुए, इसका अर्थ यह हैं कि अष्ट विभिन्न शब्दो तथा पदों के रुप में रचना करना जो कि निम्न हैं,

अथ+अंत:+दीर्घ +जीवितीय+अध्याय+वि+आ+ख्यास्याम:

इन अष्टपदो की संस्कृत व्याकरण की सहायता से संधि करके या संधि विग्रह करके हर शब्द या पद के अर्थ को आसानी से समझा जा सकता हैं।[२२] इसी प्रकार आयुर्वेद में अनेक सामासिक पदों का प्रयोग सुख हैं, उनका विग्रह करके उसमें निहित अर्थ प्राप्त किया जा सकता हैं। उदा. आयुर्वेद ,वात व्याधि ,अनुपान, अष्टौविधीआहार आयातन, दिनचर्या, ऋतुचर्या आदि पदों के विभिक्ति विचार भी इसी तरह आयुर्वेदीय पदों के गुढ अर्थ प्रकाशित करने में सहाय्यता करतें हैं। यदि संधि विग्रह या विभक्ति विचार समुचित स्वरुप में स्पष्ट ना हो तो श्लोक का समग्र अर्थ ही परिवर्तित होत जातात हैं, यह त्रुटी हमें आयुर्वेद संहिताओं के भाषांतरो में दिखाई देते हैं। इसी कारण सूत्रों का सही अर्थ प्रकाशित नहीं होता, और चिकित्साओं में बाधा

उत्पन्न हो जाती हैं। सुश्रुत संहिता आयुर्वेद साहित्य में शल्यतन्त्र की वृहद साहित्य मानी जाती है। धन्वन्तरि द्वारा उपदिष्ट एवं उनके शिष्य सुश्रुत द्वारा प्रणीत ग्रन्थ आयुर्वेदजगत में 'सुश्रुतसंहिता' के नाम से विख्यात हुआ। कालक्रम में ५वीं शताब्दी में नागार्जुन द्वारा इस संहिता में उत्तरतन्त्र जोड़ने के साथ-साथ सम्पूर्ण संहिता का प्रतिसंस्कार भी किया गया। इसके बाद १०वीं सदी में तीसटपुत्र चन्द्रट ने जेज्जट की व्याख्या के आधार पर इसकी पाठशुद्धि की। उनका यह योगदान भी प्रतिसंस्कार जैसा ही था। किन्तु यह सब कार्य संस्कृत भाषामें किये गये हैं। अष्टांग संग्रह तथा अष्टांग हृदय रचयिता वाग्भट प्राचीन युग का अन्तिम संहिताकार तथा नवीन युग का प्रथम संग्रह कार हैं। वाग्भट भारतीय इतिहास के स्वर्ण-युग गुप्त काल की प्रतिनिधि रचना होने के कारण इसमें तत्कालीन आयुर्वेदीय परंपरा एवं सांस्कृतिक दशा का अच्छा परिचय मिलता हैं। इसी से सिद्ध होता है कि अपेक्षाकृत नवीन होते हुए भी आहे चरक सुश्रुत तैसी आर्ष संहिताओं के समकक्ष बृहत्रयी में स्थान प्राप्त हुआ।[२३]

**अत्रि:कृतयुगे चैव द्वापारे सुश्रुतो मत:।**

**कलौ वाग्भटनामा च गरिमाऽत्र प्रदिश्यते।। (हारीत)**[२४]

न केवल व्यावहारिक क्षेत्र में बल्कि सैद्धांतिक क्षेत्र में भी इस का महत्व स्वीकार किया गया।

**निदाने माधव: श्रेष्ठ:सूत्रस्थाने तु वाग्भट:।**

**शारीरे सुश्रुत:श्रेष्ठश्चरकस्तु चिकित्सिते।।**

**(संदर्भ- वै.सु.सा.अ.२श्लो६पृ.क्र.९)**

## परिणाम (Results):-

हर शास्त्र की अपनी शास्त्रीय भाषा होती है जो उसमें निष्णात विद्वानों के लिए सहज होती है। पर दूसरे शास्त्रीय अनुशासनों के लिए, अभ्यस्त विद्वानों के लिए कठिन होती है। इन ग्रंथों के समग्र अध्ययन के लिए इनकी भाषा और शैली पर पूर्ण अधिकार की आवश्यकता होती है। इस प्रक्रिया को अपनाने के लिए व्यापक अध्ययन की आवश्यकता है। कठिनाइयां यह है कि एक ओर आयुर्वेदज्ञ पाठ्य पुस्तकों के आधार पर प्राचीन संहिता ओं का भाषांतरीत किया हुआ अर्थ तो कर लेते हैं, किंतु उनका समीक्षा प्रधान तुलनात्मक अध्ययन नहीं कर पाते और ना ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में तथ्यों का सही आकलन ही कर सकते हैं। तथा संस्कृत व्याकरण के ज्ञान के अभाव में सूत्रों की भ्रम उत्पादक व्याख्या के कारण आयुर्वेद मैं वर्णित विषय वस्तु का सही ज्ञान नहीं हो पाता। अपितु आधुनिक विद्वान ऐतिहासिक दृष्टि तो रखते हैं किंतु आयुर्वेद से अनभिज्ञ रहने के कारण उस विषय के गहराइयों में उनका प्रवेश नहीं हो पाता फलकता वे उसके अंतरंग अध्ययन में असमर्थ हो जाते हैं और इस वजह से अभ्यंतर सांसों का एक महत्वपूर्ण पक्ष दुर्बल रह जाता है जिस कारण उनकी स्थापनायें प्रायः भ्रामक होती है। इस कारण आयुर्वेदज्ञों के गहन अध्ययन के अभाव में आयुर्वेद आधुनिक आयुर्विज्ञान से पिछड़ रहा है। इसी वजह से आयुर्वेद चिकित्सा में तथा संशोधन कार्यों में बाधा उत्पन्न होती है। अतएवं आयुर्वेद में प्रवेश करने के लिए संस्कृत व्याकरण का समुचित ज्ञान अत्यंत आवश्यक है।[२५]

## निष्कर्ष (Conclusion):-

श्रीकृष्णा आयुष विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. बलदेव कुमार ने कहा कि संस्कृत भाषा का ज्ञान, आयुर्वेद को समझने में अहम भूमिका निभाता है, इसलिए आयुर्वेदाचार्य पाठ्यक्रम में संस्कृत विषय को भी अनिवार्य तौर पर शामिल किया जाना चाहिए। उन्होंने कहा कि आयुर्वेद और आयुर्वेद से संबंधित सभी पाठ्यक्रमों के विषय की भाषा संस्कृत ही है, इसलिए संस्कृत विषय को सभी वर्षों के पाठ्यक्रम के दौरान पढ़ाया जाना चाहिए।[२६]

समग्र संहिता का अध्ययन टीका सहित दार्शनिक पार्श्वभूमिका के साथ सटीक व्याकरण कि सहाय्यता से एक साथ होना जरुरी हैं। इसके संदर्भ में विद्यार्थीयों में रुची बढाना आवश्यक है सभी संहिताओं की व्याकरण शास्त्र सहीत व्याख्या होना आवश्यक हैं। विद्यालयों मे संस्कृत भाषाका अध्ययन अंतिम वर्षतक होना चाहिए।

## संदर्भ-ग्रन्थ-सूची:-


१) वैद्यकीय सुभाषित साहित्यम्, संकलन कर्ता एवं व्याख्याकार वै.भास्कर गोविंद घाणेकर, चौखंभा संस्कृत संस्थान,वाराणसी, पुनर्मुद्रित प्रति २००५, अध्याय १, श्लोक क्र.२, पृ.क्र.४

२) वैद्यकीय सुभाषित साहित्यम् ,संकलन कर्ता एवं व्याख्याकार वै.भास्कर गोविंद घाणेकर, चौखंभा संस्कृत संस्थान,वाराणसी, पुनर्मुद्रित प्रति, २००५, अध्याय १, श्लोक क्र.१, पृ.क्र.३,

३) संस्कृत विकिपीडिया https://hi.m.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%B8%E0%A4%82%E0%A4%B8%E0%A5%8D%E0%A4%95%E0%A5%83%E0%A4%A4_%E0%A4%B8%E0%A4%BE%E0%A4%B9%E0%A4%BF%E0%A4%A4%E0%A5%8D%E0%A4%AF

४) चरक संहिता, अग्निवेश,प्रतिसंस्करण चरक, संपूरण दृढबल, चक्रपाणी दत्त टीका,

संपादन वै.यादवजी त्रिकमजी आचार्य, चौखम्बा प्रकाशन, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण २०१८, सूत्रस्थान अध्याय **१** श्लोक **४१**

**५) पा.महाभाष्य प्रस्तावना खंड अ.१पृ.क्र.२**

**६) शब्दकल्पद्रुम**

**७)** चरक संहिता, अग्निवेश, प्रतिसंस्करण चरक, संपूरण दृढबल, चक्रपाणी दत्त टीका, संपादन वै.यादवजी त्रिकमजी आचार्य, चौखम्बा प्रकाशन, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण २०१८, सूत्रस्थान अध्याय **५** श्लोक **३**

**८)** पदार्थ विज्ञान व आयुर्वेद इतिहास, वै.सुशिलकुमार यानपल्लेवार, धन्वंतरी बुक्स ॲण्ड स्टेशनर्स, प्रथम आवृत्ती २०१५, प्रकरण ३, पृ.क्र.२४

**९) चरक संहिता**, अग्निवेश, प्रतिसंस्करण चरक, संपूरण दृढबल, चक्रपाणी दत्त टीका, संपादन वै.यादवजी त्रिकमजी आचार्य, चौखम्बा प्रकाशन, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण २०१८ **चक्रपाणी दत्त टीका सूत्रस्थान अध्याय २०, महारोगाध्याय पृ.क्र.११५**

**१०)** संस्कृत विकिपीडिया
https://hi.m.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%B8%E0%A4%82%E0%A4%B8%E0%A5%8D%E0%A4%95%E0%A5%83%E0%A4%A4_%E0%A4%AD%E0%A4%BE%E0%A4%B7%E0%A4%BE_%E0%A4%95%E0%A4%BE_%E0%A4%87%E0%A4%A4%E0%A4%BF%E0%A4%B9%E0%A4%BE%E0%A4%B8

११) ↑ "How Sanskrit evo lved in India". मूल से 7 जून 2019 को पुरालेखित. अभिगमन तिथि 6 जून 2019. संस्कृत विकिपीडिया https://hi.m.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%B8%E0%A4%82%E0%A4%B8%E0%A5%8D%E0%A4%95%E0%A5%83%E0%A4%A4_%E0%A4%B8%E0%A4%BE%E0%A4%B9%E0%A4%BF%E0%A4%A4%E0%A5%8D%E0%A4%AF)

१२) **लघुसिध्दान्त कौमुदी, संज्ञा प्रकरण।**

**१३)** सौश्रुती, लेखक, डॉ. रमानाथ द्विवेदी, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, अष्टम संस्करण सन १९८८, प्राक्कथन पृ.क्र.१६

१४) वैद्यकीय सुभाषित साहित्यम्, संकलन कर्ता एवं व्याख्याकार वै.भास्कर गोविंद घाणेकर, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पुनर्मुद्रित प्रति, २००५, अध्याय २ सुश्रुत

१५) वाग्भट विवेचन, लेखक-आचार्य प्रियवत शर्मा, चौखंबा विद्याभवन वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६८, उपक्रम पृ.क्र.८.)

१६) चरक संहिता, अग्निवेश, प्रतिसंस्करण चरक, संपूरण दृढबल, चक्रपाणी दत्त टीका,

संपादन वै.यादवजी त्रिकमजी आचार्य, चौखम्बा प्रकाशन, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण २०१८ चक्रपाणी दत्त टीका सूत्रस्थान अध्याय १, श्लोक५९, ६०,६१ (पृ.क्र.-))१६-१७

१७) साहित्य ग्रंथो के निर्माण में संस्कृत भाषा का महत्त्व, कविता शर्मा, डॉ. आयुषकुमार गर्ग, इंटरनॅशनल जर्नल आफ संस्कृत रिसर्च ,२०१९,५(४)-२१३.

१८) चरक संहिता अग्निवेश, प्रतिसंस्करण चरक, संपूरण दृढबल, चक्रपाणी दत्त टीका, संपादन वै.यादवजी त्रिकमजी आचार्य, चौखम्बा प्रकाशन, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण २०१८ चक्रपाणी दत्त टीका सूत्रस्थान अध्याय १,७ श्लोक११२ पृ.क्र.-१०५

१९) चरक संहिता अग्निवेश, प्रतिसंस्करण चरक, संपूरण दृढबल, चक्रपाणी दत्त टीका, संपादन वै.यादवजी त्रिकमजी आचार्य, चौखम्बा प्रकाशन, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण २०१८ संहिता चक्रपाणी दत्त टीका सूत्रस्थान अध्याय 20 श्लोक ११, पृ.क्र.११३

२०) वैद्यकीय सुभाषित साहित्यम्, संकलन कर्ता एवं व्याख्याकार वै.भास्कर गोविंद घाणेकर, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पुनर्मुद्रित प्रति, २००५.अ.२श्लो५ पृ.क्र.९

२१) आयुर्वेद का बृहत इतिहास, अत्रिदेव विद्यालंकार, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, द्वितिय संस्करण १९९१ पाणिनी काल पृ. ८७

२२) चरक संहिता, अग्निवेश, प्रतिसंस्करण चरक, संपूरण दृढबल, चक्रपाणी दत्त टीका, संपादन वै.यादवजी त्रिकमजी आचार्य, चौखम्बा प्रकाशन, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण २०१८ चक्रपाणी दत्त टीका सूत्रस्थान अध्याय १, श्लोक १

२३) वाग्भट विवेचन, लेखक-आचार्य प्रियवत शर्मा, चौखंबा विद्याभवन वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६८, उपक्रम पृ.क्र.८.

२४) वैद्यकीय सुभाषित साहित्यम्, संकलन कर्ता एवं व्याख्या काय वै.भास्कर गोविंद घाणेकर, चौखंभा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, पुनर्मुद्रित प्रति, २००५, अध्याय ३, श्लोक क्र.११, पृ.क्र.१६

२५) वाग्भट विवेचन, लेखक-आ**चार्य प्रियवत शर्मा, चौखंबा विद्याभवन वाराणसी, प्रथम संस्करण१९६८, उपक्रम पृ.क्र. ८**

**२६)**https://www.jagran.com/haryana/kurukshetra-sanskrit-shou ।d-be-made-mandatory-in-ayurveda-dr-ba ।dev-kumar-18712413.htm ।

# संस्कृत भाषा की महत्ता एवं उपादेयता

**डॉ. गौरी चावला**
प्रवक्ता: बी.बी.के.डी.ए.वी. कॉलेज फॉर वुमेन, अमृतसर

संस्कृत शब्द सम् पूर्वक कृ धातु क्त प्रत्यय से निष्पन्न हुआ है। जिस का अर्थ है- शुद्ध, पवित्र, परिमार्जित परिष्कृत भाषा संस्कृत भाषा विश्व की प्राचीनतम भाषा है। इस का साहित्य अगाध समुद्र की तरह गम्भीर एवं विस्तृत है। यह परम प्राचीन होने के साथ-साथ सुसमृद्ध और विकसित भाषा भी है। इसका वाङ्मय विश्व की अन्य किसी भी भाषा के वाङ्मय से अधिक प्राचीन है। यह सत्य है कि गौरवपूर्ण भारतीय संस्कृति की वाहक, आर्य भाषाओं का मूल स्रोत एवं हमारी सार्वलौकिक पूंजी संस्कृत भाषा है। वैदिक काल से लेकर आज तक संस्कृत में साहित्य सृजन की अविरल धारा सर्वदा प्रवाहित होती आयी है। जिस समय लेखन के साधन उपलब्ध नहीं थे, उस समय भी यह भाषा कवियों के कण्ठ का हार बनी थी तथा कण्ठस्थ होकर गुरु-शिष्य परम्परा से आगे बढ़ी थी। यही कारण है कि इस भाषा का प्राचीन साहित्य आज के समय में भी अक्षरशः सुरक्षित रह पाया है। संस्कृत भाषा भारत का प्राण है- 'संस्कृतमेव हि भारतम्'।

संस्कृत भाषा के बिना भारतीय संस्कृति को समझने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। संस्कृति का मूलाधार "संस्कृत" ही है-"संस्कृति संस्कृताश्रिता।"[1]

संस्कृत भाषा का विश्व की प्रमुख भाषाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका शब्द भण्डार विलक्षण होने के विश्व की अनेकानेक भाषाएं इस से समृद्ध हो सकी हैं। इस भाषा ने सम्पूर्ण विश्व को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सन्देश दिया है। इस भाषा में विश्व के सभी प्राणियों के सुखी एवं समृद्ध होने की कामना की गई है-

**'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया:'**

**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।**

वेद विश्व की प्राचीनतम ग्रन्थों की महिमा के साथ ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जगत्-प्रसिद्ध हैं। संस्कृत भाषा अनेक विषयों का ज्ञान-स्रोत है। इसमें भूगोल, इतिहास, गणित, ज्योतिष, दर्शन, धर्म, संस्कृति, राजनीति पुरातत्व आदि अनेकानेक प्राच्य विद्याओं का संगम देखा जा सकता है।

संस्कृत भाषा निबद्ध साहित्य नि:सन्देह एक उच्चकोटि का साहित्य है। यह अपनी उत्कृष्टता, व्यापकता तथा विविधता के कारण प्रत्येक युग में हमारे लिये प्रेरणा का अजस्त्र स्रोत बनता रहा है और बनता रहेगा। अपने इसी उत्कृष्ट साहित्य के परिणामस्वरूप जोन्स, विलियम मोनियर, गेटे, मैक्समूलर, मैकडानल, विंटरनिट्ज आदि जैसे पाश्चात्य विद्वान् संस्कृत भाषा के अध्ययन की ओर आकृष्ट हुए।

आधुनिक युग में संस्कृत भाषा की उपयोगिता उस की व्यापक दृष्टि के कारण है- संस्कृत भाषा सर्वाङ्गीण है। यह सब अङ्गों से परिपूर्ण है। मानव जीवन के लिए चार ही पुरुषार्थ हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। संस्कृत भाषा में इन चारों पुरुषार्थों का बड़े विस्तार तथा विचार के साथ विवेचन किया गया है। कौटिल्य का

"अर्थशास्त्र" तो प्रसिद्ध ही है। इस एक ग्रन्थ के ही अध्ययन से हम संस्कृत भाषा में लिखे गये राजनीति शास्त्र से सर्वाङ्गीण परिचय प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु इस के अतिरिक्त एक विशाल साहित्य अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में हैं। 'कामसूत्र' में गार्हस्थ्य जीवन के लिए उपादेय साधनों का वर्णन बड़े अच्छे ढंग से किया है। इसी सूत्र को आधार मान कर अनेक ग्रन्थों की रचना कालान्तर में को गई। सच तो यह है कि यहाँ 'प्रेयस', 'श्रेयस' उभयविध शास्त्रों के अध्ययन की ओर प्राचीन काल से विद्वानों की प्रवृत्ति रही है।

**धार्मिक दृष्टि:-** धार्मिक दृष्टि से भी संस्कृत भाषा विशेष गौरव रखती है। भारतीय धर्म तथा दर्शन की न्याय, वैशेषिक, जैन, बौद्ध इत्यादि अनेक शाखाएँ कालांतर में उत्पन्न हुई एवं नवीन मतों का भी प्रचार हुआ, परन्तु इन के यथार्थ रूप को जानने के लिये वेदों का अध्ययन आवश्यक है। वेद वह मूल स्रोत है जहाँ से नाना प्रकार की धार्मिक धाराएँ निकल कर मानव हृदय तथा मस्तिष्क को सदा से तृप्त करती आ रही है। मात्र हम भारतीयों के लिए ही नहीं अपितु विदेशियों के लिए भी संस्कृत भाषा का अनुशीलन धार्मिक दृष्टि को लक्ष्य में रख कर विशेष उपादेय है। वेदों के अनुशीलन का ही फल है कि पश्चिमी विद्वानों ने तुलनात्मक पुराण-शास्त्र (कम्पैरेटिव माइथोलाजी) जैसे नवीन शास्त्र को ढूंढ निकाला।

**सांस्कृतिक दृष्टि:-** सांस्कृतिक दृष्टि से भी संस्कृत भाषा का गौरव और भी विशेष रूप से दर्शनीय है। इतिहास के पृष्ठों में यह प्रमाणित हो चुका है कि भारतीय लोग अन्य देशों में अपने प्रमुख को, अपनी सभ्यता को, अपनी संस्कृति को फैलाने के लिए सदा से

उद्योगशील रहे हैं। उन्होंने प्रशान्त महासागर के द्वीपों में जा कर अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। भारतवर्ष और चीन के बीच में जो विशाल प्रायद्वीप है उसे आज 'हिन्दचीन' कहते हैं। इस से सूचित होता है कि उस का आधा अंश चीन का है, परन्तु 13वीं और 14वीं शताब्दी से पहले इसमें चीन का कुछ भी अंश नहीं था यह बिल्कुल हिन्द ही था। परन्तु स्वर्ण की खान होने के कारण जिन भारतीय नाविकों ने इन स्थानों का पता लगाया उन्होंने इसे स्वर्ण भूमि तथा द्वीपों को 'सुवर्ण दीप' नाम दिया। यहाँ जो वांड्.मय विकसित हुआ वह पूर्ण रूप से भारतीय था। इस प्रकार जावा, मंगोलिया, बाली द्वीप आदि में भी संस्कृत साहित्य पहुँचा था।

**कला की दृष्टि:**- इस प्रकार प्राचीनता, अविच्छिन्नता, व्यापकता, धार्मिकता तथा सभ्यता की दृष्टि से परीक्षा करने पर हमारी संस्कृत भाषा नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। विशुद्ध कला की दृष्टि से भी यह साहित्य उपेक्षणीय नहीं है। इस साहित्य में कालिदास जैसे कमनीय कविता लिखने वाले कवि हुए, भवभूति जैसे नाटककार हुए जिन की वशवर्तिनी बन कर माँ सरस्वती ने अपूर्व लास्य दिखलाया, बाणभट्ट जैसे गद्य लेखक हुए, जिन्होंने अपने काव्य से त्रिलोक सुन्दरी 'कादम्बरी' को कमनीय कथा सुना कर श्रोताओं को मंत्रमुग्ध बनाया। जयदेव जैसे गीतिकाव्य के लेखक विद्यमान थे जिन्होंने अपनी मधुर कोमलकान्त पदावली के द्वारा विदग्धों के चित्त में मधुरस की वर्षा की।[2]

**विज्ञान की दृष्टि से:-** संस्कृत में ब्राह्मण ग्रन्थों की उपयोगिता अक्षुण्ण है। ब्राह्मण ग्रन्थों में जहाँ एक ओर सांसारिक क्रिया-कलाओं

का वर्णन है, वहाँ दूसरी ओर विषय का भी गम्भीर चिन्तन है। वैदिक साहित्य में ब्राह्मण-ग्रन्थों के अध्ययन की ओर विद्वानों की अतिशय अभिरुचि उन की उपयोगिता का परिचायक है।

ब्राह्मणग्रन्थों में "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म"[3] अर्थात् यज्ञ को सर्वोपरि कर्म कहा गया है। यज्ञ करने से मनुष्य सब पापों से विमुक्त हो जाता है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही कहा गया है कि यज्ञ से सम्पूर्ण प्रजा का कल्याण होता है। यज्ञ में दी गई हवि वायु के द्वारा अन्तरिक्ष में व्याप्त हो कर सूर्य तक पहुँचती है और मेघों के साथ मिश्रित होकर वर्षा के रूप में पृथ्वी को अभिषिक्त करती हैं। इसी भाषा के साहित्य में प्राकृतिक संपदाओं के सरंक्षण संबंधी उपायों का विस्तृत वर्णन मिलता है।

संस्कृत भाषा मानव को जीवन पर्यन्त उच्चकोटि का मानसिक सन्तुलन तथा बौद्धिक विकास का अवसर भी प्रदान करती है। आज के इस भौतिकवादी युग में जहाँ प्राचीन उदात्त आदर्शों तथा सांस्कृतिक मूल्यों की अवहेलना हो रही है वहाँ संस्कृत भाषा ही समस्त मानवता का पथ-प्रदर्शन कर सकती है।

आधुनिक युग में प्रेमभाव का सर्वथा अभाव होता जा रहा है। पारिवारिक उन्नति से लेकर राष्ट्रीय उन्नति एवं विश्वोन्नति के पीछे प्रेमभाव ही है जो सहभाव प्रदान करता है। ऐसी ही प्रेरणा ऋग्वेद के दसवें मण्डल के 191वें सौमनस्य सूक्त में मिलती है।[4]

आप परस्पर एक होकर रहें, परस्पर मिलकर वार्तालाप करें। समान मन होकर ज्ञान प्राप्त करें और एकगत होकर विरोध त्याग

करके अपना काम करें। ऐसा प्रेमभाव जागृत होने पर ऐक्यभाव पनपता है।[5]

संस्कृत भाषा कर्मशीलता की संदेश वाहिका है। अकर्मण्यता मानव को पुरुषार्थहीन बना देती है। और अन्तत: उसके दुर्भाग्य और पतन का कारण बनती है। इसलिए ऋग्वेद के दशम मण्डल के कितव नामक 34वें सूक्त के 13वें मन्त्र में जुआ छोड़ कर खेती करने एवं परिश्रमशील बनने का संदेश दिया गया है।[6]

इस तरह आपसी वैर विरोध, द्वेष भाव को मिटा कर प्रेम भाव और एकता का सन्देश देने वाला तथा वसुधैव कुटुम्बकम् का पाठ पढ़ाने वाला विश्व का प्राचीनतम संस्कृत साहित्य आधुनिक युग में भी इन्हीं जीवन मूल्यों की स्थापना करने वाला साहित्य इसी भाषा में निहित है।

संस्कृत ग्रीक तथा लेटिन की भान्ति मृत भाषा नहीं है। इसका हमारे जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हिन्दुओं के सभी संस्कार इस भाषा के प्रयोग से ही सम्पन्न होते हैं। आज भी इस भाषा को पढ़ने, लिखने व समझने वाले विद्यमान हैं। आज भी इस भाषा में क्रिया-कलाप चलते हैं, नाटक खेले तथा रेडियो से प्रसारित किये जाते हैं। इसमें पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित होती हैं। यह एक जीवित और आधुनिक भाषा है, जिसका अध्ययन दूसरी भाषाओं के समान आवश्यक हैं। इस भाषा में साहित्य-सृजन कर तथा इसका अध्ययन कर हम नाम व धन कमा सकते हैं।

ऋग्वेद की रचना से आज भी संस्कृत साहित्य की परम्परा अविच्छन्न रूप से प्रवाहमान हो रही है। यह प्रवाह विषम परिस्थितियों में भी क्षीण नहीं हुआ है। इसका प्रमाण है प्रथम

शताब्दी का रुद्रदमन का शिलालेख जिस की रचना विदेशी शक क्षत्रप ने कराई। आधुनिक काल में हिन्दी के राष्ट्र भाषा बन जाने पर भी संस्कृत का महत्त्व अक्षुण्ण है। विदेशों में ऐसे देश हैं जहाँ संस्कृत का महत्त्व अक्षुण्ण है। विदेशों में ऐसे देश है जहाँ संस्कृत पढ़ाई जाती है हिन्दी नहीं।

अनुसंधान के क्षेत्र में भी संस्कृत का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यूरोप, फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी आदि के में 16वीं शताब्दी से संस्कृत पठन-पाठन की प्रवृत्ति चली आ रही है। भारतीय भाषा विज्ञान और पाणिनि व्याकरण पर अमेरिका में विपुल अनुसंधान कार्य हो रहे हैं। संस्कृत का सम्पूर्ण विश्व में प्रचार-प्रसार निरन्तर बढ़ रहा है। इस क्षेत्र में अमेरिका रूस, जर्मनी, फ्रांस, फिनलैंड, चीन, जापान आदि देशों विश्वविद्यालय-स्तर पर संस्कृत एवं प्राच्यविद्या के पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था है। अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृत अध्ययन परिषद् (International Association of Skt. Studies) संस्था में संस्कृत प्राच्यविद्या के विद्वानों का संस्कृतप्रेम परिलक्षित होता है। जर्मन रेडियो से संस्कृत के समाचारों प्रसारण विश्वबन्धुत्व की भावना का परिचायक है। संस्कृत तथा सम्बद्ध विषयों पर अनेकानेक विदेशी भाषाओं में साहित्य प्रकाशन संस्कृत भाषा की उपयोगिता को ही प्रकट करता है।

आधुनिक युग कम्प्युटर का युग है। अमेरिका के दो विद्वानों हॉस्टन तथा डेविड लेनिन ने सॉफ्टवेर तैयार किया है जिससे संस्कृत का अध्ययन सरल एवं सुविधाजनक हो सकेगा। संस्कृत विश्व की वह एक-मात्र भाषा है जो गणितीय विचारों को व्यक्त कर सकती है। अतः कम्प्युटर के क्षेत्र में संस्कृत की उपयोगिता प्रमाणित हुई है।

भारत के कोने-कोने में संस्कृत का प्रचार-प्रसार हो रहा है। 'अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन' जैसी क्षेत्रीय संस्थाएं तथा संस्कृत साहित्य अकादमियों का उद्भव हो रहा है। देश में भावनात्मक एकता स्थापित करने और चरित्र निर्माण की दिशा में भी संस्कृत भाषा का महत्त्वपूर्ण योगदान सिद्ध होगा। इसलिए इस के अध्ययन-अध्यापन से देश का गौरव बढ़ेगा। [7]

निष्कर्षतः प्राचीनता एवं व्यापकता, चरित्र-निर्माण, विश्व बंधुत्व, राष्ट्रीय एकता के लिए संस्कृत का आश्रय लेना जरूरी है और जीवन में भी संस्कृत भाषा की परमावश्यकता है अतः इस भाषा के अध्ययन की आज के समय में पहले से कहीं अधिक उपयोगिता है।

**सन्दर्भ-ग्रंथ-सूची:-**


1. "संस्कृत साहित्य को हरियाणा का योगदान", डॉ. रामदत्त शर्मा प्रका. हरियाणा साहित्य अकादमी चंडीगढ़।
2. 'संस्कृत का समाज शास्त्र' होरा लाल शुक्ल, भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली।
3. शतपथ ब्राह्मण, 1.7.1.5 और तैत्तिरीय संहिता 3.2.1.4
4. संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
   देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ ऋ॰ 10.191
5. समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
   समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ऋ॰ 8 /8 /49 /4
6. अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व, वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।
   तत्र गावः कितवः तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्थः॥ ऋ॰ 10/34/13
7. पिनाकी पत्रिका राजकीय महाविद्यालय भिवानी, वर्ष 1990 में प्रकाशित लेख Learning Sanskrit Through computer by J.B Siwatch Pg. 26.

# संस्कृति प्रवाहिका संस्कृत भाषा
# संस्कृति : संस्कृताश्रिता

**डॉ. संजीवनी श्रीपाद नेरकर**
संस्कृत विभाग प्रमुख, वै. धुंडा महाराज देगलूरकर महाविद्यालय

भारतीय संस्कृति की धरोहर है हमारी संस्कृत भाषा। प्राचीन एवं वैदिक सभ्यता को हमारी संस्कृत भाषा ने संजोके रखा है।

भारतीय संस्कृति में निहित आचार प्रणाली, विचार प्रणाली एवं उपासना प्रणाली ये हमारे संस्कृत भाषा के साहित्य में प्राचूर्य एवं समृद्ध भाव से दिखाई देती है। मेरा प्रयास यही है के मै इस विषय पर सूक्ष्म रीति से अपना चिंतन प्रदान कर संकू।

**1. आचारप्रणाली (Way of Living ):-**

संस्कृत साहित्य मे जो जीवन प्रणाली लिखी गयी है वो आदर्श स्वरूपा है। अपितु यह आदर्श भूमिकानुरूप भी दिखाई देता है। वैदिक साहित्य में विविध देवताओं की भूमिका, कार्य तथा कठोपनिषद में नचिकेता, रघुवंश में रघुराजाओं का चरित्र वर्णन, शाकुंतल में कण्व मुनि, दुष्यंत शकुंतला, स्वप्न वासवदत्तम में वासवदत्ता, भारवि का किरतार्जुनीय, रामायण के आदर्श राम तथा अन्य आदर्श पात्र, इस तरह के बहुत सारे उदाहरण स्वरूप आदर्श जीवन प्रणाली या अपने भूमिका को यथार्थ रूप से सार्थकत्व प्रदान करने वाले चरित्र को भारतीय जीवन पद्धती की उत्कृष्ट कला ऐसा हम कह ही सकते है।

वैदिक सूक्तो में श्रद्धा सूक्त जैसे सूक्त हमें यहाँ सिखाते है कि हमें कि साधारण के साथ अपनी जिंदगी को व्यतीत करना है। इस तरह अनेक आदर्श स्वरूप बातों को हम हमारे साहित्य मे देख सकते

है।

## 2. विचार प्रणाली(Way of Thinking):-

इस प्रणाली को संस्कृत साहित्य मे हम पूर्ण विधायक रूप के साथ ही देखते है। एक अच्छा मन ही अच्छे विचारो को जनहित करने की क्षमता रखता है, 'तन्मे मन : शिवसकल्पमस्तु।' (मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो)

'आ नो भद्रा : क्रतवो यंतू विश्वत: ' ( विश्व के सभी शुभचिन्ह हमे प्राप्त होवे ) असे सद विचारू को कथन करने वाली हमारी वेद वाणी, जो संपूर्ण मानव जाती को किसी भी काल, किसी भी भूमिका के,कार्य के लिए तथा किसी भी परिस्थिति के लिए मार्गदर्शक स्वरूप ही है। वेदो की तरह उपनिषद, दर्शन, पुराण, वेदांग इन सभी ग्रंथो में सद् विचारो के प्रगल्भता व्यापकता ही दिखाई देती है। श्रीमद्भागवद्गीता तो मन, बुद्धि एवं विचार मानसिक क्रियाओ का व्यवस्थापन ग्रंथ ही है। पातंजल योगसूत्र तो मन को ही संकल्पित कर लिखा गया है, ऐसा मुझे लगता है।

## 3. उपासना प्रणाली(Way of Worship):-

संस्कृत साहित्य मे भक्ति उपासना तथा उसके विविध मार्ग स्थिती इन सभी को भी उद्धृत वा स्पष्टीकृत किया गया है।

'श्रद्धा भगस्य मूर्धनि।' ' एको वै ब्रह्म।',' राष्ट्रो वै दैवतम।', इत्यादि इन सभी वेदवाक्य में महत् उपासना पद्धति दिखाई देती है जो पशुत्व को मानव्य तथा मानव्य को देवत्व प्रदान करने का सामर्थ्य रखती है। ''यद भावो तद भवति ' यह क्या कर हमारा तत्त्वज्ञान हमें किसका चिंतन करना चाहिए यह सिखाता है। उपासना के तीनो मार्ग- ज्ञान, कर्म तथा भक्ति यह हमारे संस्कृत साहित्य मे वेदों से लेकर गीता तक विवेचित दिखाई देता है। कर्म ही हमारी पूजा है - ' स्वे स्वे कर्मण्यभिरत :...' इसीलिए अपने-अपने कर्तव्य बुद्धि के

प्रमाणित सत्य कर्म करने से हमे शाश्वत सिद्धि भी मिल सकती है। उपासना प्रणाली मे स्तोत्र वाड.मय का भी बडा योगदान है। मन को एकाग्र करने हेतू योगशास्त्र जैसे कई ग्रंथ मनुष्य के लिए मार्गदर्शक सिद्ध होते है। मनुस्मृति मे अभ्यास करते समय हमारे बैठक भी कैसी होनी चाहिये इसका भी सूक्ष्म चिंतन दिखाई देता है।

भारतीय गरिमा एवं भारतीयत्व निर्माण तथा स्थिर करने में संस्कृत भाषा, ज्ञान एवं साहित्य का माध्यम प्रभावी होगा। यह विचार रखते समय में कुछ मुख्य बिंदू पर प्रकाश डाला गया है।

**1. भाषा सुमख्या मधुरा:-**

यह संस्कृत भाषा प्राचीन काल से अस्तित्व में है। अत : भारत की मुख्य प्राचीन भाषा के रूप में हम इसे अभिलक्षित कर सकते है। आज सभी भाषा तथा प्रदेश अंतर प्रतिबद्ध रूप में है अत: भाषावाद उभर आया है संस्कृत भाषा किसी एक व्यक्ति, एक समूह, एक राष्ट्र, एक प्रदेश की भाषा नहीं है अतः हम संस्कृत को उस हर एक व्यक्ति, उस हर एक राष्ट्र की भाषा कह सकते हैं जिसे स्वयं विकसित, प्रकाशित अवस्था मे ज्ञान के माध्यम से जाना है। इसी कारण यह संस्कृत भाषा सुमुख्या रूप में द्योतित होती है और इस भाषा मे माधुर्य तथा प्रसाद, ओज गुण अंतरनिहीत है। सुभाषित, श्लोक, तथा स्तोत्र साहित्य की माधुर्यता ने सभी जनो को अंतर संवेदित किया है।

**2. प्रचूर साहित्य:-**

भारत के गरिमा को निवेदित करने वाला साहित्य जो प्राचीन है, वो संस्कृत भाषा मे निहित है। भारतीय सभ्यता एवम संस्कृति को कथन करने वाला प्राचीन साहित्य संस्कृत भाषा मे लिखित हैं। वेद साहित्य, वैदिक साहित्य जिसमे वेदांग, दर्शन ,सूत्र वांग्मय, उपनिषद, पुराण साहित्य, मध्ययुगीन साहित्य, कवि कुलगुरू

कालिदास इत्यादी के महाकाव्य, भारवि इत्यादि के महाकाव्य, भास इत्यादि के नाटक वांग्मय तथा आधुनिक काल मे शिवराज्योदय इत्यादि काव्य तक विविध कालकी समाज, राज्य, अर्थ, विवाह, कुटुंब व्यवस्था से ब्रह्मांड तक सभी बिंदुओ का दर्शन मिलता है। भारतीय संस्कृति की आचार प्रणाली, विचार प्रणाली तथा उपासना प्रणाली इस संस्कृत भाषा के साहित्य मे निहीत हैं, अतएव परंपरया श्रूयते- संस्कृतिः संस्कृताश्रिता।

### 3. विधायक शब्द विन्यासः-

अभ्यासक को संस्कृत भाषा का साहित्य सकारात्मक ऊर्जा प्रदान करता हैं। इस उक्ति के पक्ष मे बहुत से उदाहरण दे सकती हूँ। प्रभू सम्मितोपदेशो को अगर हम देखे तो जैसे- सत्यं वद। धर्मं चर। इसको असत्यं मा वद। अधर्मं मा चर। ऐसा भी कहा जा सकता था, अपितु विधायक कृतिशीलता निर्माण हेतु सकारात्मक चीजों को मैं पुनः पुनः उच्चारित करुंगी तो वह साधू वाद हममे सकारात्मक कृतीत्व को प्रेरित करेगा। इसे ही हम आज के power of spoken words के रूप मे भी देख सकते है। हमारे व्याकरण महाभाष्य मे भी कहा गया है- ' 'एको शब्दः सुप्रयुक्त : सम्यक्ज्ञात : कामधूक् भवति। 'इसे हम psychology क्षेत्र में देखे तो वे भी यह बात मानेंगे की हमारा मन सकारात्मक संचेतना से ही जागृत, उल्लसित एवं स्थिर हो सकता है। अथवा ये मत करो वह मत करो, ऐसे ही हम नकारात्मक सूचना देंगे, तो हमारा मन विपरीत दिशा मे ही प्रवृत्त हो जायेगा। यही बात को हमारा तर्कशास्त्र भी संमती देता है। 'अग्निना सिंचेत्।' अग्नि से सिंचन ये तो संभाव्य ही नहीं है इसलिये योग्य शब्द, साकांक्ष शब्द का ही प्रयोग करना उचित होगा, इससे ही योग्य निर्मिति संभाव्य है। सुभगा, साधू सज्जन आर्य ऐसे संबोधन संस्कृत में है, जो सुनने वाले के मन मे आदरभाव तथा नीतिमत्ता को जनित करता हैं। अग्नि सुक्त मे कहा है- ' अग्ने नय

सुपथा राये।' यहा ' सुपथा ' it means, 'on the right track' ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। तथैव, 'श्रद्धया विंदते वसु :।' ऐसा श्रद्धा सूक्त मे भी कहा गया है।' आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वत :।' ' तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।' ऐसा शुक्ल यजुर्वेद मे भी कहा है। ऐसे कई उद्धरण संस्कृत वेदवाङ्मय मे मिलते है। जिनका अगर हम तात्पर्य स्वरूप देखे तो 'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।' तथा ' असतो मा सत् गमय ', ' यद् भद्रम् तन्न आ सुव। ' यही मिलेगा।

**4. सुव्यवस्थित व्याकरण परंपराः-**

माहेश्वर सूत्र से आचार्य पाणिनी जीने अष्टाध्यायी को लिखा। जिससे अनंत काल तक संस्कृत भाषा संवर्धित तो होगी ही, अपितु नियम प्रतिबद्ध भी रहेगी। एक अल्मात्र को भी उन्होने निरर्थक नहीं कहा है। हर एक चीज को हर एक अक्षर हरेक शब्द को बहुत ही सुंदरता तथा सजगता से रखा है। नियम प्रतिबद्ध किया है जिससे कभी भी कुछ अनायास विभाग निर्माण नही हो सकता, इसी कारण हमारे संस्कृत भाषा मे असभ्यवाणी या गाली या कमी दिखाई देती है।

**5. विश्व प्रार्थना की कामनाः-**

हमारी वेद वैदिक प्रार्थनाओं में जिस तरह व्यक्तिगत स्वरूप का विचार है, उसी तरह संपूर्ण विश्व की मानव जाति के लिए भी मांगल्य इच्छा की गई है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्। ', " सर्वे जना सुखिनो भवन्तु।" सर्वे संतु निरामया :। ऐसी सब विश्व के लिए ही क्षेम की कामना करना, बस इसी भाषा को शक्यप्राय हुआ दिखता है। हमारी राष्ट्र वैदिक प्रार्थना अर्थात् वैदिक राष्ट्रगान-

**"आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम।**
**आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम।।**

**दोग्ध्री: धेनुर्वोढ़ाऽनड्वानाशुः सप्तिः**

**पुरन्धियोषा जिष्णु रथेष्ठा: ।"** (शुक्ल यजुर्वेद अ.22, मंत्र22)

इस मंत्र का अगर अर्थ हम देखेंगे,तो हमे हमारे वेदिक ऋषियों की समष्टि भावना तथा समष्टि कल्याण का हेतु अतीव पारदर्शक था, ये समझ आयेगा। यहा इस मंत्र का अर्थ हमे जानना होगा-

"हे ब्रह्म हमारे देश मे विद्वान समस्त वेद आदि ग्रंथो से दैदिप्यमान उत्पन्न हो, शासक पराक्रमी शस्त्र निपुण और शत्रु को अत्यंत पीडित करने वाले उत्पन्न हो, गाव दुग्ध देने वाली और बेल भार ढोने वाला हो, प्रत्येक मनुष्य विजय प्राप्ति वाले स्वभाव वाला, रथगामी और सभा प्रवीण हो, इस यज्ञ कर्ता के घर विद्या, योवन संपन्न और शत्रु को परे फेकने वाले संतान उत्पन्न हो, हमारे राष्ट्र के प्रत्येक मनुष्य का योग और क्षेम उसके उपभोग के लिए सक्षम हो।"

यह अर्थ हम पढ़गे तो यहा 'मैं' का बिलकुल ही स्थान नही दिखाई देगा। बस, दुसरे का ही क्षेम विचार है। समूह कल्याण की ही कामना है और विश्व मांगल्य का ही सर्वतोपरी विचार है। इतना ही नहीं , व्यक्तिगत स्तर पर भी अश्वं च मे, धनं च मे, आदि बहुत सी चीजे खुद के लिए मांगी गई है। आज के उपलक्ष में "लॉ ऑफ अट्रॅक्शन" यह हम इसे कह सकते है। जो हमे चाहिये वो तो हमे मांगना ही पडेगा। संपूर्ण ब्रम्हांड हमे सारी चीजे देने के लिए बैठा हे। वह तथास्तु कहता है।अभी प्रश्न यहा है कि, हम क्या, कैसे, कब और किन शब्दों मे मांगते है? और वह भी सश्रद्ध-अंतकरण से। हमारा तत्त्वज्ञान कहता है "श्रद्धा भगस्य मूर्धनि।" श्रद्धा हमारी "बिलीफ सिस्टीम" ही है जो अमूर्त को भी साकार करा देती है। "ऋषय: मंत्रद्रष्टार: "हमारे ऋषिगण मान्यवर visualization से परिचित थे, मंत्रको ऋषी गणो ने देखा था। जो हमें चाहिये वह हमें पहले ही देखना होगा, यह visualization है, और पहले ऋषि

गणो ने मंत्र को देखा और उनके सामने मंत्र प्रगट हो गये, ऐसा संदर्भ हमने पढ़ा ही है।

6. संस्कृत साहित्य मे आचार एवम उपासना प्रणाली दर्शन:-

हमारे संस्कृत साहित्य मे आदर्श की तो खान है, हर एक साहित्य का चरित्र आदर्श ही है। राम, दुष्यंत, शकुंतला, सीता, हनुमंत, मालविका आदि सभी चरित्र आज के उपलक्ष मे भी आदर्श है। व्यक्तिगत विकास हेतू सभी गुणात्मक एवं चरित्र विकास आदर्शवत है।

इसी तरह हमारी भक्ति तथा उपासना प्रणाली मे भी इतनी शक्ती है, के हम पशुत्व से मानव्य और मानव्य से देवत्व की और चले। और एक प्रगत तथा सुंदर, सुव्यवस्थित समाज का निर्माण करे। हमारा शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आर्थिक, अध्यात्मिक, अधिभौतिक सभी तरह का विकास यहा अपेक्षित है।

**निष्कर्ष:-**

भारतीय संस्कृति की गरिमा और मान अगर किसी साहित्य मे मिलती है, तो वह है संस्कृत साहित्य। संस्कृत भाषा और साहित्य हमे उच्च ध्येय देते है। हममें योग्य धारणा जगाती है और हमारी आयु पूर्ण तया संतुलित कर हममे "मातृदेवो भव", "पितृ देवो भव", "आचार्य देवो भव", "अतिथी देवो भव", " राष्ट्र देवो भव " की नव संचेतना को ताजा रखती है। यदि हम ऐसा करेंगे, सोचेंगे तो हम कह सकते है की हम भारत देश के निवासी है, मै भारतीय हूँ। तीसरा शब्द 'भारतीयत्व', भारतीय-गुणविशेष। भारत मे हर एक क्षेत्र में प्राचीन काल से एक विशिष्ट गुणाधिष्ठित परंपरा पायी जाती है, उस परंपरा के अगर हम पाईक है तो ही हममें भारतीयत्व है, ऐसा हम कह सकते है।

प्राचीन काल से भारतीयो की उच्च जीवनप्रणाली(Art of

Living), विचार प्रणाली(Art of Thinking), उपासना प्रणाली(Art of Worship ) इससे भारत और भारतीयत्व संपूर्ण विश्व मे सातत्य से गौरवान्वित रहा है।

भारतीय जीवन विचार और उपासना प्रणाली को ही हम भारतीय संस्कृति कहते है और हम जानते है- "संस्कृति : संस्कृताश्रिता।" अत: भारतीयत्व जानने के लिए हमे संस्कृत शिक्षा की और ही बढ़ाना होगा। उत्तम जीवन के लिए राम, तथा रामराज्य, इस राज्य की संपूर्ण सुव्यवस्था की झाकी हमें रामायण संस्कृत साहित्य मे मिलती है। उत्तम विचार याने हमारी वेद प्रामान्य विचारधारा, जो हमें प्राचीन काल से आज तक हर एक क्षेत्र मे, हर एक समस्या पर समाधान देती है।" आ नो भद्रा : क्रतवो यन्तु विश्वत :।", "सर्वेsत्र सुखिन: सन्तु।"

समानी व : आकुति:।", इस मंत्र से हमे ऋषियों की प्रगत विचारधाराएं देखने को मिलती है। जो आज आधुनिक यंत्र युग मे भी मनुष्य को मनुष्य बनाये रखती है। और समता, न्याय, बंधुता, सहकार, विवेक बुद्धि, विनयशीलता इत्यादि विचार संपदा की जागरूकता, आवश्यकता हममें सदा जगाये रखती है। और उपासना प्रणाली के लिये हमे इतने उदाहरण मिलेंगे की हमारी स्याही और हमारा कागज खतम हो जायेगा।

Bhakti is Social Force & Murtipuja is Perfect Science. यथा- "श्रद्धा भगस्य मूर्धनि।" इस प्रकार के तत्व जिस विचारधारा के आधारभूत है, वह उपासना- प्रणाली अत्यंत दृढतया सर्वतोकाल मे विराजमान है। वेदकालीन उपासना जो साधिष्ठान है, अतरेव सफल हैं। भारतीय साहित्य उपासना पद्धती के पाँच ही अंगो का अर्थात् स्तवन, कवच, हृदय, सहस्त्रनाम, गीता गान करते दिखाई देती है। यह ऐसा साहित्य है जो अथ से लेकर इति तक सब कुछ

साफ सिखाता है। और यही श्रद्धावान, धर्मवान, नीतिवान और ज्ञानवान भारतीय ही भारत देश का सच्चा नागरिक है। उसी मे सच्ची भारतीयत्व की चेतना सचेत दिखाई देती है। यही सच्चा भारतीय स्वामी विवेकानंद बनकर पूरे विश्व को भारत की पहचान सिर्फ दो lines मे करा देता हैं- "I am came in the Nation, where Tailors are make the Man, Gentleman and I came from the Nation where Virtues are make the Man, Gentleman . यहा है सच्चा भारतीयत्व। इसी भारतीयत्व की ओर हमे जाना है। तो भक्ती भाव से ओतप्रोत उपासना पद्धती, वेदप्रामाण्य विचारधारा, संस्कृत भाषा तथा साहित्य और हमारी यौगिक कर्मण्यता को ही हमे अपनाना पडेगा। तभी हमारा भारतदेश फिरसे सोनेकी चिडियाँ बनकर मधुरगान से चहकेगा और भारत माँ की गौरवगाथा फिरसे बनाये रखेगा।

तथ्य स्वरूप यहाँ हम कह सकते है कि संस्कृत भाषा प्राचीन काल से अपने साहित्य मे भारतीय संस्कृति को निरंतर प्रवाहित कर हमारे पास लातूर ही है परंतु इस भारतीयत्व को जानने के लिए हमें अभ्यासक होकर हमारी चिकित्सा बुद्धि को जागृत कर इन साहित्य में जो अमृतजल कुंभ है उसका जल चखना होगा, तभी यह ज्ञान प्रवाह हमारी आने वाले पीढ़ी को यथार्थ रूप से प्रदान कर सकेंगे। और तभी हमारी धर्म संस्कृत भाषा, संस्कृति तथा साहित्य के अभ्यास प्रवाह में आदन प्रदान की निरंतर प्रक्रिया कायम रहेगी। और हमारा यहा भारत देश पुनः- "सुजलाम सुफलाम" होकर सोने की चिडियाँ हो मधुर स्वर में चहकता रहेगा।

# भारतीय संस्कृति की विश्व व्यापकता

**डॉ. दीप लता**
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, समरहिल, शिमला

सृष्टि के कण–कण में व्याप्त संस्कृति में सार्वभौमिक आदर्शों की प्रेरणा निहित है। किसी भी देश या राष्ट्र की उन्नति एवं उत्थान उसकी संस्कृति पर निर्भर होती है। अर्थात् संस्कृति के उदय एवं अस्त से राष्ट्र या देश का उदयास्त होता है। सृष्टि के कल्याणार्थ सदैव संस्कृति के मंगलमय मार्ग को अपनाया है। अनेक संस्कृतियों की विशिष्टताओं के संश्लेषण से ही श्रेष्ठ संस्कृति का उदय होता है।

साहित्य के समस्त ग्रन्थ जिनके पावन उत्स से निःसृत होकर हमारी संस्कृति आज तक सतत् प्रवाहमान है। वैदिक साहित्य में वर्णित संस्कृति मानव को सुसभ्य पवित्र एवं निर्मलता प्रदान करती है। वेदों में सभ्यता संस्कृति सामाजिकता, नैतिकता, मानवता आदि के सन्देश पद–पद पर मिलते हैं। इसमें राजनीति, आर्थिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक, कलात्मक, धार्मिकता आदि का विशद वर्णन है।

वैदिक संस्कृति असत् से सत् की ओर, तमस् से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर ले जाने वाली संस्कृति है।

**असतो मा सद्गमय**
**तमसो मा ज्योतिर्गमय**
**मृत्योर्मामृतं गमय।**[1]

भारतीय संस्कृति के विकास एवं स्वरूप प्रकाशन में वेदों का गौरवपूर्ण स्थान है। वेद की दृढ़ आधारशिला पर भारतीय धर्म तथा सभ्यता का भव्य विशाल प्रासाद प्रतिष्ठित है। मानव जीवन में आचार–विचार, रहन–सहन, धर्म–कर्म, शिक्षा–दीक्षा, विधि–निषेध आदि जीवन मूल्यों की सभ्यता संस्कृति भली–भांति समझने के लिए वैदिक संहिताओं का ज्ञान परमावश्यक है।

वैदिक संहिताओं में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चार वेदों की गणना की गयी है। वैदिक संहिताओं के अनुसार संस्कृति मनुष्य के सर्वांगीण विकास तथा उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करती है। सृष्टि के सम्पूर्ण विकास तथा निर्वाह को दृष्टि में रखकर ही ईश्वर ने वैदिक संहिताओं में वर्णित संस्कृति में जीवनचर्या की मान्यताएं निर्धारित की गयी है। संस्कृति का अर्थ है– परिष्कार करना। संस्कृति का सम्बन्ध उन समस्त कार्यों, विचारों तथा व्यवहारों से है जो व्यक्ति को

परिष्कार करें, उसे शुद्ध बनाए अर्थात् जो कार्य या विचार मानव मात्र का कल्याण करने वाले हों, मानव में गुणों का आधान कर सकें, उसे आदर्श जीवन जीने की प्रेरणा दे सके, उसके व्यक्तित्व का विकास कर सके वे ही संस्कृति संज्ञा से अभिहित किए जा सकते हैं। इस प्रकार के भाव या विचार उसी व्यक्ति के हो सकते हैं जो स्वयं श्रेष्ठ आचरणवान्, स्वार्थ भाव से रहित, मानवमात्र का हित चाहने वाले, सदैव समद्रष्टा तथा जिनके हृदय में सदैव अपनत्व का भाव हो, वैदिक संहिता अनुसार ऐसे मानव ही संस्कृति के श्रेष्ठ मानव होते हैं।

'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु[2] (डु कृ ञ् करणे) से निष्पन्न संस्कृति शब्द के मूल स्रोत वैदिक संहिताओं सहित वेदांग, दर्शन, उपनिषद् पुराण स्मृतिग्रन्थ, अर्थशास्त्र सहित ऋषिमुनियों द्वारा रचित समस्त संस्कृत साहित्य के ग्रन्थ हैं जिनके पावन उत्स से निःसृत होकर हमारी संस्कृति आज तक सतत प्रवाहमान है। वैदिक साहित्य में वर्णित संस्कृति मानव को सुसभ्य, पवित्र एवं निर्मलता को प्रदान करती है। वेदों में सभ्यता–संस्कृति, सामाजिकता, नैतिकता, मानवता आदि के सन्देश पद–पद पर मिलते हैं। वैदिक संहिताओं में कथित संस्कृति ऐसी है जो अध्यात्मिक तत्त्वों पर आधारित है इसी संस्कृति ने प्रारम्भ से ही सृष्टि कल्याणार्थ सदैव हम सभी को एक समान चित्त होकर रहने की प्रेरणा दी है जिससे सम्पूर्ण राष्ट्र सहित मानव का कल्याण सम्भव है। यथा–

**संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्**
**देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।**[3]

अर्थात् हम सभी के समाज एवं राष्ट्र की उन्नति हेतु चिन्तन एवं मनन एक समान हों, हम सभी की समितियाँ भी समान हों, हम सब मिलकर एक चित्त होकर कार्य करें। इस प्रकार सृष्टि के कण–कण में व्याप्त संस्कृति में सार्वभौमिक आदर्शों की प्रेरणा निहित है। किसी भी देश या राष्ट्र की उन्नति एवं उत्थान उसकी संस्कृति पर निर्भर करती है अर्थात् संस्कृति के उदय एवं अस्त में राष्ट्र या देश का उदयास्त होता है। सृष्टि के कल्याणार्थक सदैव संस्कृति में मंगलमय मार्ग को अपनाया जाता है।

सर्वमंगलकारी भारतीय संस्कृति सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित करती है। विश्वभर के दार्शनिक, राजनीतिज्ञ, नीति–निर्धारक, लेखक, चिन्तक, विचारक इससे प्रभावित होकर यह स्वीकार करते हैं कि इस संस्कृति में निहित 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना में ही सम्पूर्ण विश्व का हित सुरक्षित है। आज यह भावना सम्पूर्ण पृथ्वी के लिए पूरी तरह

अर्थवान् और प्रासंगिक है अतएव सभी को अपने अहं तथा ईर्ष्या के भाव को खुलकर उदारदृष्टि से इस अवधारणा को अपनाना होगा क्योंकि इसी में सर्वस्व का कल्याण तथा मंगल निहित है। हमारी संस्कृति जहां 'वसुधैव कुटुम्बकम' की शिक्षा देती है, वहीं सन्तोष संयम, त्याग भावना से धन कमाने एवं समस्त लिप्सा का परित्याग करने की भी प्रेरणा देती है।

**संचितं संचितं द्रव्यं नष्टं तव पुनः पुनः।**
**कदा विमोक्ष्यते मूढ धनेहा धनकामुक।।**[4]

वैदिक मन्त्रों में जो धन प्राप्ति की अभिलाषा वर्णित है, वह लोककल्याण की भावना से युक्त है–

**ऊँ ईशावास्यमिदम् सर्वयत्किंच जगत्यां जगत्।**
**तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।**[5]

अर्थात् जगत् में जो कुछ भी चल–अचल है वह केवल ईश्वर द्वारा व्याप्त है। उसे त्याग भाव से, अनासक्त मन से भोग करो। ईश्वर द्वारा प्रदत्त भोगों का भोग, प्रेम एवं आदर सहित करें। किसी अन्य के हिस्से के धन का लालच मत करें।

संस्कृति का सम्बन्ध संस्कारों से है और उसका क्षेत्र अपरिसीम है। वह मानव के मन, चित्त, बुद्धि के आचरण या यों कहे कि उसके समूचे अन्तबाह्य संस्कार करती है। वह उदात्त मूल्यों का समुच्चय है।

वह एक ऐसा अधिष्ठान है जो मानव की समस्त चेतना को उर्जावान बनाता है। वह विश्वभर के साथ मानव का सम्बन्ध जोड़ती है। आचरण का संस्कार करने वाला धर्म, विचार का संस्कार करने वाला दर्शन, भाव का संस्कार करने वाली ललित कलाएं और हृदय को संस्कारित करने वाला साहित्य आदि ही संस्कृति के अंग हैं। संस्कृति अन्तः अनुशासन की प्रक्रिया है। संस्कृति शब्द में जितने कम अर्थ उतना ही विशाल और विराट् है संस्कृति मानव की आन्तरिक महानताओं और सौन्दर्य को उद्घाटित करने वाली क्रिया।

संस्कृति मानव में विद्यमान उसके अन्तस्थ सौन्दर्य को दीप्त करने वाली वह प्रक्रिया है जिसके आश्रय से जीवन अपने उच्चतम ध्येय एवं पवित्र संकल्पों को प्राप्त करने का दिग्बोध पाता है। यह संस्कृति अवगुणों को दूर करती है।

जीवन शैली का कौन सा ऐसा पक्ष हो सकता है जिसका सम्बन्ध संस्कृति से न हो अर्थात् समस्त सृष्टि का सम्बन्ध संस्कृति से

है तभी संसार में अच्छाई एवं शुद्धता के कारण सृष्टि में जीवों का निर्वाह हो पा रहा है।

भारतीय संस्कृति उदार एवं व्यापक है। भारतीय संस्कृति में संयम एवं आचरण पर विशेष महत्त्व दिया जाता है। भारतीय संस्कृति में सत्य, अहिंसा, न्याय, ब्रह्मचर्य, त्याग, तपस्या, योग, प्राणायाम एवं सार्वभौमिकता को विशेष स्थान दिया गया है। भारतीय संस्कृति सहयोग और समन्वय, सहानुभूति एवं सद्भाव पर विशेष बल देती है। इसमें संस्कार एवं आश्रम को समाहित किया गया है। सहिष्णुता, सत्यम्, शिवम् एवं सुन्दरम् भारतीय संस्कृति के केन्द्र बिन्दु हैं। भारतीय संस्कृति स्वयं के लिए नहीं दूसरों के लिए कार्य करती है। इसमें राजा हरिश्चन्द्र, दधीचि, कर्ण, अर्जुन जैसे शूरवीर पैदा हुए, राजा हरिश्चन्द्र ने अपना सम्पूर्ण राज्य दान में दे दिया। स्वयं डोम के हाथों बिक गए। उनके बेटे को सर्प ने डंस लिया, उनकी पत्नी घाट पर बेटे का शव प्रवाहित करने आई। राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी पत्नी से भी कर ले लिया। दधीचि की हड्डियों के बाण बने, जिनसे देवताओं ने युद्ध किया और राक्षस परास्त हुए। कर्ण को दानवीर कहा जाता है। बाण से विध् जाने के बाद भी कर्ण ने अपना दांत निकालकर दान दिया।

हमारी संस्कृति हमें यह आदेश नहीं करती कि आप अपने स्वार्थवश किसी का बुरा करें परन्तु हमारी इतनी सुदृढ़ एवं मजबूत है जिसके आश्रय पर समस्त सृष्टि टिकी हुई है अर्थात् वैदिक संहिताओं में पवित्र संस्कृति में दूसरों का शोषण न कर त्याग और परोपकार का भाव है।

भारतीय संस्कृति में सम्पूर्ण संसार को अपना परिवार माना जाता है –

**अयम् निजः परोवेत्ति गणना लघुचेतसाम्।**
**उदारचरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।**[6]

यह मेरा है, यह तेरा है। क्षुद्र लोग ही ऐसा विचार रखते हैं। उदार लोग तो सम्पूर्ण पृथ्वी को अपना परिवार समझते हैं अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वी को सुखी एवं सानन्द देखना चाहते हैं। भारतीय संस्कृति में सबकी प्रसन्नता की कामना की जाती है। कामायनी में भी जयशंकर प्रसाद ने कहा।

**औरों को हंसते देखो मनु, हंसो और सुख पाओ।**
**अपने सुख को विस्तृत कर, औरों को सुखी बनाओ।।**[7]

भारतीय संस्कृति में त्याग पर भी गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। इस संसार में जो कुछ है सब ईश्वर से है, यह संसार ईश्वर से बना, ईश्वर सर्वत्र है, उसने सम्पूर्ण संसार का निर्माण किया है, उसका त्यागपूर्वक उपभोग करना चाहिए।

मनुस्मृति के अनुसार शुद्ध परिश्रम और ईमानदारी द्वारा प्राप्त धन से ही निर्वाह पर जोर दिया गया है। जो कमायी शुद्ध है उसका उपयोग करने वाला व्यक्ति ही वास्तव में शुद्ध कहा गया है। यथा–

**सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परंस्मृतम्**
**योऽर्थेशुचिहिं स शुचिर्नमृद्वारिशुचिः शुचिः।।**[8]

अर्थात् समस्त प्रकार की पवित्रताओं में सर्वाधिक महत्त्व अर्थ (धन) की पवित्रता का है जो अपनी आजीविका ईमानदारी से करता है वह वास्तव में सदा ही पवित्र है। इसके विपरीत अगर धनोपार्जन में पवित्रता नहीं है तो मिट्टी जल आदि से अपने आपको शुद्ध करना व्यर्थ है।

अथर्ववेद[9] में पुनः कहा गया है कि दान देने के लिए धन कमाओ, विलासिता के लिए नहीं। हमारी संस्कृति के अनुसार धन उन्हीं के पास ठहरता है, जो सद्गुणी होते हैं, दुर्गुणी की विपुल सम्पदा भी समय के साथ नष्ट हो जाती है।

**एता एना व्याकरं खिलेगा विष्ठिता इव।**
**रमन्तां पुण्यालक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्।।**[10]

अर्थात् मैं इनको पृथक करता हूँ, जो पुण्यकारक है वे मेरे पास रहे और जो पापी हो वह मुझसे दूर हो जाए।

अथर्ववेद के अनुसार पुण्य से कमाया हुआ धन ही सुख देता है जो पाप से कमाया हुआ धन है वह नाश करने वाला होता है।

**अयज्ञियो हतवर्चा भवति नैनेन हविस्तवे।**
**छिनत्ति कृष्या गोर्धनाद् यं क्रव्यादनुर्वते।।**[11]

अर्थात् वह मनुष्य अपवित्र एवं निस्तेज होता है इसका दिया हुआ अन्न खाने योग्य नहीं होता, कृषि गौ और धन से वह छीना जाता है जिसके साथ शवमांस भक्षक अग्नि चलाता है। भावार्थ– अन्तेष्टि की अग्नि सतत् मनुष्य के साथ रहने से मनुष्य अपवित्र और निस्तेज होता है।

वैदिक संहिताओं के अनुसार संस्कृति ही हमें प्रातः काल से लेकर रात्रि पर्यन्त समस्त क्रियाकलापों को श्रेष्ठ करने की शिक्षा देती है। बड़ों को प्रणाम करना, वैदिक विधि–विधानों सहित प्रातः अपने देवी–देवताओं

को मंगलाचरण द्वारा स्तुति करना, धरती माँ को उसके माहात्म्य हेतु प्रणाम करना, प्रकृति में पीपल सहित तुलसी आदि अनेक औषधिजन्य वनस्पतिजन्य पेड़–पौधों तथा जल, अग्नि इत्यादि के माहात्म्य की जानकर उनके विभिन्न विधियों से स्तुतियां करना भी हमारी संस्कृति का एक मुख्य अंग है।

यज्ञ करना भी हमारी संस्कृति का मुख्य अंग है जिसके विधिवत् सम्पादन से सभी पापों का उपशयन होता है। यज्ञ में प्रयुक्त हवन सामग्री से उठे धुएं से वातावरण पवित्र एवं शुद्ध होता है। अनेक रोग नाशक विषाणु नष्ट होते हैं। यज्ञ से उत्पन्न धुएं से बादल, बादल से वर्षा, वर्षा से जल, अन्न, फूल–फल नाना प्रकार की औषधि जन्य वनस्पतियां उत्पन्न होती हैं। इसी कारण हमारी संस्कृति में यज्ञ को सभी प्रकार के रोगों, पापों का संहारक एवं सुखी जीवन का मार्ग कहा है। यथा–

**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषै।**
**भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात।।**
**अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः**
**यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।**[12]

अथर्ववेद के अनुसार यज्ञ एक प्रकार की नौका है जो इस यज्ञ रूपी नौका पर सवार नहीं होते वह सदा दुःखी रहते हुए निस्तेज होकर क्षीण हो जाते हैं। प्रतिदिन विधि–विधान से किए जाने वाले यज्ञादि कृत्यों से गृहस्थ में हर तरह की सुख–समृद्धि होती है एवं मनोभिलिषित कार्य सिद्ध होते हैं। यथा–

**विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे।**
**कथं ह तत्र त्वं हनो यस्यकृण्मो हविर्गृहे।।**[13]

इस प्रकार यज्ञ मानव जीवन के अभिन्न अंग है जिनमें सर्वस्व के बहुविध कल्याण की भावना निहित है। यज्ञ के विधिवत सम्पादन द्वारा ही मनुष्य लौकिक एवं पारलौकिक सुखों का अनुभव करता हुआ मोक्ष की कामना करता है।

वैदिक संस्कृति हम सभी को एक समान एक चित्त होकर रहने की प्रेरणा देती है इसी राष्ट्र एवं समाज का उत्थान निर्धारित करता है। यथा–

**संगच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।**
**देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।**[14]

अर्थात् हम सभी के समाज एवं राष्ट्र की उन्नति हेतु चिंतन एवं मनन एक समान हों, हम सभी की समितियां भी समान हों, हम सब मिलकर एक चित्त होकर कार्य करें।

अन्य मन्त्र भी इसी प्रकार की शिक्षा देता है–

**समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।**
**समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।**[15]

हमारे परस्पर संकल्प समान हों, हमारे हृदय समान हो, हमारे मन समान हों, हमारे परस्पर किसी से विरोध न हो हमारा अविरोध ही हमें उन्नति के मार्ग पर ले जाएगा।

इस प्रकार संस्कृति मनुष्य के सर्वांगीण विकास तथा उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करती है। संस्कृति सांसारिक सुखोपभोग से ऊपर उठकर पारमार्थिक रूप से जीवनयापन करने की प्रेरणा देती है। सृष्टि के पूर्ण विकास तथा निर्वाह को दृष्टि में रखकर ही संस्कृत साहित्य में संस्कृति में जीवनचर्या की मान्यताएं निर्धारित की गई है। संस्कृति का अर्थ है परिष्कार करना। संस्कृति का सम्बन्ध उन समस्त कार्यों, विचारों तथा व्यवहारों से हैं जो व्यक्ति का परिष्कार करें, उसे शुद्ध बनाएं अर्थात् जो कार्य या विचार मानव मात्र का कल्याण करने वाले हों, मानव में गुणों का आधान कर सकें, उसे आदर्श जीवन जीने की प्रेरणा दे सकें, उसके व्यक्तित्व का विकास कर सकें वे ही संस्कृति संज्ञा से अभिहित किए जा सकते हैं। इस प्रकार के भाव, कार्य तथा विचार उसी मानव के हो सकते हैं जो स्वयं श्रेष्ठ आचरणवान, स्वार्थभाव से रहित, मानवमात्र का हित चाहने वाले, सदैव समद्रष्टा तथा जिनके हृदय में मैं, मेरा, तेरा का भाव महत्त्व न रखता हो, सृष्टि में ऐसे मानव ही संस्कृति के श्रेष्ठ मानव कहे जा सकते हैं।

भारतीय संस्कृति में **'सत्यम् वद धर्मम् चर'** का उपदेश दिया गया है। सत्य बोलना और धर्म पर चलना ही सर्वश्रेष्ठ गुण है। सत्य बोलने वाला, मर्यादित खर्चा करने वाला, पदार्थ जरूरी प्रमाण में खाने वाला तथा जिसने इन्द्रियों पर विजय पा ली हो, वह चैन की नींद सोता है। यथा–

**सुखं शेते सत्यवक्ता सुखं शेते मितव्ययी।**
**हितभुक् मितभुक् वैव तथैव विजितेन्द्रियः।।**[16]

साथ ही भारतीय संस्कृति में चार आश्रम माने गए हैं– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। इनमें से ब्रह्मचर्य आश्रम बचपन से पच्चीस वर्ष तक माना गया है, जिससे बच्चा ब्रह्मचर्य रहकर पच्चीस

वर्ष तक गुरु की सेवा करता हुआ विद्या ग्रहण करता है। गृहस्थ आश्रम में वह विवाह कर दाम्पत्य जीवन व्यतीत करता है, जो पच्चीस वर्ष से पचास वर्ष तक माना जाता है। इसके बाद वानप्रस्थ आश्रम आता है जिसमें व्यक्ति स्वयं घर पर रहते हुए पचास से पच्हत्तर वर्ष का समय व्यतीत करता है। तत्पश्चात् संन्यास आश्रम आता है जिसमें व्यक्ति घर छोड़ देता है और वन में चला जाता है, जहां कुटिया बनाकर जीवन यापन करता है।

संस्कृति का मूल लक्ष्य है– शीलं हि शरणं सौभ्य। अर्थात् सत–स्वभाव ही मनुष्य का रक्षक है। उसी से अच्छे समाज और अच्छे नागरिक का निर्माण होता है। अन्तरात्मा में छिपे हुए सद्गुणों का अधिक से अधिक विकास करना चाहिए। जैसे कि महाभारत में भी कहा गया है– ''समस्त तीर्थों में अन्तरात्मा ही परम तीर्थ है। समस्त पवित्रताओं में अन्तरात्मा की पवित्रता ही मुख्य है।''[17] संस्कृत साहित्य में कथित संस्कृति ऐसी है जो आध्यात्मिक तत्त्वों पर आधारित है। इसी संस्कृति ने प्रारम्भ से ही सृष्टि कल्याणार्थ सदैव विधाता से सभी के सुख की कामना की है–

**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः**
**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभागभवेत।।**

इस प्रकार संस्कृति के माहात्म्य का वर्णन विशद् रूप में उपलब्ध है क्योंकि वैदिक साहित्य से लेकर लौकिक साहित्य में जितने भी ग्रन्थों की रचना हुई है वह सृष्टिकल्याणार्थ ही ईश्वर द्वारा हुई है। मानव जगत् सहित समस्त चराचर जगत् के सुखी जीवन की कामना हेतु ही संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों की रचना हुई है। विश्वव्यापकता हेतु भारतीय संस्कृति अनिवार्य तत्त्व है, यह शरीर सहित आत्मा को भी परिष्कृत करता है। इस संसार में सबसे बहुमूल्य वस्तु तो आत्मा ही है, जब तक आत्मा संस्कृत नहीं होगी विश्व में शान्ति एवं सर्व सुख की कामना कल्पना मात्र ही होगी। अतः भारतीय धर्मग्रन्थों की दृष्टि में संस्कृति वही है जो विश्ववरणीय होती है, क्योंकि संस्कृति आत्मा का शृंगार कर मानव को ऐहिक एवं पारलौकिक दोनों सुख प्रदान करवाने में सहायक होती है। इस प्रकार विश्व में जीवन शैली के समस्त पक्ष का सम्बन्ध संस्कृति से रहता है। भारतीय संस्कृति समस्त विश्व में सर्वश्रेष्ठ संस्कृति के गौरव से सम्मानित है जो समस्त चराचर जगत् का सर्वविध कल्याण करने में सक्षम है।

**सन्दर्भ**

1. वृहदारण्यकोपनिषद्, 1.3.28

2. संस्कृत–हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृष्ठ 1348
3. ऋग्वेद, 10.191.2
4. महाभारत शान्तिपर्व, 172.2
5. ईशावस्योपनिषद् 1, यजुर्वेद 40.1
6. हितोपदेश, श्लोक 72
7. कामायनी
8. मनुस्मृति, 5.109
9. अथर्ववेद, 3.20.5
10. वही, 7.115.4
11. वही, 12.2.37
12. श्रीमद्भगवद्गीता, 3.13–15
13. अथर्ववेद, 7.76.5, 12.2.37
14. ऋग्वेद, 10.191.2
15. वही, 10.191.3
16. सुभाषित, 279
17. महाभारत, शान्तिपर्व 193.18

# भरतमुनिः – नाट्यशास्त्रम्

**Dr. K.V.R.B. VARA LAKSHMI**
HOD of SANSKRIT
Sri Y.N. College, Narsapur, Andhra Pradesh

**उपोद्घातः-**

"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" इत्युक्तिः सर्वैरपि विदिता। भारतीयसंस्कृतिः वेदानामुपरि आधारिता वर्तते। तत्र नाट्यशास्त्रं पञ्चमवेद इति सुविख्यातमस्ति। न केवलं भारतीयाः पाश्चात्याः अपि अस्माकं नाट्यशास्त्रीयं ग्रन्थं गौरवादरेण पूजयन्ति। तेषां Theater इति च शब्दोस्ति। तस्य वैज्ञानिकविश्लेषणं संस्कृतभाषायां विद्यमानेषु नाट्यशास्त्रग्रन्थेषु उपलभ्यते। विश्वसाहित्यस्य सुनिशितपरिशीलनाय उपयुज्यमानं भारतीयम् अलङ्कारशास्त्रम्। अलङ्कारशास्त्रस्य आदिमः ग्रन्थराजः नाट्यशास्त्रम्। अभिनयदृष्ट्या निशितविचारणदृष्ट्या च नाट्यशास्त्रम् अद्यपि प्रामाणिकतां भजति।

भरतमुनिः क्रि. पू. 1000-500 मध्यसमये आसीदिति चरित्रकाराः निर्णीतवन्तः। नाट्यशास्त्रम् आदौ लघुग्रन्थः इति तदनु अनेकाः रचनाः संयोज्य बृहद्ग्रन्थरूपेण परिणत इति अभिप्रयन्ति अभिज्ञाः। अत एव तत्रत्यविषयविभागे, विषयविवरणे एका क्रमपद्धतिः न दृश्यते। अत्र न केवलं काव्यविमर्शः, रूपकविचारोऽपि दृश्यते। अत एव नाट्यशास्त्रस्य आचार्यैः अनेकानि व्याख्यानानि प्रणीतानि। तेषु व्याख्यानेषु अभिनवगुप्तस्य अभिनवभारती व्याख्यानं प्रमुखम्।

तच्च अपूर्णम्। न केवलम् अभिनवगुप्तः, अपि तु उद्भटः,

लोल्लटः, शङ्कुकः, भट्टनायकः, राहुलः, भट्टतौतः, कीर्तिधरः वामदेवः, मातृगुप्तः इत्यादयः व्याख्याकाराः भरतस्य नाट्यशास्त्रस्य व्याख्यानं चक्रुः।

नाट्यशास्त्रपरम्परायां भरतमुनेः "नाट्यशास्त्रम्" इति ग्रन्थोऽद्योपलभ्यमानुषु ग्रन्थेषु प्राचीनतमः। भरतः नाट्यशास्त्रस्य प्रवर्तकः प्रथमः आचार्यः भवति। भरतः इति व्यक्तेः नाम न, किन्तु नाट्यशास्त्रस्य पर्यायः।

नाट्यस्य भरतस्य वा शास्त्रमिति हेतोः नाट्यशास्त्रम्" कोशग्रन्थे अपि एवमस्ति।

"शैलालिनस्तु शैलुषाजायाजीवाः" कुशाश्विनः भरत इत्यपि
नटाश्चारणस्तु कुशीलवाः" इति

भरतस्य नाट्यशास्त्रे 36 अध्यायाः उपलभ्यन्ते। एकैकस्मिन्नध्याये एकैको विषयः प्रतिपादितः। भरतः काश्मीरशैवदर्शनावलम्बी आसीत्। अतः तद्दर्शनानुसारं तद्गतशिवतत्त्वानि ३६ संख्याकानि मनसि निधाय तदनुसारमेव ३६ अध्यायान् निर्ममे इति विमर्शकाः विभावयन्ति।

**अध्यायान्तर्गत विषयाः :-**

१. प्रथमाध्यायस्य प्रधानविषयः नाट्योत्पतिः। नाट्यशास्त्रस्य अस्मिन् अध्याये भरतमुनेः आत्रेयादि ऋषिभिः नाट्यवेदस्य विषये जिज्ञासुपूर्वकं प्रश्नान् पृष्टवन्तौ यत् नाट्यवेदस्य उत्पत्तिः कथं जाता इति? तस्य भागाः कति सन्ति? तस्य प्राप्ते के उपायाः सन्ति, कथञ्च तस्य उपयोगः कर्तुं शक्यते? भरतमुनेः अस्य उत्तरं दत्तवान् यत् नाट्यवेदस्य रचना ऋग्वेदात् पाठ सामवेदात् सङ्गीतं,

यजुर्वेदात् अभिनयम्, अथर्ववेदात् रसं गृहीत्वा च रचितमस्ति।[1]

२. द्वितीयाध्यायस्य प्रधानविषयः मण्डपविधानम्। अस्मिन् अध्याये प्रेक्षागृहलक्षणम्, प्रेक्षागृहस्य त्रिविधः प्रकाराः वर्णिताः सन्ति। यथा- विकृष्टः, चतुरस्रः, त्र्यस्रः[2] चेति, तेषां त्रीणि प्रमाणानि - ज्येष्ठं मध्यम् अवरञ्चेति, रङ्गमञ्च, नेपथ्यगृहं, भित्तिकर्म, मत्तवारुणी, चित्रकर्म, काष्ठविधिः इत्यादि विषयाः चर्चिताः।

३. तृतीयाध्यायस्य मुख्यविषयः रङ्गदेवपूजनम्, देवतानिवेशन-पूर्वपूजाविधिः, बलिकर्म, हवनविधिः, रङ्गपूजनफलम् इत्यादयः विषयाः सन्ति।

४. चतुर्थाध्यायस्य प्रधानविषयः- ताण्डवविधानं वर्तते। अस्मिन् अध्याये भरतमुनिः अमृतमन्थनं त्रिपुरदाहं च प्रस्तुवान्, इति वर्णनं वर्तते तथा च महेश्वरस्य आदेशेन ताण्डवं भरतः अङ्गहरं, करणं, रचकाञ्च ज्ञातवान् इति वर्णनं वर्तते।

५. पञ्चमाऽध्यायस्य मुख्यविषयः- पूर्वरङ्ग- विधानम्। अस्मिन् अध्याये नाट्यप्रयोगस्य आरम्भाद् पूर्वस्य रङ्गस्य विधानम्, नान्दी, प्रस्तावना, ध्रुवाणां च संयोगपाङ्गव्याख्याः सन्ति।

६. षष्ठोऽध्यायस्तु रसाध्यायः इति विश्रुतः। अत्र तु नाट्ये रसाभावादिसङ्ग्रहः, अष्टौ रसाः, स्थायिभावाः, सञ्चारिभावाः, चतुर्विधाभिनयः, विवरणम् इत्यादिविषयाः उक्ताः

७. सप्तमस्याध्यायस्य नाम वर्तते भावव्यञ्जकोत्वम् इति। अस्मिन् अध्याये विभावः, अनुभावः, अष्टौ स्थायिभावाः, द्वात्रिंशत् सञ्चारिभावाः अष्टौ सात्त्विकभावाः एतेषां विनियोगः

---

1. नाट्यशास्त्रम्-१-१७

2. नाट्यशास्त्रम्, २.१३

इत्यादिविषया: चर्चिताः।

८. अष्टमाध्यायः आङ्गिकाभिनयसम्बद्धः वर्तते। अष्टमाध्यायात् अभिनयस्य वर्णनम् आरम्भते।

९. नवमाध्यायः पुष्पिकायां उपाङ्गाभिनयः इत्युक्तः। अस्मिन् अध्याये आङ्गिकाभिनयस्य असंयुतहस्ताः, संयुतहस्ताः तेषां लक्षणानि विनियोग इत्यादिविषयाः चर्चिताः।

१०. दशमाध्यायः चारीविधानम् इत्युक्तम्। अस्मिन् अध्याय चारीशब्दस्य निर्वचनं, करणखण्डमण्डलानां लक्षणानि, भूमिचार्यः षोडश, आकाशाचार्यः षोडश इत्यादिविषयाः चर्चिताः।

११. एकादशाध्यायस्य नाम मण्डलविधानम् अस्ति। अत्र दश आकाशमयमण्डलानि, दश भौममण्डलानि तेषां लक्षणानि च चर्चितानि।

१२. द्वादशाध्यायस्य प्रधानविषयः गतिप्रचारः। अस्मिन् अध्याये पात्राणां रङ्गप्रवेशाविधिः, उत्तमानां स्वभावगतिः, स्त्रीपुरुषाणां गतिः प्रभृतयः विवरीताः।

१३. त्रयोदशोऽध्यायः- करयुक्तिधर्मीव्यञ्जकः इत्युक्तः। अत्र स्थानविभागः, प्रवेशनिष्क्रमणविधिः, कक्ष्याविधिः च आदावुक्ता लोकधर्मीनाट्यधर्मी चेति धर्मीद्विविधम् इति उक्तम्।

१४. चतुर्दशाध्यायः वाचिकाभिनयः छन्दो विधानम् इति प्रसिद्धः। अस्मिन् अध्याये वाचिकाभिनयस्य प्राधान्यम्, अक्षरमाला, वर्णोत्पत्तिस्थानानि, इत्यादिविषयाः वर्णिताः।

१५. पञ्चदशाध्ययस्य वृत्तलक्षणं नाम वर्तते। मालिनी, उद्धता, भ्रमरमाला, सिंलेखा, प्रभावती इत्यादीनां छन्दसां लक्षणनि उक्ता।

१६. षोडशाध्यायस्य नाम काव्यलक्षणम् इति। विभूषणम् अक्षरसङ्घातः, शोभा, अभिमान इत्यादीनि परिदेवनं पर्यन्तानि द्वात्रिंशल्लक्षणानि उक्तानि।

१७. सप्तदशाध्यायः काकुस्वरव्यञ्जनम् इति प्रसिद्धः। संस्कृत-प्रकृतयोः प्रयोगः, मागधी आवन्ती, शूरसेनी, दाक्षिणात्या, इत्यादिभाषाः, पात्राणां सम्भोधन विधिः इत्यादिविषयाः अस्मिन् अध्याये चर्चिता।

१८. अष्टादशाध्यायः दशरूपकलक्षणम् इति विश्रुतः। नाटकम्, प्रकरणम्, अङ्कः, व्यायोगः, भाणः, समवकारः, वीथी, प्रहसनं, डिमः, इहामृगः इति दशरूपाणि तेषां लक्षणानि च अत्र चर्चितानि।

१९. एकोनविंशाध्यायस्तु कथावस्तुनिरूपणम् इति नाम्ना प्रसिद्धः। अस्मिन् अध्याये पञ्चार्थप्रकृतयः, पञ्चावस्था, पञ्चसन्धयः, अर्थोपक्षेपकाः चात्र विवरीताः।

२०. विंशतितमाध्यायस्य प्रसिद्धं नाम वृत्तिविकल्पनम् इति वर्तते। अस्मिन् अध्याये वृत्तीनां समुत्थानाम्, भारती, सात्त्वती कैशिकी आरभटी चेति चतस्रः वृत्तयः विवरीताः।

२१. एकविंशाध्यायस्य प्रधानविषयः आहार्यभिनयः वर्तते। पुस्तः अलङ्कारः अङ्गरचना तथा सज्जीवम् चेति चतुर्विधं नेपथ्यम् इति वर्णितम्। पुस्तानाम् अलङ्काराणाम् अङ्गरचनानां सज्जीवानां प्रकाराश्च उक्ताः।

२२. द्वाविंशाध्यायः सामान्याभिनयः इत्युक्तः पुष्पकायाम्। सामान्याभिनयस्य सम्भवत्त्वम्, हावः भावः, हेला, लीला-दिविहृतपर्यन्तं दशस्वभावजाः, शौर्यादि औदार्यपर्यन्तं सप्त

अयत्नजाः, अत्र विवृताः।

२३. त्रयोविंशाध्यायः, वैशिकः अध्यायः इति विश्रुतः। धात्र्यादिस्त्रीभेदाः, स्त्रीणां स्वभावः, स्त्रीणां प्रकृतिः, पञ्चविधपुरुषाः इत्यादिविषयाः अत्र चर्चिताः।

२४. चतुर्विंशाध्यायः पंस्त्र्युपचाराः इति प्रख्यातः। स्त्रीणां पुरुषाणां च उत्तमाधममध्यमेति त्रिविधा प्रकृतिः, धीरोदात्तः धीरललितः धीरोद्धतः धीरप्रशान्तश्चेति चत्वारः नायकप्रकाराः, इत्यादयः विषयाः विवृताः।

२५. पञ्चविंशाध्यायस्य नाम चित्राभिनय इति। अङ्गाद्यभिनयेष्वनुक्ताः केचित् विषयाः चित्राभिनयः च इत्यस्मिन् अध्याये उक्ता। दूरस्थाभाषणम्, आत्मगतम्, अपवारितम्, जनान्तिकम् चेति वाचः प्रकारः उक्तः।

२६. षड्विंशाध्यायः प्रकृतिविकल्पः विकृतिविकल्प इति वा प्रसिद्धः। त्रिप्रकाराः प्रकृतिः स्त्रीभिः प्रयोगः कार्यः। स्त्रीणांकर्तव्याः, डिमादयः पुरुषप्रयोज्याः इत्यादिविषयाः चात्र चर्चिताः।

२७. सप्तविंशाध्यायः सिद्धिव्यञ्जकः इति प्रसिद्धः। सिद्धीनां लक्षणं, दैवी, मानुषी चेति द्विविधा सिद्धिः, मनुष्यसिद्धिः दशाङ्गा, दैवसमुत्थिताः घाताः, आत्मसमुत्थापरसमुत्थाः घाताः, प्रेक्षाकाणां लक्षणम् इत्यादिविषयाः अत्र चर्चिताः।

२८. अष्टाविंशाध्यायः जातिविकल्पनम् इति कथितः। ततम्, अवनद्धम्, घनम्, सुषिरम् चेति चतुर्विधमातोद्यं सलक्षणम् अत्रोक्तम्। स्वराः, मूर्छनाः, तानाः जायतश्चेति गान्धर्वस्य लक्षणानि अप्युक्तानि।

२९. एकोनत्रिंशाध्यायः आतोद्यविधानम् इति प्रसिद्धः। रससंश्रयाः

जातयः, वर्णालङ्कारलक्षणम्, गीतयः, चत्वारः धातवः, तिस्रो वृत्तयः, आश्रवणा आरम्भः वक्रपाणिः सङ्घोटना परिघट्टना चेति निर्गीतविधानम् इत्यादि विषयाः अस्मिन् अध्याये वर्णिताः।

३०. त्रिंशाध्यायः सुशिरातोद्यविधानम् इति नाम्ना प्रसिद्धः। वंशगतानां स्वराणां विषयविवरणाय अयमध्यायः प्रवृत्तः।

३१. एकत्रिंशाध्यायस्तु तालाध्यायः इति कथितः। द्रुत-मध्य-विलम्बिताः लयाः, चच्चत्पुट : चाचपुटश्चेति तालद्वैविध्यम्, इत्यादिविषयाः अत्र चर्चिताः।

३२. द्वात्रिंशाध्यायस्य नाम ध्रुवाध्यायः इति। ध्रुवालक्षणं, ध्रुवाणां पञ्चभेदाः, ध्रुवजाताः, श्रीविद्युत्द्युतिः त्रियामा प्रतिष्ठा सुप्रतिष्ठा मत्तली जया विजया विस्मया इत्याद्यानां विवरणं, पञ्चविधं गानं, ध्रुवाणां प्रयोगः इत्यादिविषयाः अस्मिन् अध्याये वर्णिताः।

३३. त्रयस्त्रिंशाध्यायः गुणदोषविचारः इत्युक्तः। अस्मिन् अध्याये गातृवादकयोः गुणदोषविचारः एव चर्चिताः।

३४. चतुस्त्रिंशाध्यायः पुष्पिकायां पुष्करवाद्याध्यायः इत्युक्तः। अवनद्धस्य लक्षणम्, अवनद्धभेदाः, वाद्यसंश्रयाः, आतोद्यलक्षणम्, चर्मलक्षणं, वादकगुणाः इत्यादिविषयाः अस्मिन् अध्याये चर्चिताः।

३५. पञ्चत्रिंशाध्यायः भूमिकाविकल्प इत्युक्तः। भूमिकाविन्यासः अस्मिन् अध्याये वर्णितः।

३६. षट् त्रिंशाध्यायस्तु नाट्यशाप इति विश्रुतः। पूर्वरङ्गविधानकथा, नाट्यशास्त्रं प्रति मुनिना शापः अस्याध्यायस्य सारः वर्तते।

३७. सप्तत्रिंशाध्यायस्य नाम गुह्यतत्त्वकथनम् इति वर्तते। नहुषस्य वृत्तान्तम्, नाट्यावतारः, नाट्यशास्त्रस्य माहात्म्यम् चात्र विषयाः

एक विवृतम्। एवं रीत्या नाट्यशास्त्रे प्रतिपाद्यमानाः विषयाः एव।

नाट्यशास्त्रे प्रतिपाद्यमाना विषयाः एव भाषासाहित्यपर्यालोचने उपयुक्ताः भवन्ति। अन्ये च काव्यशास्त्रीयग्रन्थाः मम्मटस्य काव्यप्रकाशः, विद्यानाथस्य प्रतापरुद्रीयम् इत्यादयः ग्रन्थाः भरतस्य नाट्यशास्त्रमाधारीकृत्यैव लिखिताः। प्रायः नाट्यशास्त्रे विचारणीया अंशाः एकादश भवन्ति।

रसा भावा ह्यभिनयाः धर्मी वृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वाराः तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रहः ॥[1]

1. नवरसाः 2. एकोनपञ्चाशत् भावाः 3. चत्वारः अभिनयाः 4. द्वौ धर्मिणौ 5. चतस्रः वृत्तयः 6. चतस्रः प्रवृत्तयः 7. द्वौ सिद्धी 8. सप्तस्वराः 9. चतुर्विधम् आतोद्यम् 10. पञ्चविधं गानम् 11. त्रिविधः रङ्गश्च प्रधानतया विचारिताः। शृङ्गारादिरसनिरूपणस्य मूलग्रन्थः नाट्यशास्त्रमेव। अस्य ग्रन्थस्य मुख्यं मानसीविश्रान्तिः। तत्रैव निर्दिशति भरतमुनिः-

**दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।**
**विश्रान्तिजननं लोके नाट्यमेतत् भविष्यति ॥**[2] इति।

सकलाः विद्याः, सकलाः कलाश्च, सकलानि ज्ञानानि, सकलानि शिल्पानि, योगः, इत्यादयः सर्वेऽपि नाट्ये एव प्रतिष्ठितानि भवन्तीति भरतस्य आशयः।

**न तद्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।**
**नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न विद्यते ॥**[3] इति।

---

1. नाट्यशास्त्र-श्लो-१०-अ-रसाः-पृ.-१९१
2. नाट्यशास्त्र-श्लो-११४-अ-नाट्योत्पत्तिः-पृ.-१५
3. नाट्यशास्त्र-श्लो-११६-अ-नाट्योत्पत्तिः-पृ.-१५

नाट्यशास्त्रमतीव प्राचीनं भवति। तस्य लेखकः भरतमुनिः रसवादी आचार्यः।

**न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्तते।**

**तत्र विभावानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः ॥[1]**

स्थायीभावविषये भरतः एवमकथयत्। यथा नराणां नरपतिः शिष्याणां गुरुस्तथैव भावानां स्थायिभावो महान् भवतीति भरतोपि निगदति।[2] अन्तःकरणेषु सूक्ष्मरूपेणावस्थितश्चित्तवृत्तिरूपोऽयं भावो विभावानुभावव्यभिचारादिभिः पुष्टः सन् रसपदवीमधिरूह्य सहृदयेषु कमत्यनिर्वचनीयं आनन्दं सञ्जनयतीति स्थायीभावः।

विभावः :-

विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इति विभावः विभावितं विशेषतया ज्ञातमिति च विभावः। एवं विधां व्युत्पत्तिं प्रदर्श्य मुनिना भरतेनापि कायिकवाचिकसात्त्विकाभिनयानां विशिष्टं ज्ञानंविभाव शब्देन प्रतिपादितम्।[3]

अनुभावः :-

ये भावा विभावेनोद्भाविता रत्यादीन अनुभवविषयतामानयन्ति ते अनुभावाः इति उच्यन्ते। अनु पश्चात् भाव उत्पत्तिः अनुभावः। स्थायीभावानन्तर सञ्जायमानाः नानाविधशरीरक चेष्टाः अनुभवशब्दव्यपदेश्या भवन्ति। नाट्यशास्त्राचार्ये भरतमुनिरपि अमुमेव

---

1. अमरकोशः-रुद्रवर्गः-श्लो-२
2. नाट्यशास्त्रम्-७/८
   यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।
   एवं हि सर्वभावानां भावं स्थायी महानिह ॥
3. बहवोऽर्थाविभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाः त्रयाः अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति सज्ञितः- नाट्यशास्त्रे-७/४

भावं प्राकटयत् "वागङ्गसत्वकुतोऽभिनयः अनुभाव इत्युदीरयति।[1]

व्यभिचारिभावाः :-

रसाभिव्यञ्जनक्रियायां ये भावा कदाचिदुत्पन्ना कदाचित् विलीनाश्च भूत्वा रत्यादि स्थायिभावेषु विशेषेण सञ्चरन्ति त एव व्यभिचारिभावाः।[2] विशेषेणाभिभूतो रत्यादीन् भावान् शरीरे सञ्चारयन्तीति एतेषां व्यभिचारित्वं सार्थकमेवेति भरतमुनिः।[3]

रसानुभूतिविषये भरतेन विभानुभावव्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति सूत्रं विरचितम्।[4] सूत्रेऽस्मिन् वर्णितौ विभावानुभावौ शारीरकक्रियया सम्बद्धौ। एभिः सर्वैर्विभानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यक्तो रत्यादिस्थायिभावो रसतामापद्यते। एवं काव्ये रस एव जीवानुभूतः इति भरतः मनुते। अतः संस्कृतकाव्यशास्त्रस्य नाट्यशास्त्रं मूलं भवति।

:: इति शम् ::

**उपयुक्तग्रन्थसूची :**


1. नाट्यशास्त्रम्-डा. पोनङ्गि श्रीराम अप्पारावु गुप्तभाव प्रकाशिका सहितम्। वेंकटराम पेपर् प्रेड्क्टस् लिमिटेड्-१९५८
2. अमरकोशः-अमरसिंहः-राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम् (मानितविश्वविद्यालयः) तिरुपतिः-२००२
3. काव्यप्रकाशः-मम्मटः-छोटेलाल् त्रिपाठी शारदा संस्कृत संस्थान्-वाराणसी-२०२३


---

1. वागङ्गाभिनयेनेह यतस्वार्थोऽनुभाव्यते।
   शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वानुभावस्ततः स्मृतः ॥–नाट्यशास्त्रम्-७/४
2. विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः- साहित्यदर्पणम्-३/२/४०
3. विविधमाभिमुख्येषु रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः।
   वागङ्गसत्वोपेताः प्रयोगे रसन्नयन्तीति व्यभिचारिणः ॥–नाट्यशास्त्रे-७-२२८
4. नाट्यशास्त्रम्-६/२०८

4. साहित्यदर्पणम्-चौखाम्बा विद्या भवन्, वाराणसी-१९५७
5. वाक्यपदीयम्-चौखाम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान्, दिल्ली-३८-१९९९
6. संस्कृतव्याकरणशास्त्रेतिहासविमर्शः अशोकचन्द्रगौरवशास्त्री, भारतीयविद्यासंस्थान्- वाराण्सी-१९९७
7. मनुस्मृतिः-पण्डित श्री हरगोविन्दशास्त्रि-चौखाम्बा संस्कृत सीरीज्-बनारस्-१९५२

# मेल्पत्तूर् नारायणभट्टपादविरचितानां स्तोत्रकाव्यानां समीक्षणम्

Dr. Justin P G
Asst. Professor, Dept. of Sanskrit
Little Flower College Guruvayoor, Kerala
University of Calicut

## आमुखम्

श्री भगवत्पादाच्छङ्कराचार्यात् विल्वमङ्गलमुनेश्च परं केरलेषु अवतीर्णेषु प्रथमगणनीयो भवति मेल्पत्तूर्-नारायणभट्टतिरि इति तत्कर्तृकग्रन्थेभ्यः निस्तर्कं वक्तुं शक्यम्। अत इत्थं निस्सन्देहं वदामि यत् महाकवित्वविशिष्टः, प्रौढः शास्त्रकारः अर्थात् षड्दर्शनीवल्लभः एषः भट्टपादः केरलीय इति भाग्यवतीयं भूमिः। मेल्पत्तूर् नारायणभट्टपादः केरलीयानां साहित्यसम्पत् एव भवति। षोडशे शतके जन्म प्राप्तवतः अस्य नारायणस्य जन्मप्रभृतयः च पश्चाद्वर्तिनां कृते प्रेरणाद्योतकाः एव। भक्तिप्रस्थानमार्गे भट्टपादकृतीनां योगदानम् अतुलं वर्तते। अत एव नारायणीयाद्याः कृतयः पण्डितानां मतिमर्दनाय बहुधा उपकुर्वन्ति।

नारायणभट्टपादः केरलीयः सन्नपि कैरल्यां भाषायां नैकमपि ग्रन्थम् अलिखत्। संस्कृतभाषायाम् अतिगौरवज्ञानम् अतिलाघवं प्रयोगसामर्थ्यं च भट्टपादस्य आसीत् इत्यतः तेन विरचिताः सर्वे ग्रन्थाः संस्कृतपराः एव। अनेन बहवः ग्रन्थाः लिखिताः। तेषु केचन प्रकाशिताः केचन अप्रकाशिताः केचन प्रकाशनाय शिष्यन्ते च। यद्यपि सर्वाः कृतयः काव्यशैल्या रचिताः तथापि विषयानुगुणं

काव्यशास्त्रविवेकः क्रियते। तत्र शास्त्रभेदः व्याकरण-मीमांसा-आगम-ज्योतिषभेदैः चतुर्धा विभज्यते। काव्यभेदः पुनरपि षड्प्रकारेण विभज्यते। १.मुक्तकानि २.प्रशस्तिकाव्यानि ३.स्तोत्रकाव्यानि ४.खण्डकाव्यानि अथवा लघुकृतयः ५.शास्त्रकाव्यम् ६.चम्पूकाव्यानि अथवा प्रबन्धकाव्यानि च। एतानि सर्वाण्यपि काव्यानि सहृदयानां संस्कृतिसम्पदं परिपोषयन्ति, साहित्यजगति अनश्वरं परिशोभयन्ति च वर्तन्ते। विचित्रमार्गं सुकुमारमार्गं च यथोचितं प्रकाशयितुं भट्टपादः समर्थः आसीत्।[1] तस्य कृतिषु असाधारणतया इमे गुणाः अनुभूयन्ते। सन्मार्गोपदेशश्रद्धा, भक्तिप्राचुर्यम्, पदसौलभ्यम्, आशयनूतनत्वम्, द्वयार्थपदप्रयोगकौशलम्, वृत्तालङ्काररसादीनाम् औचित्येन प्रयोगः, सम्भाषणचातुर्यम्, शासने स्तवे च पाटवं, लोकव्यवहारमर्मप्रकाशनम्, नानार्थमूलकश्लेषाद्यलङ्काराणां प्रयोगसामर्थ्यम्, व्याकरणादिशास्त्राणाम् आधारेण नूतनपदानाम् आशयानाम् च विभावनासामर्थ्यं वर्णनापाटवम् इत्यादिगुणाः नैसर्गिकतया भट्टपादस्य काव्येषु प्रयोगपथं स्वयमायान्ति। यतः अन्येषु कविषु भट्टपादेन समम् इमे गुणाः न दृश्यन्ते।[2]

**कवेः बहुमुखविज्ञानम्**

नारायणभट्टपादः सर्वशास्त्रविशारदः आसीदिति निस्सन्देहं वक्तुं शक्यते। तस्य नारायणीयमिति एकेनैव काव्येन बहुमुखपण्डितः भट्टपादः इति अनुसन्धातृभिः अवगम्यते। सम्पूर्णं भागवतं कण्ठस्थीकृतवानयं नारायणीये एकादशस्कन्धे तथा चान्यत्र भागवतस्य संक्षिप्तं चित्रणं सुस्पष्टं विरचितवान्। नारायणीयमिति स्तोत्रकाव्यम्,

---

[1] के.सं.सा.च./ भा.३./पृ.सं.१४

[2] के.सं.सा.च./भा.३./ पृ.सं.१४

धातुकाव्यमिति शास्त्रकाव्यम्, प्रक्रियासर्वस्वमिति शास्त्रग्रन्थः तथान्याश्च कृतयः तदीयम् इतरातिशयत्वं व्यक्तं कथयन्ति। अनेन वाचिकाभिनये नटानामुपयोगार्थं बहवः चम्पूप्रबन्धाः अपि विरचिताः उपलभ्यन्ते। ते च प्रबन्धाः पदप्रयोगवैचित्र्ये, अलङ्कारप्रयोगे, उचितरसनिवेशे तथान्येषु च काव्यसम्बन्धिषु तस्य निरुपमां वैदग्धीं प्रकाशयन्तो वरीवर्तन्ते। अस्य काव्यग्रन्थेषु स्तोत्रकाव्यानामधिकृत्यैव अध्ययनं क्रियते अस्मिन् प्रबन्धे।

**स्तोत्रकाव्यानि**

संस्कृतसाहित्यकाव्यानां शाखासु अन्यतमा भवति स्तोत्रसाहित्यशाखा। ऋग्वेदकालादारभ्य अनस्यूततया प्रवहमाना एषा स्तोत्रसाहित्यशाखा न केवलं काव्यगणान्तर्भूता अपि तु भक्तिरसप्रधाना च भवति। अत एव भक्तिरसस्य उत्कर्षतया उत्तमकाव्यहेतुत्वं तथा वृत्तभङ्ग-व्याकरणच्युत्यादिदोषैः अधमकाव्यहेतुत्वं च स्तोत्रकाव्यानां वर्तते। स्तोत्रकाव्यानां अङ्गी रसः सर्वदा भक्तिरेव स्यात्। इष्टदेवतादीनाम् महिमानुवर्णनम्, तेषां वीरकथावर्णनम्, भौतिकाभ्युदयप्रार्थनावर्णनम्, दार्शनिकतत्वानाम् वर्णनम् इत्यादीनि वर्णनानि स्तोत्रविषयपरत्वेन प्रतिपाद्यन्ते। स्तोत्रकाव्यस्य लक्षणमाह -

**नमस्कारस्तथाशीश्च सिद्धान्तोक्तिः पराक्रमः**
**विभूतिः प्रार्थना चेति षड्विधं स्तोत्रलक्षणम्।।**[1]

केरलेषु स्तोत्रकाव्यमिति शब्दापततः सर्वैः सर्वोत्कृष्टं अनन्यतुल्यम् एकमेव स्तोत्रकाव्यं स्मर्यते। तत्तु मेल्पुत्तूर् नारायणभट्टपादेन विरचितं नारायणीयमेव।

---

[1] सं.सा.च / पृ.सं. ४८२

**अज्ञात्वा ते महत्त्वं यदिह निगदितं विश्वनाथ! क्षमेथाः**
**स्तोत्रञ्चैतत्सहस्रोत्तरमधिकतरं त्वत्प्रसादाय भूयात्।**
**द्वेधा नारायणीयं श्रुतिषु च जनुषा स्तुत्यतावर्णनेन**
**स्फीतं लीलावतारैरिदमिह**
**कुरुतामायुरारोग्यसौख्यम्।।**[1]

इत्यादिप्रार्थनानिर्भराणि बहूनि पद्यानि नारायणकृतानि प्रसिद्धानि। मेल्पुत्तूर्-नारायणभट्टपादेन त्रीणि स्तोत्रकाव्यानि विरचितानि। तानि नारायणीयम्, श्रीपादसप्ततिः, गुरुवायूपुरेशस्तोत्रम् च भवन्ति।

**नारायणीयम्**

संस्कृतकाव्येषु अतिप्रधानं प्रथमगणनीयं च स्तोत्रकाव्यं भवति मेल्पत्तूर् नारायणभट्टपादेन विरचितं नारायणीयम्। श्रीमद्भागवतपुराणमथनोत्भूतं नवनीतं खलु नारायणीयम्। शतदशकेषु भागवतपुराणं संगृह्य गुरुवायुपुरेशं संबोध्य वर्णितम् काव्यरत्नमिदं भक्तिरसस्य अङ्गित्वेन रचितं स्तोत्रम् भवति। श्रवणसुभगानि तथा भावप्रकाशोचितानि छन्दांसि अनुप्रासादिशब्दालङ्कारान् प्राप्तावसरान् अर्थालङ्कारान् च सन्निवेश्य भक्तिरसपोषकान् कथांशान् विस्तार्य इतरान् परित्यज्य च वर्णितं काव्यशिल्पं नारायणीयं भक्तिमतां नितराम् आराध्यं वर्तते।

नारायणभट्टपादस्य नारायणीयं निर्मातुं यः सन्दर्भः सन्निहितः तमधिकृत्य प्रचलन्ती कथा सुविदिता खलु[2]।

**वातरोगस्वीकृतिः गिरुपवनप्राप्तिः**

---

[1] नारा. १००/११

[2] प्रथमोऽध्यायः.पृ.सं.

कालेऽस्मिन् गुरुवर्यस्य अच्युतपिषारोटिवर्यस्य वातरोगः एधमानोऽभवत्। गुरुभक्तौ अग्रेसरः नारायणः सामोदं गुरोः कर्मपापं स्वीकृतवान्। क्रमेण अच्युतगुरौ वातक्लेशः न्यूनः जातः। किन्तु भट्टपादे रोगलक्षणानि सम्यक् दृष्टानि।[1] वातरोगेण पीडितस्य नारायणस्य रोगनिवारणाय पूर्ववत् अनेकानि पापपरिहारकर्माणि कृतानि। तथापि रोगशान्तिः नाभवत्। एकदा नारायणस्य एवं शुभोदयः अभवत् यत् गुरुपवनपुरे भजनं करिष्यति तर्हि रोगविमुक्तिः भविष्यति इति। नारायणीयरचनायै शतं दिनानि स्वीकृतानि। शततमे दिवसे श्रीभगवान् नारायणभट्टपादाय वेणुगोपालमूर्तेः रूपेण दर्शनमदात्। तस्य दर्शनस्य साक्षात्कृतिरेव –

**अग्रे पश्यामि तोजो निबिडतरकलायावलीलोभनीयं**
**पीयुषाप्लावितोऽहं तदनु तदुतरे दिव्यकैशोरवेषम्।**
**तारुण्यारम्भरम्यं परमसुखरसास्वदरोमाञ्चिताङ्गै-**
**रावीतं नरदाद्यैर्विलसदुपनिषत्सुन्दरीमण्डलैश्च।।**[2]

इत्यस्मिन् श्लोके कविः भगवत्स्वरूपं दृष्ट्वा सर्वेभ्यः रोगेभ्यः मुक्तो जातः इति प्रतिपादयति। सा अनुभूतिरेव पीयुषाप्लावितोऽहम् इति पदेन कविना स्पष्टीकृतम्। एवं नारायणीयस्तोत्ररचनया गुरोः अच्युतपिषारोटिवर्यात् प्राप्तवातरोगप्रशमनं भगवत्प्रीत्या कृतम्। भगवत्कारुण्यात् असौ गुरुभक्तः आयुरारोग्यसौख्यसम्पन्नः चाभवत्।

भागवते प्रथमतः नवमस्कन्धपर्यन्तं प्रतिपादिताः कथाः नारायणीये आद्यषड्विंशत् दशकेषु संगृहीताः दशमस्कन्धस्य कृष्णावतारकथा सप्तत्रिंशत् दशकादारभ्यते। एकादशस्कन्धस्य

---

[1] नारा./वन.व्या./पृ.सं.५३

[2] नारा. १००-१.पृ.सं.१००१

उद्धवोपदेशकथा नारायणीये ७६ तमे दशके प्रतिपादिता। महाभारते अष्टादशभिरध्यायैः व्याप्ता भगवद्गीता भट्टपादेन एकस्मिन्नेव श्लोके संगृहीता तत्तु -

**जिष्णोऽस्त्वं कृष्ण! सूतः खलु समरमुखे बन्धुघाते दयालुं**
**खिन्नं तं वीक्ष्य वीरं किमिदमयि सखे! नित्य एकोऽयमात्मा।**
**को वध्यः कोऽत्र हन्ता तदिह वधभियं प्रोज्झ्य मय्यर्पितात्मा**
**धर्म्यं युद्धं चरेति प्रकृतिमनयथा दर्शयन् विश्वरूपम्।।**[1]

भट्टपादस्य इदं भक्तिकाव्यम् साधारणभक्तानां कृते भक्तिरेव गरीयसी इति तत्त्वम् अतिसरलेन बोधयति। भगवन्तम् अभिसम्बोध्य कथां कथयितुं कविना कृतः यत्न एव अस्य काव्यस्य विजयरहस्यम्। भक्तेभ्यः भगवन्तं बोधयितुं साक्षात्मार्गः अवलम्बनीय इति लक्ष्यार्थश्च अस्याम् अवतरणशैल्यां निहितः भवति। डा.के. कुञ्जुण्णिराजस्य वचांसि अत्र स्मर्यन्ते। यत् नारायणीयम् श्रुतिमधुरम् सुग्रहम् च इति।[2]

भट्टपादेन शतदशकेषु भगवत्कथां वैशद्येन सूक्ष्मत्वेन च प्रतिपाद्य रोगमुक्तये भगवान् नारायणः प्रार्थ्यते। "वातनाथ परिपाहि मां गदात्" इति प्रार्थना नारायणीये बहुवारं द्रष्टुं शक्यते। 'दशकम्' इति शीर्षकेण विभक्तेषु अध्यायेषु दशाधिकाः श्लोकाश्च क्वचित् विद्यन्ते। अतः नारायणीये षट्त्रिंशदधिकैकसहस्रं श्लोकाः (१०३६) सन्ति। साक्षात् नारायणस्य अलौकिकस्वरूपस्य वर्णनया काव्यमारभ्यते। यथा –

**सान्द्रानन्दावबोधात्मकमनुपमितं कालदेशावधिभ्यां**
**निर्मुक्तं नित्यमुक्तं निगमशतसहस्रेण निर्भास्यमानम्।**

---

[1] नारा.८६/६ पृ.सं.८१८

[2] डा.के.कुञ्जुण्णिराज मे.न.भ/ पृ.सं. ८२

**अस्पष्टं दृष्टमात्रे पुनररु-पुरुषार्थात्मकं ब्रह्मतत्वं**
**तत्तावद्भाति साक्षाद्गुरुपवनपुरे हन्त! भाग्यं जनानाम्।।**[1]

श्लोकेऽस्मिन् सान्द्रानन्दावबोधात्मकं, कालदेशावधिभ्यां, ब्रह्मतत्त्वं भाति इत्यादिभिः विशिष्टपदप्रयोगैः उपनिषत् तथ्यं प्रदर्श्यते। किञ्च ग्रन्थेऽस्मिन् ब्रह्म, जगत्, माया इत्याद्याः वेदान्तसम्बन्धविचाराः अपि वर्ण्यन्ते।

**गुरुवायुपुरेशस्तोत्रम्**

नारायणभट्टपादस्य स्तोत्रकाव्यानां गणनाप्रसङ्गे निरूपकैः भिन्नमतं प्रकट्यते। केचन विद्वांसः स्तोत्रद्वयमिति अपरे तु त्रयमिति च कथयन्ति। वटक्कुम्कूराजराजवर्मामहाराजः केवलं नारायणीयं श्रीपादसप्ततिं च पुरस्कृत्य नारायणभट्टपादस्य स्तोत्रकाव्यनिरूपणमकरोत्। किन्तु उल्लूर् केरलसाहित्यचरित्रे नारायणभट्टपादस्य गुरुवायुपुरेशस्तोत्रमपि स्तोत्रकाव्यविभागे अन्तर्भावयति।[2] नारायणीयस्य वनमाला व्याख्यायाः प्रास्ताविके च अस्य लघुकाव्यस्य परामर्शः दृश्यते। डा.कुञ्ञुण्णिराजा स्वकीये Contribution of Kerala to Sanskrit Literature इति गवेषणप्रबन्धे उल्लूरेण परामृष्टं कार्यं उद्धृतवान्।[3] गुरुवायुपुरेशस्तोत्रे भगवतो नारायणस्य साक्षात् वर्णना एव वर्तते। अस्मिन् अतिरम्याः द्वादशश्लोकाः विद्यन्ते। तत्र प्रसिद्धः कश्चन श्लोकः एवं भवति।

**नष्टाङ्गप्रसराः पदक्रमकथाहीना निलीनाः क्वचित्**
**वेदा रोगदशां गता इव पुरा मीनात्मकेन त्वया।**

---

[1] नारा.१/१ पृ.सं.७३

[2] के.सा.च./पृ.सं.४०२

[3] C.K.S.L./P.No.148

**दैत्यच्छेदचिकित्सयैव नितरामुल्लाघतां प्रापिताः**
**पूर्णाङ्गाः प्रसरन्ति हन्त भुवने वातालयाधीश्वर! ।।**[1]

अत्र मत्स्यावतारस्य वातहरत्वं वर्ण्यते। वेदाः वातरोगिणः इव नष्टाङ्गप्रसराः भूत्वा पदक्रमं विना यदा हयग्रीवेण अपहृताः, तदा हे गुरुवायुपुरेश! त्वया मत्स्यरूपं धृत्वा हयग्रीवासुरवधचिकित्सां विधाय वेदेभ्यः आरोग्यसौख्यं प्रदत्तम् इति सारः। अस्मात् श्लोकात् इदम् अवगम्यते यत् नारायणीयस्य रचनानन्तरमेव गुरुवायुपुरेशस्तोत्रस्य रचना कृता इति। यतः श्लोके विद्यमानानि अङ्गप्रसराः, पदक्रमकथाहीनाः इत्यादिपदानि श्लेषपराणि भवन्ति। अत्र अङ्गप्रसराः इत्यनेन वेदस्य अङ्गानां शिक्षाव्याकरणादीनाम् प्रसराः इत्यर्थः। अस्यैव अर्थान्तरं तु करचरणाद्यङ्गानाम् प्रवर्तनम् इति। उभयमपि नष्टमित्यर्थः। मीनात्मकेन इति पदेन तुञ्जत्त्-रामानुजन्-एषुत्तच्छन्महोदयेन सूचितं मत्स्याद्यवतारवर्णनपरं कार्यं सूच्यते। इत्थं नारायणभट्टपादस्य लघुगुरुतराणि स्तोत्रकाव्यानि यथोचितं नातिविस्तरं प्रतिपादितानि।

**श्रीपादसप्ततिः**[2]

नारायणभट्टपादस्य जीवने भक्तेः कृते विशिष्टं स्थानमासीत्। भगवदाराधनया क्वचित् स्त्रोत्रकाव्यानि, क्वचित् मुक्तकानि च भट्टपादेन रचितानि। गुरुपवनपुराधीशस्य भक्त्यतिरेकेण नारायणीयं व्यधायि। तद्वत् मुक्कोलदेव्याः(मुक्तिस्थलीश्वरी) प्रसादेन तेन श्रीपादसप्ततिः व्यलेखि। अस्यां श्रीपादसप्ततिर्नामकलघुस्तोत्रकृतौ शार्दूलविक्रीडितं नामके वृत्ते एकसप्ततिः पद्यानि भवन्ति। प्रसिद्धायाः मुक्कोलमन्दिरस्य

---

[1] प्र.म./आ. पृ.सं.११

[2] Mangalodaya Press, Trichur,1924/ed.Muriyil Narayanan Nambisan,St. Joseph Press Tvm.,1974

देव्याः पादारविन्दयोः स्पृष्टमिदं काव्यं भक्तिरसाभिषिक्तं भट्टतिरेः अन्यत् काव्यकुसुमं वर्तते। अस्मिन् भट्टतिरेः अन्यादृशाः कवितोत्कर्षाः सुलभतया परिलसन्तीति श्रीपादसप्ततिस्तोत्रस्य अनुशीलनात् अनुवाचकैरवगम्यते। अस्य स्तोत्रकाव्यस्य प्रत्येकं पद्यमपि सहृदयानां कृते रसिकरसायनम् वर्तते। आशयनूतनत्वेन अलङ्कारगौरवेण पदसमुज्ज्वलतया वर्णनाविस्तरेण श्रीपादसप्ततिः नितरां श्लाघनीया समजायत।

**उपसंहारः-**

कथञ्चिदपि वातरोगप्राप्तिः भट्टपादस्य विषये अनुग्रहदायिका आसीदिति तेनैव उक्तम् अस्ति। अनेन कारणेन एव गुरुपवनपुरमन्दिरागमनं, तथा भगवत्भजनञ्चाभूत् इति भट्टतिरिणैव उक्तमस्ति। यथा-

**हे रोगाः मम यूयमेव सुहृदो यैर्निस्पृहोऽहं कृतः**
**काव्यालङ्कृतितर्ककोविदकथायोगेषु भोगेषु च।**
**नो चेत् कृष्णपदारविन्दभजनं वेदान्तचिन्तामपि**
**त्यक्त्वा श्वश्व इति भ्रमादहमहो याम्येव याम्यांदिशं।।**[1]

अत्र वातरोगेण भट्टतिरेः जीविते स्वभावपरिवर्तनं कथमजायत इति बुद्ध्यते। रोगकारणात् कविः भगवत्भक्तः तथा संसारविमुखः चाभवत्। नारायणीयरचनया आयुरारोग्यसौख्यं प्राप्यैव एषः प्रत्यगच्छत्। मम्मटाचार्यस्य काव्यप्रयोजनानुसारं (काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये सद्यपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे)[2] नारायणीयस्तोत्रकाव्यरचनया भट्टतिरेः यशः केरलेषु सर्वत्र परिलसितम्। एतद्वारा भक्तजनानां मनस्सु गुरुवायूर्मन्दिरे प्रतिष्ठिते

---

[1] के.सं.सा.च./भा.३./पृ.सं.१०

[2] का.प्र./पृ.सं.१०

श्रीकृष्णे विश्वासः वर्धितः। एवं मयूरकविरिव भट्टतिरिः भगवत्स्तोत्रात्मककाव्यरचनां कृत्वा वातरोगोत् मुक्तिं प्राप, मम्मटाचार्यस्य 'शिवेतरक्षतये' इति काव्यप्रयोजनानुसारं अमङ्गलरूपस्य वातरोगस्य क्षतिः अभवत् अनया काव्यरचनया। अर्थात् भट्टतिरिः मम्मटनिर्दिष्टेषु काव्यप्रयोजनेषु 'यशसे', 'शिवेतरक्षतये', 'व्यवहारविदे' एतत्त्रयं सम्पादयितुं सहायकाः रचनाः अकरोत्।

**सहायकग्रन्थसूची:-**


१. नारायणीयम् – नारायणभट्टः, साम्बशिवशास्त्री भक्तप्रियाव्याख्यानम्, टि.एस्.एस्., 1934

२. नारायणीयम् (रसिकप्रिया), तृप्पूणित्तुरा संस्कृतकलालायः, रविवर्मसंस्कृतग्रन्थावली, १९८८

३. प्रबन्धमञ्जरी – डा. एन्.पी. उण्णी, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, नवदिल्ली, १९९८.

४. श्रीपादसप्ततिः – नारायणभट्टतिरि, मङ्गलोदयम् प्रस्, तृश्शूर्, १९२४

५. केरलीयसंस्कृतसाहित्यचरित्रम्– वटक्कुम्कूर्-राजराजवर्मा, केरलासाहित्य अकादमी, तृश्शूर्, १९९०

६. Contribution of Kerala to Sanskrit Literature – Dr. Kunjunni Raja, Madras University Sanskrit Series , 1958

# मङ्गलाचरणेषु कालिदासस्य शिवाराधना

**प्रा. डो.निशिता एस. शुक्ल**
संस्कृतविभागाध्यक्षा, एम.पी.शाह आर्ट्स एण्ड सायन्स कॉलेज
सुरेन्द्रनगरम् (गुज.)

## प्रास्ताविकम्

भारतस्य कविरत्नेषु महाकविः कालिदासोऽद्यापि प्रमुखे स्थानैव राजते। कविरयं कालीमातुः वत् शिवस्यापि परमभक्तः आसीत् इति खलु दरीदृश्यते महाकवेः कृतिषु म···लाचरणेषु। यतो हि अनेन महाकविना म···लाचरणे प्रायः शिवस्यैवाराधना कृताऽस्ति। सुरासुराणां देवाधिदेवस्य महादेवस्य अस्य महाकवेरुपरी परमकृपा आसीत्। अतैव अस्य महाकवेः वाक् जगति सार्थेण विख्याता जाता। अस्यै महाकवये कालिदासाय पार्वतीपरमेश्वरौ वागार्थविव संपृक्तौ स्तः। महाकविरयं अस्याः सृष्ट्याः सनातनाम् अष्टमुर्तिं शिवरुपेणैव कल्पयति। कविमतेन सृष्टेः प्रत्येकेषु तत्वेषु भगवतः शिवस्य वासः वर्तते। महाकविना म···लाचरणेषु निर्दिष्टं यद् देवोऽयं सचराचरे व्याप्तः परमपुरुषः वर्तते। कालिदासो वर्णयति यतदस्य जगतः कल्याण हेतुः शिवोऽयं समाधिस्थोऽपि सदैव जागर्ति। महाकविना त्रिषु नाटकेषु नान्दीश्लोके शिवाराधना कृतास्ति। नाट्यशास्त्रानुसारं ग्रन्थारम्भस्तुतिः अर्थात् नान्दीश्लोकः। यथा- आशीर्वचनसंयुक्ता.....पदैरुत ॥( सा.द.६.२४,२५ )

नान्दी।

नाट्यशास्त्रनियमानुसारं नाट्यस्य विघ्नरहिता समाप्तिर्हेतुः

नान्दीश्लोकः गीयते। यथा-नन्दन्ति देवता अस्यामिति नान्दी। एका किंवदन्त्यानुसारं नान्दी शब्दः नदीशब्दात् आगतोऽस्ति। यदा प्रप्रथमो नाट्याभिनयोऽभवत् तदा नन्दिना रङ्गमञ्चस्य रुपं धृतमासीद् अतः यदि रङ्गमञ्चः नन्दी भवति तर्हि तस्योपरी अभिनयमानं नाट्यं तु शिवैव भवति खलु। एतया दृष्ट्या पश्यामश्चेत ज्ञायते यत् नाट्यप्रवृतेः लक्ष्यं तु शिवस्य प्रकटीकरणमेव वर्तते। नान्दीश्लोकमनेनार्थेण परिशिलयामश्चेत वक्तुं शक्यते यत् नान्दी अर्थात् नन्दिने श्रद्धांजामर्पयितुं क्रीयामाणा क्रिया। महाकविः कालिदासः स्वकीयेषु त्रिष्वपि नाटकेषु नान्दीश्लोकेषु नन्दिनः भगवन्तं शिवं स्तुत्वा ननु यथार्थ रुपेण नान्दीक्रियामकरोत्। महाकविना नान्दीश्लोकेषु कृता शिवाराधनाऽत्र विस्तृतेण पश्यामः।

विक्रमोर्वशीयम्।

महाकविना कालिदासेन अस्य रुपकस्य नान्दीश्लोके शिवाराधना कृतास्ति। यथा-

**वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी**

**यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।**

**अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते**

**स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः॥ १ ॥**

श्लोकेऽस्मिन् महाकविना वर्णितं यत् उपनिषत्सु यः परमपुरुषः कथितोऽस्ति सः त्रिलोकं व्याप्य स्थितोऽस्ति। एकपुरुषम्- एकं पुरुषम् एकपुरुषम्। ऋग्वेदीयपुरुष सूक्तानुसारं '' स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।' ' ( पु.सू. ९०.१ ) श्वेताश्वतरोपनिषदि

वर्णितं यत्- एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमांल्लोकान्नीशत ईशिनीभिः( श्वेता.३.२ ) श्वेतास्वतरोपनिषदि एतादृशाः बहवः मन्त्रा शिवस्य परममुरुषत्वं वर्णयति। अन्यत्रापि यथा- सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः। कठोपनिषद्यपि परमात्मानम् ''एकपुरुष' ' कथितोऽस्ति यथा- महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुष परः। (कठ.३.११) श्लोके महाकविनालिखितं यत् भगवतः शिवस्य कृते ईश्वरः इति शब्दः यथार्थ रुपेण परिघटति। अमरकोशकारः ईश्वर शब्दस्य व्युत्पत्ति शिवरुपेण दर्शयति- यथा ईश्वरः= सर्व ईशानः शङ्करश्चन्द्रशेखरः (अ.को.१.३०) भगवद्गीतायामपि ईश्वस्य व्याख्या परमपुरुषरुपेण कृतास्ति यत् उत्तमः पुरुषमस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

**यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥** ( भ.गी.१५.१७)

इशावास्योपनिषदः चतुर्थो मन्त्रोऽपि ईश्वरम् एकपुरुषरुपेण वर्णयति यथा- अनेजदेकं.....मातरिश्वा दधाति॥ ( ईशोपनिषद्. ४ ) एवं महाकविना कालिदासेन वैदिकलौकिकशास्त्राणामध्यायनादेव श्लोके भगवन्तं शिवं परमपुरुषेण वर्णितोऽस्ति। कालिदासः कथयति यदेनमेव शिवं मुमुक्षवः प्राणादिभिः आत्मनि मृगयन्ते।

छान्दोग्योपनिषदि कथितं यत्- ''अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्ठव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्। ( छा.उप. ८.१.१. ) भगवद्गीतायामपि कृष्णेनोक्तं यत्- ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनः तिष्ठति। ( भ.गी. १८.६१ ) केनोपनिषद्यपि निर्दिष्टं यत् महाप्राणस्योपासनया प्राणातीतीश्वरस्यानुभुतिर्भवति। यथा- यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। नेदं यदिदमुपासते॥ ( केन.१.८ ) एवं प्राणायामविद्यया

ध्यानयोगेन ध्यानस्थशिवस्य प्राप्तिर्भवति इति कथनस्याशयः अत्र। महाकविना श्लोकेऽस्मिन्महादेवं स्थाणुत्वेन वर्णितोऽस्ति। स स्थाणुः ..... इति। विष्णुपुराणे स्थाणुः शब्दस्य विवेचनं सम्यक् प्राप्यते यथा_ समुत्तिष्ठज्ज्वलात् तस्मात् प्राजास्ताः सृष्टवानहम्। ततोऽहं ताः प्रजाः दृष्ट्वा रहिता एव तेजसा। क्रोधेन महता तदा पभृति लोकेषु स्थाणुरित्येव विश्रुतम्। अन्यत्रापि मया स्थाणुर्विषये पठितं वर्तते यत्-

**ततः प्रभृति विश्वात्मा न प्रसूते शुभाः प्रजाः।**

**स्थाणुवन्निश्चलो यस्मात् स्थितः स्थाणुरतः स्मृतः॥**

महाकविना कालिदासेन शिवः भक्तियोगेन सुलभः इति कथितं तन्ननु सत्यमेव यतो हि अस्माभिः वेदपुराणानां कथाभिः श्रुतमस्ति यत् देवदानवगन्धर्व- मानवादिभिः भक्त्यैव भगवान् शिवः प्रसन्नः कृतोऽस्ति। कालिदासः कथयति यत् निःश्रेयसाय अपि शिवैव एकैश्वरः विद्यते। वेदपुराणादिषु सर्वेषु साहित्येष्वपि शिवः मोक्षेश्वरः कथितः। शिवैव मोक्षस्थितिनाशहेतुः विद्यते। अयं मृत्युञ्जयः महादेवः मोक्षदाताऽस्ति। उर्वारुकमिव बन्धनात् मृत्यर्मोक्षीय मामृतात्।

एवं महाकविना विक्रमोर्वशीयस्य नान्दीश्लोकेन भगवन्तं शिवम् एकपरमपुरुषत्वेन निदिर्ष्टोऽस्ति। एवमेव शिवः ईश्वरः इति विशेषणेन यथार्थः कृतः इत्यपि दृष्टमत्र। महाकविना शिवस्य सर्वव्यापकतापि सिद्धा कृता। अत्र महाकविना कालिदासेन कृतं महादेवस्य वर्णनं सर्वविधशास्त्रसम्मतं वर्तते। महाकविना शिवस्य कृते यानि यानि विशेषणानि श्लोकेऽस्मिन् प्रयुक्तानि तानि तानि सर्वाण्यपि तया रीत्यैव वेदोपनिषत्पुराणादिषु निर्दिष्टानि सन्ति। एवं महाकविना नान्दी श्लोकत्वेन निर्दिष्टः श्लोकोऽयमुत्तमो यथार्थश्च वर्तते।

**मालविकाग्निमित्रम्।**

महाकवेः कालिदासस्य ग्रन्थविवेचकाः महाकवेः वैदुष्य-क्रमाधारेण मालविकाग्निमित्रं रुपकं द्वितीये क्रमे स्थापयन्ति। महाकविना अस्मिन् रुपकेऽपि शिवाराधना कृता।

**एकैश्वर्यै स्थितोऽपि प्रणतबहुफलो यः स्वयं कृत्तिवासाः।**
**कान्तासंमिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां यः परस्ताद्यतीनाम्॥**
**अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः।**
**सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः॥ १ ॥**

श्लोकोऽयं परिशीलयामश्चेत् ज्ञायते यत् महाकविना यथा भगवन्तं शिवं विक्रमोर्वशीये वर्णितोऽस्ति तथा नात्र। विक्रमोर्वशीये त्रिषु लोकेषु व्याप्यमाणस्य परमेश्वरस्य शिवस्य अलौकिकं दिव्यं च स्वरुपं वर्णितमस्ति। तर्हि श्लोकेस्मिन् कालिदासेन महादेवस्य लौकिकं किन्तु जीतेन्द्रियं अनासक्तं रुपं च दर्शितमस्ति। अत्रापि कालिदासः शिवम् ' एकम् ' इति विशेषणेन वर्णयति। कालिदासेनात्र शिवः '' एकोऽयमद्वितीय '' इति भावेन वर्णितोऽस्ति। महाकविना श्लोकेऽस्मिन् शिवस्य परस्परेण भिन्नानि रुपाणि निर्दिष्टानि सन्ति। शिवः स्वयं चर्मवस्त्रं धरति किन्तु भक्तेभ्यः बहुफलदायकोऽस्ति। शिवसम्बन्धीपुराणग्रन्थेषु शिवस्य शब्दचित्रं निर्दिष्टमस्ति। तदनुगुणं शिवः निर्विकारी देवो विद्यते। पुष्पदन्तः शिवमहिम्नस्तोत्रे शिवस्य निर्विकारीरुपं वर्णयति। यथा-स्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचा सहचराश्चिताभस्मालेपः स्त्रगपि नृकरोटीपरिकरः।

अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलं तथापि स्मतृर्णां वरद परमं मङ्गलमसि ॥२४॥

शिवमहिम्नः श्लोकोऽयमस्य मङ्गलाचरणस्य प्रथमचरणं समर्थयति। बाह्यस्वरुपेण अमङ्गलकारी देवोऽयं परममङ्गलकारी विद्यते। अतैव महाकविना अत्र द्वे भिन्ने स्वरुपे वर्णिते स्तः यथा प्रणतबहुफलः, कृत्तिवासः। महाकविना शिवस्य कृतेलिखितं यत् कान्तासंमिश्रदेहः। शिवस्यार्धदेहभागे पत्नी (नारी) विराजते। महादेवस्येदं स्वरुपं पत्नीं प्रति अनन्यस्नेहभावं प्रकटयति। अर्धनारीनटेश्वरस्य सदैव वामभागे नारी विराजते तथापि शिवः जीतेन्द्रियोऽस्ति। अर्धनारीनाटेश्वरुपं वर्णयनेकः श्लोकः प्राप्यते यथा-

**स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधारुपो बभूव ह।**
**स्त्रीरुपो वामभागांशो दक्षिणांश पुमान् स्मृतः॥**

महाकविना शिवः अविषयी कथितः। न विद्यन्ते विषयाः शब्दादयः येषु तेऽविषयाः। कामविजयीशिवस्य कृते ईदं विशेषणं ननु योग्यमेव वर्तते। महाकविकालिदासेनैव शिवस्य अस्य स्वरुपस्य सम्यग् वर्णनं कुमारसम्भवे तृतीयेसर्गे कृतमस्ति। कालिदासः वर्णयति यत् शिवोऽयम् अष्टाभिः तनुभिः कृत्स्नं जगत् बिभ्रति। शिवस्य अष्टमूर्तेः स्वरुपं बहुषु स्थानेषु प्राप्यते यथा विष्णुपुराणे निर्दिष्टं वर्तते यत्-

**सूर्यो जलं मही वायुर्वह्निराकाशमेव च।**
**दीक्षितो ब्राह्मणः सोम इत्येतास्तनवः क्रमात्॥**

( वि.पु.१/८/८ )

स्कन्दपुराणे आवन्त्याखण्डेऽन्धकासुरविरचितशिवस्तुतौ अपि निर्दिष्टमस्ति यत्-यस्याखिलं जगदिदं वशवर्ति नित्यं योऽष्टाभिरेव तनुभिर्भुवनानि भुङ्क्ते। ( स्क.पु.पृ-७२२ )

महाकविना कालिदासेन मालविकां विहाय कुमारसम्भवे ( १.५ ) शाकुन्तले ( १.१ ) रघुवंशे ( २.३६ ) च शिवस्य अष्टमूर्तेः उल्लेखः कृतोऽस्ति। हर्षचरितेऽपि निर्दिष्टं दृअवनिप.....मूर्तिरष्टावपि ध्यायन्ती। ( हर्ष.च.उ.१ ) अत्राष्टमूर्तेः अन्योऽप्येकोऽर्थो तथा विद्यते यत् शिवः अणिमादयः अष्टसिद्धिं च धारयति। एताः सिद्धयः अतिमानवशक्तिः वर्तते। यथा-

**अणिमा लधिमा प्राप्तिः प्रकाम्यं महिमा तथा।**

**ईशित्वं च विशित्वं च तथा कामवसायिता॥**

भगवान् शिवोऽष्टमूर्तिभिः समग्रं जगत् बिभ्रति तथापि तस्य अभिमानः नास्ति। अयं शिवः निराभिमानि निर्विकारी निजदेवश्च वर्तते। कालिदासः श्लोकेऽस्मिन् प्रार्थयते यदेतादृशः शिवः जीवने सन्मार्गमवलोकनाय समस्तानां जानानां तामसीं वृत्तिं दूरीकुर्यात्।

एवं महाकविना कालिदासेन अस्य रुपकस्य मङ्गलाचरणे वेदपुराणादि शास्त्रोक्त जीतेन्द्रियरुपशिवस्य अष्टमूर्तेः आराधना कृताऽस्ति। अपि च समस्तानां लोकानां कृते शिवकृपायाः भावः प्रकटितोऽस्ति।

## रघुवंशम्

काव्यकृतिषु महाकवेः श्रेष्ठतमा कृतिः वर्तते। महाकविना अस्यां कृतौ भवतुनाम भगवतः रामस्य चरित्रचित्रणं कृतं किन्वारम्भस्तु देवाधिदेवेन कृतः कविना।

**वागार्थाविव सम्पृक्तौ वागार्थप्रत्तिपतये।**

**जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ १ ॥** ( रघु.१.१ )

महाकविना त्रिषु नाटकेषु यादृश्यः शिवारधनाः कृताः तेभ्यः एषा किञ्चिद्भिन्ना वर्तते। अत्र कविः साहित्यिकदृष्ट्या शिवस्तुतिं कुर्वनस्ति। वस्तुतः साहित्यसर्जनस्य उपादानकारणं शब्दार्थौ वर्तेते। एताभ्यां विना काव्यं सृष्टुमशक्यम्। अतः जगतः पितरौ शिवपार्वत्यौ यौ सदैव अभिन्नौ स्तः। तौ एव शब्दार्थौ रुपेण मे काव्ये भवताम् इत्याशयरत्र। महाकविना शिवपार्वत्याभ्यां शब्दार्थयोः सायुज्यस्य उपमा दत्तास्ति। वायुपुराणेऽपि पार्वतीपरमेश्वरौ शब्दार्थौ रुपेण कपितौ स्तः। यथा-

**शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा।**

**अर्थरुपं यदखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः॥**

महाकविना श्लोकेऽस्मिन् ‘ पार्वती ’ इति शब्दः प्रथमप्रयुक्तोऽस्ति। एतत् खलु महाकवेः वैशिष्ट्यं प्रकटयति। कविमतेनात्र जगदम्बा पार्वती अशेष शब्दरुपेण विद्यते शिवस्तु सम्पूर्णार्थत्वेन च। यथा सृष्ट्याः मूलकारणं शिवशक्तिः तथैव काव्यस्य मूलं शब्दार्थौ। अतः शब्दार्थयोः सम्यग्ज्ञानार्थं शिवपार्वत्योरेव वन्दना उचिता इति। यद्यपि भारतीयशास्त्रग्रन्थाः वर्णानामुत्पत्तिः परमपुरुषात् मन्यन्ते। पुरुषसूक्ते निर्दिष्टं यत्- तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुः। ( ऋक्.९०.९ )

वयं जानीमः परमपुरुषः नाम भगवन् शिवेति। संस्कृतव्याकरणपरंपरापि वर्णोत्पत्तिः शिवस्य ढककायाः वर्णयति। यथा- नृत्तावसाने नटराजराजो ..... शिवसूत्रजालम् ॥ पाणिनीयशिक्षायामपि निर्दिष्टं यत्- येनाक्षरसमाम्नायम् अधिगम्य महेश्वरात्। ( पा.शि.५७) एतादृशाः बहवः सन्दर्भाः स्पष्टयन्ति यत् शब्दोत्पत्तिः साक्षात् शिवेनैव कृताऽस्ति। अतः कादासोऽपि

महाकाव्यस्यारम्भात्पुर्वं शब्दार्थदातारं भगवन्तं शिवं प्रणमति।

**अभिज्ञानशाकुन्तलम्**

कालिदासप्रशस्तिषु प्राप्यते यत्-कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशाकुन्तलम्। महाकवेः श्रेष्ठतमा कृतिः शाकुन्तलम्। अत्रापि महाकविना नान्दी श्लोके स्तुत्यार्थं भगवन् शिवैव स्मृतोऽस्ति। यथा-

**या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री**
**ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्।**
**यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः**
**प्रत्य ाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः॥ १ ॥**

( शाकु.१.१ )

महाकविनात्र शिवस्य अष्टस्वरुपस्य वर्णनं कृतमस्ति। कालिदासदृष्ट्या समग्रा सृष्टिः शिवाधारिताऽस्ति। शिवैव सर्वेषां पदार्थानां मूलकारणं वर्तते। महाकविना शिवरुपा अष्टमूर्तेः प्रत्येकस्य तत्त्वस्यात्र वर्णनं कृतमस्ति। जल, वह्नि, यजमान, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी, वायुश्चेतेषां तत्त्वानां कार्यानुगुणं वर्णनं करोति कालिदासः। अत्रारम्भे ब्रह्मणः पूर्वासृष्ट्याः वर्णनं वर्तते। या स्रष्टुः आद्या सृष्टिः। मनुस्मृत्यानुसारम् ब्रह्मणः प्रप्रथमं सर्जनं सालमासीत्। यथा- सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्॥ ( मनु. १.८ ) नासदीयसूक्तेऽपि पूर्वं जलमासीदिति वर्णितं यथा- अम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्? (ऋक्.१०.१२९.१) यद्यपि तैत्तिरीयोपनिषदि सृष्टिक्रमः विपरितो निर्दिष्टोऽस्ति। यथा- तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः बभूव।

आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथ्वी। पृथिव्याः ओषधयः। ओषदिभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। ( तैत्ति.२.१) यद्यपि कालिदासमतानुसारं यत् प्रप्रथमं जलमासीत्तत् शिवैव इति। श्लोकानुसारं दिवस्यरुपं वर्तते वह्नि इति वहति विधिहुतम्। अग्निदेवानां मुखं विद्यते यज्ञस्य फलदाता अग्निरुपेण शिवैवास्ति। कविना शिवः होत्रीरुपेणापि कपितः। यज्ञस्य यजमानः शिवरुपः मन्तव्यः। कविः रघुवंशे यजमानं शिवरुपेण वर्णयति। यथा च वृतान्तमिमं सदोगतत्रिलोचनैकांशतया दुरासदः। ( रघु.३.६६ ) रुपकस्य श्लोकानुसारं दिवाकरोऽपि शिवः निशाकरोऽपि च। अथवा कालनियामकः। जगति सूर्यचन्द्ररुपेण दिवारत्रोः नियमनं भगवान् शिवैव कुर्वनस्ति।

महाकविना श्लोकेलिखितं यत्- श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम्। यद्यपि कालिदासेन विक्रमोर्वशीये मङ्गलाचरणे अनया रीत्यैव शिवस्य व्यापकतालिखिता। यथा- वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी। शब्दः यस्य गुणः विद्यते सः आकाशरुपेण शिवः त्रिलोकं व्याप्य स्थितोऽस्ति। तर्कसंग्रहानुसारम् आकशः नित्यं विभुश्चास्ति यथा- शब्दगुणमाकाशम्। यच्चेकं विभु नित्यं च। (तर्कसंग्रहे द्रव्यनिरुपणम्।) महाकविना पृथ्वीरुपेण शिवः सर्वेषां पदार्थानां मूलकारणं कथितम्। सर्वबीजप्रकृतिः दर्शनशास्त्रानुसारं प्रकृतेः जगतः निर्माणं भवति। पृथ्वी पूर्वबीजप्रकृतिरस्ति। अपि च कालिदासेनोक्तं यत् येन वायुना सर्वेऽपि प्राणिनः प्राणवन्तः सन्ति सः वायुरपि शिवैव। एवं महाकविना स्पष्टं कृतं यत् प्रत्यक्षेण दृश्यमानानि इमानि अष्टतत्त्वानि शिवस्यैवाष्टमूर्तयः वर्तन्ते। एवं श्लोकेऽस्मिन् कालिदासः प्रार्थयते यदेतानि सृष्टिनियामकानि शिवरुपकानि

अष्टतत्त्वनि भवतां रक्षणं कुर्वन्तु इति। कालिदासेन शिवस्य अष्टमूर्तेः वर्णनं स्वकृतिषु नैकवारं कृतमस्ति। यतो हि निर्दिष्टं मयेदं विक्रमोर्वशीयस्य मङ्गलाचरणविवेचने।

एवं महाकविकालिदासः चतुर्षु कृतिषु मङ्गलाचरणेषु शिवस्यैव स्तुतिर्गायति। महाकविना अन्येष्वपि ग्रन्थेषु नैकवारं भगवान् शिवो वर्णितोस्ति। मेघदूते महाकालस्य वर्णनमद्वितीयं वर्तते। कुमारसम्भवेऽपि महादेवस्य स्तुतिपरक वर्णनं कृतमस्ति। रघुवंशेऽपि कतिपयेषु स्थानेषु शिवोल्लेखः प्राप्यते। एवमेतेषां मङ्गलाचरणनां विवेचनं कृत्वा एतत्तु निःशङ्केण वक्तुं शक्यते यत् महाकविः कालिदासः शिवस्य परमभक्तः आसीत्।

॥इति शिवार्पणमस्तु॥

# रामायण में निरूपित संस्कृति और सभ्यता

प्रस्तुतकर्त्री

**डॉ. निशिता एस. शुक्ल**

एसो. प्रोफे., सस्कृत विभागाध्यक्षा

गुजरात आर्ट्स एण्ड सायन्स कॉलेज, अहमदाबाद (गुजरात)

**प्रास्ताविक-**

रामायण भारतीय संस्कृति का प्रथम महाकाव्य है , रामायण सभी प्रकारके आदर्श का अमूल्य ग्रंथ है। जैसे की एक आदर्श पिता, पुत्र, माता, पति, पत्नी, भाई, बहन, सौत, मित्र, सेवक, स्वामी, राजा, प्रजा, इत्यादि कई आदर्शो एवं समाज, रीत-रिवाज, शिक्षा, गुरु-शिष्य, नारी स्वतन्त्रता, स्वयंवर, राष्ट्रप्रेम, खान-पान इत्यादि सभ्य-संस्कृतिका दर्शन हमे रामायणमे दिखाई देता है। इसीलिए रामायण का हिंदू संस्कृतिके सभी क्षेत्रों में अपरिमित प्रभाव पड़ा है। रामायणके आदर्शोंका अनुकरण भारतीय संस्कृतिके समर्थकों का सदासे लक्ष्य रहा है। भारतीय काव्यों तथा नाटकोंके कथानक रामायण के पर्याप्त ऋणी हैं क्युंकी रामायण कई प्रकार के ग्रंथोका उपजीव्य स्रोत रहा है। रामायणकालीन संस्कृति और सभ्यता का थोडासा आचमन करवाने की चेष्टा इस लेख मे की गई है।

**शिक्षण व्यवस्था :-**

रामायणके युगमें शिक्षाका स्तर बहुत ऊँचा था अयोध्यामें

कोई कामी, कृपण, क्रूर, मूर्ख अथवा नास्तिक पुरुष देखनेको भी नहीं मिलता था। शिक्षाको राजकीय प्रोत्साहन प्राप्त था। उस समय मुनियोंके आश्रम ही तत्कालीन पाठशालाएँ थीं। गुरुकी सन्निधि में रहकर शिष्य वैदिक ज्ञान, शिष्टाचार, सदाचार आदिको हृदयम करता था। गुरुकी शुश्रूषा उसका परम धर्म था। अयोध्यानगरी शिक्षाका महान् केन्द्र थी। वहाँ उपाध्याय सुधन्वाका सैनिक शिक्षालय था, जहाँ राजकुमार शस्त्राभ्यास करते थे, वासिष्ठों, तैत्तिरीयों, काठकों, मानवों तथा अगस्त्य और कौशिक ऋषियोंके शिक्षालयोंमें परम्परागत शिक्षाकी व्यवस्था थी। सूतों और मागधों द्वारा संचालित पौराणिक पाठशालाएँ भी अनेक थीं। यशसमारम्भोंसे शिक्षाप्रसार में बड़ी सहायता मिलती थी। शिक्षण व्यवस्था के मुख्यतः चार भाग थे शारीरिक, मानसिक, व्यावहारिक और नैतिक। शारीरिक शिक्षामें धनुर्विद्या, मृगया, अश्वचर्या, रथचर्या, बाहुयुद्ध, गदायुद्ध तथा मल्लयुद्ध का समावेश था। मानसिक शिक्षा के अन्तर्गत वेद, वेदाङ्ग, काव्य, साहित्य, इतिहास, पुराण, ललित कलाएँ, अर्थशास्त्र, राजनीति-जैसे विषय थे। व्यावहारिक शिक्षण में व्यापार, कला-कौशल, आयुर्वेद तथा अनेक प्रकारके उद्योग-धंधोका समावेश था। नैतिक शिक्षाद्वारा बालकको सदाचारी नागरिक बनाया जाता। अनेक प्रकारकी रहस्यमयी विद्याएँ भी प्रचलित थी। अध्ययन-अध्यापन की प्रणालियों में मौखिक प्रबचन, कण्ठाभ्यास, कथावार्ता, पाठ, स्वाध्याय, सामूहिक तर्क-वितर्क आदि प्रचलित थे। लिखनेकी कला भी थी। आश्रम में महिलाओंकी उपस्थिति और शिक्षाभी थी। प्रमुख रूप से गौ, ब्राह्मण, चातुर्वर्ण्य, कुटुम्ब और देशकी रक्षा ये शिक्षाके उद्देश्य थे। शिक्षा का प्रयोजन सांस्कृतिक उत्थान, वाणीस्वातन्त्र्य,

नीति-धर्म, चरित्र-गठन, एवं सभी प्रकारसे व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास तथा सामाजिक कर्तव्यों का पालन करना था।

**शिष्टाचार की संस्कृति :-**

रामायणके युगमें सभ्यता, शिष्टता, मधुरसंवाद, विनम्र व्यवहार और आदर्श शिष्टाचारका युग था। रामायणकालीन शिष्टाचार भारतीय शिष्टाचारका सदासे आदर्शभूत रहा है। पञ्च महायज्ञों में अतिथि सत्कार का विशिष्ट स्थान था। अतिथिओं का पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्क, गौ और आसनद्वारा स्वागत किया जता। उस समय क्या तपस्वी और क्या राजा, आतिथ्य में अपनी शक्तिके अनुसार सारे साधन जुटा देते थे। अतिथि क्रिया के पश्चात् कुशल-सम्बन्धी प्रश्न पूछे जाते। जहाँ राजा मुनियोंसे उनकी तपस्या, अग्निहोत्र, शिष्यगण, आश्रमस्थ पशु-पक्षी तथा वृक्ष- पुष्पोंके विषयमें कुशल-क्षेम पूछते, वहाँ मुनि-गण राजाओंसे उनके राष्ट्र, कोश, सुहृत्, बन्धु बान्धव, मन्त्रिगण तथा शत्रुओके दमनके बारेमें जिज्ञासा करते थे। प्रणाम, प्राञ्जलि, अञ्जलि, प्रणिपात तथा प्रदक्षिणा द्वारा छोटे बड़ोके प्रति सम्मान अभिव्यक्त करते थे। गुरुजन छोटोका आलिङ्गन कर उन्हें आशीर्वाद देकर अपना स्नेह प्रकट करते थे। तत्कालीन सम्बोधन प्रणाली बड़ी शिष्ट और गौरवपूर्ण थी। लोग संस्कृतमें ही संभाषण करते थे। उपकारोंके लिये कृतज्ञता प्रकट करनेकी तथा अपराधोंके लिये क्षमा-याचना करनेकी प्रथा प्रचलित थी। लोकापवादसे सभी डरते थे। संशयकी दशामें पूर्वजों या श्रेष्ठ पुरुषोंके मार्गका अनुसरण ही श्रेयस्कर माना जाता था। साहसपूर्ण या आश्चर्यकारी कृत्योंके सम्पादनपर साधुवाद या बधाई दी जाती थी। यज्ञ या राज्याभिषेकके अवसरपर सामूहिक

निमन्त्रण दिये जाते और आगन्तुकों स्वागत सत्कारका सुन्दर प्रबन्ध किया जाता था। विशिष्ट व्यक्तियोंके पास उपहार लेकर जानेकी रीति थी। मित्रता अग्निको साक्षी देकर की जाती थी। अपने वचनोंकी प्रामाणिकता घोषित करनेके लिये अपनी प्रिय-से-प्रिय वस्तुकी शपथ ली जाती थी। रथ या वाहनपर चढ़ते समय उसकी पूजा-प्रदक्षिणा की जाती थी। शुभ मुर्हूतमें, दैव अथवा भाग्यमें और मानव जीवनकी सौ वर्ष के आयुष्यमें लोगोंका दृढ़ विश्वास था।

**विवाह संस्कार :-**

रामायणकालीन युगमें लौकिक सुख और पारलौकिक कल्याण एवं पारिवारिक स्थिरता की दृष्टिसे विवाह प्रत्येक प्राणी के लिये आवश्यक और वाञ्छनीय था। कन्याके लिये तो वह अनिवार्य था, पाणिग्रहण उसका द्वितीय जन्म था। कन्याका विवाह उसकी 'पतिसंयोगसुलभ' अवस्थामें और पुत्रका विवाह उसके 'समुपस्थित यौवन' हो जानेपर हुआ करता था। विवाहके पूर्व वर-वधू में परिचय नहीं रहता था। सीता, शान्ता और मन्दोदरीने विवाहसे पूर्व अपने पतियोंके दर्शन नहीं किये थे फिर भी वे पतिपरायणा थी। कन्याओंको पतिवरण में स्वतन्त्रता थी किन्तु इस कार्यमें वे 'पितृवशा' थीं। पुत्रों को भी विवाह पिताके आज्ञानुसार करना पड़ता था धनुर्भङ्ग करने बाद सीताका स्वयं पाणिग्रहण करनेका अधिकार होने पर भी रामने दशरथकी आज्ञा के बीना सीताका स्वीकार नहीं किया था। कन्याधनके रूपमें पुत्रीको बहुतसा उपहार देनेकी प्रथा थी। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र विवाह के लिये माङ्गलिक माना जाता था। शास्त्रोक्त विधिसे सम्पन्न विवाह अविच्छेद्य था। इस लोक में पिता

आदिके द्वारा जो कन्या जिस पुरुषको अपने धर्मके जलमे संकल्प करके दी जाती है , वह मरने के बाद परलोक में भी उसीकी स्त्री होती है। स्वामीका त्याग स्त्रीके लिये महान् अधर्म था। राजाओं और धनी वर्गों में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी, पर श्रीरामने एकपत्नीव्रत- के अनुकरणीय आदर्श की स्थापना की। प्रेमका आदर्श उत्कृष्ट होते हुए भी व्यावहारिक था रामायण में पारस्परिक अनुरागको ही महत्त्व दिया गया है।

**स्त्रियों की स्थिति :-**

कन्याके विवाहकी चिन्ता उसके भावी जीवनको सुखी बनानेकी उत्कट लालसाके कारण 'कन्यापितृत्व' सभी मानकाङ्क्षी लोगोंके लिये दुःखदायक था। किंतु कन्याओंसे घृणा या द्रोह करने का कहीं प्रमाण नहीं मिलता। उनका लालन प्रेमपूर्वक किया जाता था। परिवार में वे उपेक्षाकृत कभी नहीं थीं। अविवाहित कन्याओंको माङ्गलिक और उनकी उपस्थितिको शुभ शकुन माना जाता था। राम के प्रमुख स्त्रीपात्रोंकी समीक्षासे यह स्पष्ट है कि लिहिके पूर्व उन्हें अपने घरोंमें समुचित शिक्षा मिल चुकी। क्षत्रिय-कुमारियाँ राजधर्म, पौराणिक साहित्य, ललित तथा विभिन्न भाषाओंसे सुपरिचित थीं। विवाह के पश्चात् वधूरूप में पति गृहमें प्रवेश करती थी, जहाँ उसे पतिका प्रेम और सास-ससुरका हार्दिक स्नेह प्रचुर मात्रा में होता था पातिव्रत्य धर्मका आदर्श अत्युच्च था स्त्रीके लिये पति ही देवता और पति ही प्रभु है नारीको अपने पतिके प्रिय और हितमें संलग्न रहकर सदा उसीकी सेवा करनी चाहिये, यही स्त्रीका लोक और वेद में प्रसिद्ध सनातनधर्म है अप्रतिम सौन्दर्य और एकनिष्ठ पातिव्रत्य ही रामायण के

अनुसार आदर्श पत्नीका मापदण्ड है। नारी पुरुष- की 'सहधर्मचारिणी' थी, 'समान-सुखदुःखिनी' थी शास्त्रोक्त यज्ञ-यागादि कम में पति और पत्नी दोनोंका संयुक्त अधिकर होता था वैदिक श्रुतियाँ पत्नीको पतिकी अभिन्न आत्मा बतलाती हैं। पतिपर स्त्रीके मुख्यतः तीन अधिकार थे भरण-पोषणका अधिकार, स्त्रीधनका अधिकार, तथा वैवाहिक एकनिष्ठाका अधिकार। पुरुषके पारिवारिक एवं बाह्य कार्य में उसकी सुयोग्य पत्नी सब प्रकारसे सहयोग देती थी। सीता, तारा और कैकेयी-जैसी तेजस्वी नारियोंने अपने समय की राजनीतिक घटनाओं को बहुत प्रभावित किया। नारीके पत्नीत्वकी सफलता उसके मातृत्व में थी। गर्भकी रक्षाके लिये मन्त्रानुष्ठान किये जाते थे। भ्रणहत्या महापातक थी। माताका अपने पुत्र के प्रति निश्छल ममत था और पुत्र भी उसका असीम आदर करते थे। नारीको पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी। उत्सवोंमें, राज्यभिषेक में, यज्ञों में, श्राद्धकर्म में, अन्त्येष्टि में स्त्रियाँ सम्मिलित होती थीं। विविध वस्त्राभूषणोंसे सुसजित हो वे अपने-अपने पतियों के साथ देश-विदेश में भ्रमण करतीं। न्यायालयों में पुरुषोंकी भाँति स्त्रियाँ भी प्रवेशकर शिकायत कर सकती थीं। स्त्रियों के प्रति उच्च शिष्टाचारका पालन किया जाता था। उन्हें सभी प्राणियों के हाथों अवध्य माना गया था। वाहनों और रथों पर स्त्रियों को पहले स्थान दिया जाता था और उन्हे आगे की ओर बैठाया जाता था।

**कौटुम्बिक सभ्यता :-**

प्राचीन भारतमें संयुक्त परिवार की प्रणाली थी, जिसका मुखिया पिता होता था। पिताकी आज्ञा शिरोधार्य की जाती थी।

परिवार में ज्येष्ठ पुत्रका अधिकारपूर्ण स्थान था। वही पिताका उत्तराधिकारी और उत्तरक्रिया करने का पात्र था। 'पुत्' नामक नरकसे बचने और पारलौकिक सुखकी प्राप्तिके लिये पिता पुत्रकी कामना करते थे। दीर्घ तपस्या, सदाचारी जीवन तथा धार्मिक अनुष्ठानोंके परिणामस्वरूप ही सुयोग्य पुत्रकी उपलब्धि हो सकती है स्त्रियोंद्वार पुत्र-प्राप्तिके लिये तपस्या करनेके कई उदाहरण मिलते हैं। परम्परागत रूढ़ियों और संस्कारोंका पालन परिवारके सदस्योंका परम धर्म था। प्राचीन आर्यसंस्कृति की उत्कृष्टताका रहस्य उसके पारिवारिक जीवनकी श्रेष्ठता है। इसके समुज्ज्वल उदाहरण रामायण में मिलते है। पितापुत्रमें, भाई-भाईमें, पति-पत्नीमें, देवर-भौजाईमें, इत्यादिमें बड़े स्नेहसिक्त और अनुकरणीय सम्बन्ध होते थे कुटुम्बके अनुशासनमें तरुणवर्ग स्वार्थत्यागः निश्छल प्रेम और सेवाभावना जैसे आदर्श गुणोंको हृदयङ्गम करता था।

**सामाजिक व्यवस्था :-**

रामायणकालीन आर्योंकी सामाजिक व्यवस्था वर्णाश्रम व्यवस्था पर अवलम्बित थी। वर्ण चार थे, वेदोंका अध्ययन, मत, नियमका पालन, यशका अनुष्ठान तथा दान ये प्रथम तीन वर्णों (द्विजों) के साधारण धर्म थे। स्वाध्याय, अध्यापन, तपस्या और प्रतिग्रह ब्राह्मणोंके विशिष्ट कर्म थे। पुरोहित और ऋत्विक बननेका अधिकार केवल ब्राह्मणों को था। अपने विशिष्ट कार्यो के अतिरिक्त ब्राह्मणों को अन्य जातियोंके कर्मद्वारा भी निर्वाह करनेकी स्वतन्त्रता थी। तत्कालीन ब्राह्मणोंके उनके कर्मानुसार पाँच विभाग किये जा सकते हैं- (१) देव ब्राह्मण जो प्रतिदिन स्नान, सन्ध्या, जप, होम, अतिथि-देव- पूजा और बलिवैश्वदेव करते तथा बड़े सत्यवादी और सदाचारी

ये (२) मुनि ब्राह्मण-जो वनमें रहकर तपस्या करते, फल-मूलसे निर्वाह करते तथा दैनिक श्राद्ध करते थे। (३) द्विज ब्राह्मण-जो वेदान्तका अध्ययन करते और अनासक्त होकर सांख्य तथा योगका चिन्तन करते थे ( ४ ) क्षात्र ब्राह्मण-जो क्षत्रियोंकी भाँति शस्त्र धारण करते और युद्धोंमें भाग लेते थे, उदाहरणार्थं भार्गव परशुराम (५) वैश्य ब्राह्मण जो कृषि और गोपालनद्वारा जीवन-निर्वाह करते थे, उदाहरणार्थ ब्राह्मण त्रिजट। उस समय ब्राह्मणोंका वध वर्जित था। दोषी ब्राह्मण भी अवध्य था। ब्राह्मणका धन हरनेवाला कठोर दण्डका भागी बनता था ब्रह्महत्या महापातक थी ब्राह्मणका व्यक्तित्व गोओ और राजाओंके समान पवित्र माना जाता था। दैनिक जीवनमें ब्राह्मणोंको सर्वदा अग्रिम स्थान मिलता था। श्रीरामको **'ब्राह्मणानामुपासकः'** कहा गया है। राजकीय समाजमें ब्राह्मण पुरोहितकी बड़ी प्रतिष्ठा थी राजाका वह अनिवार्य सहायक और परामर्शदाता था। दशरथ और श्रीरामके शासनकाल में वसिष्टको जो सम्मान और महत्त्व प्राप्त था। क्षत्रियका प्रमुख कर्तव्य प्रजाकी रक्षा करना था। श्रीरामके अनुसार क्षत्रिय धनुष इसलिये धारण करता है कि संसार में 'आर्त' शब्दका अस्तित्व ही न रहे- **क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति। (३। १०। ३ )** ब्राह्मण, गौ और शरणागतकी रक्षा उसका विशेष लक्ष्य था। क्षत्रिय केवल दान देनेका अधिकारी था। परशुराम और कार्तवीर्य अर्जुन, वसिष्ठ और विश्वामित्रः शुक्र और ययाति तथा वसिष्ठपुत्र और त्रिशङ्कु-जैसे अपवादों- के अतिरिक्त ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके पारस्परिक सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण थे। क्षत्रिय ब्राह्मणों को शीर्षस्थानीय मानकर उन्हींका अनुगमन करते थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्ण कर-भारसे मुक्त थे। वैश्यलोग कृषि, गोपालन

और वाणिज्य-व्यवसाय करते थे। अयोध्या तथा अन्य नगरोंमें उनके लिये पृथक् और प्रशस्त निवासस्थान बने थे अपनी संख्या और ऐश्वर्यके कारण वैश्य अयोध्याके सबसे प्रभावशाली नागरिक थे। वैश्योंके व्यापारिक संघ 'श्रेणी,' 'गण' और 'नैगम' कहलाते थे वैश्यलोग कृषि, गोपालन और वाणिज्य-व्यवसाय करते थे। तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्रका विहित कर्म था। उसे यज्ञों में भी उपस्थित होनेका अधिकार था, किन्तु यज्ञ-अनुष्ठान, वेदाध्ययन, और तपस्या करनेका अधिकार नहीं था। क्षत्रिय विश्वामित्रका ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लेना कुछ विद्वानोंके मतानुसार यह सूचित करता है कि उन दिनों ऐसा परिवर्तन कोई असम्भव बात नहीं थी। चारों वर्णोंके परस्परिक सम्बन्ध सद्भावनापूर्ण थे। सभी वर्ण 'स्वकर्मनिरत' थे अतः कही भी वर्णविद्वेष नहीं था।

**धार्मिक सभ्यता :-**

रामायणकालीन संस्कृति धर्मद्वारा पूर्णतया अनुप्राणितथी। वेदों का प्रभुत्व सर्वव्यापी था। धार्मिक अनुष्ठानोंमें प्रमाणभूत थे। नूतन गृहप्रवेश करने से पूर्व वास्तुशान्ति नामक कृत्य संपादित किया जाता था। नया व्यवसाय प्रारम्भ से पहले **'आपण'** कृत्पद्वारा नये धानसे देवताओं को प्रसन्न किया जाता था। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य आरम्भ करने- के अवसरपर स्वस्त्ययन किया जाता था। दैनिक अनिवार्य धार्मिक कार्य **'आह्निक कृत्य'** कहलाते थे जिनमें स्नान, अप्यं, तर्पण, मार्जन, प्राणायाम, गायत्री जप, अनिहोत्र और देवता भी सम्मिलित थे। रामायणकालके आर्य उपयुक्त समयपर सन्ध्योपासन करने में बड़े जागरूक रहा करते थे। अन्त्येष्टि- किया प्रेतकार्य, उदक किया, पिण्डदान, निर्वाप-क्रिया तथा आद्धकर्म किये जाते थे तथा १०

दिनका अशौच रक्खा जाता था। मन्दिरोका स्थल स्थल पर उल्लेख मिलता है। विभिन्न देवताओं के मन्दिरोकी स्थापना हो चुकी थी। सारे संस्कार यथासमय सम्पन्न हुआ करते थे, तीर्थ स्थानोंकी यात्रा भी की जाती थी। गौकी पवित्रता सर्वमान्य थी। अनेक प्रकारके यशोका अनुष्ठान किया जाता था, जिनमें शास्त्रीय विधिके पालनका पूर्ण ध्यान रखा जाता था। अनेक देवी-देवताओंकी पूजा प्रचलित थी, जिनमें त्रिमूर्ति को विशेष स्थान प्राप्त था। शिव और विष्णु के भक्तों कोई विरोध नहीं था। गङ्गा, यमुना आदि नदियों, नदियों के संगम वटवृक्ष, गया-जैसे स्थल, चित्रकूट इत्यादि जैसे स्थल पवित्र माने जाते थे। अयोध्यापुरी निवास करनेवाले सभी मनुष्य धर्मात्मा बहुत निर्लोभ सत्यवादी, अपने धनसे ही सन्तुष्ट रहनेवाले, संयमी तथा शील और सदाचार की दृष्टिसे महर्षियोंकी भाँति विशुद्ध थे। प्रतिज्ञा-पालन सत्यवादितः कृतज्ञता, इन्द्रियनिग्रह तथा दानवीरताका वाल्मीकिने स्थल-स्थल पर वर्णन किया है। कर्म सिद्धान्तमें अटूट विश्वास था। मनुष्य अपने अच्छे-बुरे कर्मो का फल पाता है। कर्मफल भोगने के लिये जन्म-जन्मान्तर तथा स्वर्ग और नरककी प्रति विश्वास भी था। जीवनके प्रति दृष्टिकोण आशा और निराशाका सम्मिश्रण था। धर्म जीवनके समग्र उत्कर्षका मूल स्रोत था- **धर्मेण लभते सर्वधर्मसारमिदं जगत्। (३। ९। ३०)** सात्त्विक और दैवी जीवनकी ओर प्रेरित करनेवाली सभी बातें धर्मके अन्तर्गत थीं। रामायणके चरित्र-चित्रण में धर्माचरण ज्वलन्त आदर्श दिखाई देता हैं। विभीषण में शरणागतधर्म का, हनुमान् में सेवकधर्म का, सुग्रीवमें मित्रधर्मका, दशरथ में पितृधर्मका, श्रीराम में पुत्रधर्म, पतिधर्म और राजधर्मका, कौसल्या में स्त्रीधर्मका, सीता में पातिव्रत्यधर्मका तथा भरत और

लक्ष्मण में भ्रातृधर्मका मूर्तिमान् आदर्श सन्निहित है।

**साहित्य और कला संस्कृति :-**

रामायण एक कलापूर्ण मनोहर रचना है। रामचरित्र-जैसे अलौकिक विषयको एक अनूठी, संगीतमय, छन्दो- बद्ध, संवेदनशील शैलीमें प्रस्तुतकर वाल्मीकिने अपने परवर्ती सहित्यकारोंके लिये एक अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया है। **मधुमय भणितीनां मार्गदर्शीमहर्षिः।** श्रीआनन्दवर्धनाचार्य के अनुसार साहित्य में रसकी प्रथम उद्भूति रामायण में वर्णित क्रौञ्च-वध- घटनासे हुई है , काव्यके अतिरिक्त उस युग में आख्यान, इतिहास, दर्शन, नक्षत्रविद्या, ज्यौतिष, आयुर्वेद, प्राणिशास्त्र, अङ्कगणित, रेखागणित जैसे वैज्ञानिक विषयोंसे सम्बन्धित सामग्री भी रामायण में यथेष्ट मात्रा में मिलती है। वाल्मीकि की रचना कवि की कलात्मक अभिरुचिकी परिचायक है। उसमें स्थापत्यकला, चित्रकला, वास्तुकला, संगीत, नाट्यशाला और नृत्य-जैसे कलात्मक विषयोंपर परिष्कृत सामग्री उपलब्ध है। कलाका अनुशीलन करने में योग और भक्तिका आश्रय लिया जाता था। योगद्वारा कवि कलाकी वस्तुसे अपना तादात्म्य स्थापित कर उसको हृदयङ्गम करता तथा भक्तिद्वारा सर्वतोभावेन उसे मूर्तरूप देने को कटिबद्ध होता था। रामायण रचनाएँ कविने इसी मार्गद्वयका अनुसरण किया है।

**आहार विहार संस्कृति :-**

रामायणकालीन आर्य अपने आहार में बड़े सुरुचिपूर्ण थे। वे सुखादु पक्वान्नों का विशेष रूपसे प्रयोग करते थे। भोजनके चार प्रकार थे चर्व, चोष्य पेय और लेह्य लोगोंका प्रमुख आहार गेहूँ और चावल था। चावलसे बन पक्वान्नों में हविष्यान्न ( धीमें उबाला हुआ चावल),

कुशर, मोदक, मृष्टान्न(मालपूए) और पायस (खीर) बड़े प्रिय थे। दूध और दूधसे बने पदार्थोंका प्रचुर व्यवहार होता था। दधि, क्षीर, कृशर, कपित्थ (मट्ठा) और पायस (खीर) के रूपमें दूधका सेवन किया जाता था। घृतका स्थल- स्थलपर उल्लेख मिलता है। स्नेह अथवा तैल, लवण और सौवर्चल-जैसे नमक, उपदंश और निडान जैसे मिर्च-मसालों तथा अम्लरस जैसी खटाईका प्रयोग भी देख पड़ता है। उस समयके रसोइये पाकविद्यामें बड़े प्रवीण थे और वे कुण्डल धारण करके भोजन परोसते थे। आम्र, बदरी, दाडिम, इक्षु, जम्बू, खर्जूर, कदली, नारिकेल और पनस-जैसे फलोंका आहार प्रचलित था। मधु और फलासव पेयके रूपमें स्वीकार किये जाते थे। ब्राह्मण प्रायः शाकाहारी थे। मांसाहारकी तुलना में शाकाहारको ही श्रेष्ठ माना गया है। विशालरूपमें सामूहिक भोज प्रायः किये जाते थे, जहाँ असंख्य नर-नारी आकर तृप्ति पाते और जहाँ खाद्य एवं पेय पदार्थोंका अटूट मंडार प्रस्तुत रहता था। भोजनका कृत्य एक यज्ञ माना जाता था, जिसका उद्देश्य मुख्यरूपसे देवताओं, अतिथियों, मित्रों और सम्बन्धियोंको तृप्त करना था। समाजोंमें मनोविनोदके विविध साधन मौजूद थे। हास्यकार और कथाकार राजाओंका विनोद करते थे राजप्रासादों में पालतू पशु-पक्षी रानियोंके विनोद के साधन थे। द्यूत, शतरंज, संगीत, नृत्य और नाटक उद्यान- विहार, मृगया, कन्दुक-क्रीडा, जलविहार तथा व्यायाम आदि आमोद-प्रमोद के अन्य साधन थे। किंतु इन सबमें अपने आदर्शोंका विशेष ध्यान रक्खा जाता था।

**वस्त्रालंकार की सभ्यता :-**

रामायणकाल में सूती, रेशमी, ऊनी, सुनहरे, चमकीले, रंग-बिरंगे वस्त्रोंका नागरिकोंमें बहुत व्यवहार होता था। वनवासी लोग

कुशः चीर और वल्कल धारण करते थे। पवित्र कार्यों में क्षौम (रेशमी ) वस्त्रों का प्रयोग होता था। स्त्री-पुरुष दो वस्त्र धारण करते थे- उत्तरीय और अधोवस्त्र। ब्रह्मचारीगण एक ही वस्त्र धारण करते थे। स्त्रियाँ अपने अधोवस्त्र को कटिभागपर रशनासे कस लेती थीं। उत्तरीय उनके कन्धों और वक्षःस्थल पर पड़ा रहता था और आवश्यकता होनेपर शीघ्रतासे उतारा जा सकता था। सीने की कला थी। सिरपर साधारण लोग मुकुट धारण करते और राजागण किरीट। पगड़ी का व्यवहार भृत्यवर्गतक सीमित था। पैरोंमें लकड़ीकी पादुकाएँ या चमड़े के उपानह धारण किये जाते थे। राजा हेमभूषित पादुकाएँ पहनते थे। नर-नारी दोनों आभूषणप्रिय थे। सैनिक युद्ध में भी आभूषणोंसे सज्जित होकर जाते। हाथियों, घोड़ों और गौओं को आभूषणोंसे सजाने की प्रथा थी। शरीरके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गों में मनोहर आभूषण धारण किये जाते थे। हीरे जवाहरातों के साथ पुष्पों और मालाओंका भी आभूषणोंकी भाँति व्यवहार होता था। चन्दन और अङ्गरागका बहुतायतसे उपयोग होता था। सौन्दर्य की वृद्धिके लिये दैनिक श्रृङ्गार प्रचलित था।

**आर्थिक व्यवस्था :-**

रामायणकाल में कृषि देशका प्रमुख उद्योग था। कृषि समृद्धिपूर्ण थी। राजाको **'कृषिगोरक्ष्य'** जीवियों की सुविधाओंका विशेष ध्यान रखना पड़ता था। श्रीराम या उनके पूर्व राष्ट्र में दुर्भिक्ष (अकाल) आ यद्यपि लंबे दुर्भिक्षका नामतक नहीं था। उस समय यव, गोधूम, शालि (चावल), चणक , इक्षु , कुलित्थ (कुलथी) , माष (उड़द), तिल, मरीचि, मुद्र (मूंग) की खेती बहुतायत से होती थी। खेतीके कई औजार प्रयुक्त होते थे जैसे हल, कुद्दाल, लाल

फाल, शूल, टंक आदि। खेतीकी प्रणाली वैदिक कालकी अपेक्षा अधिक उन्नत थी। कृषिके अतिरिक्त उद्यानचर्या तथा फलोद्योग भी प्रचलित थे। गोपालन और गोसंवर्धन के अतिरिक्त घोड़ों और हाथियोंकी अच्छी नस्लें उत्पन्न करने का मी एक व्यवसाय था। पशुपालनद्वारा दुग्ध, दुग्ध पदार्थ, हाथी दाँत और चमड़ेका व्यवसाय होता था। जंगलोंकी उपज मानव-उपयोग में लायी जाती थी। खानोंसे खनिज पदार्थ निकाले जाते थे- लोहा, ताँबा, पीतल, काँसी, सोना, चाँदी, सीसा और टीन जैसे खनिज पदार्थों का उल्लेख मिलता है। बस्त्रोद्योग भी प्रचलित था। लाक्षाराग या कुसुमरससे कपड़े रेंगे जाते थे। व्यापारकी स्थिति बड़ी ही समृद्ध थी। विदेशों से भी व्यापार होता था। समुद्री व्यापारके भी सष्ट प्रमाण मिलते हैं। सोना, चाँदी, आभूषण, हीरे-जवाहर, हाथी, कुत्ते, चावल, मिर्च, रेशमी वस्त्र तथा त्यक्षा-जैसी वस्तुएँ विदेशोंको नियत की जाती तथा कम्बोज आदि देशोंके घोड़े, ऊनी, रेशम, कल्लूरी, याक बेल्टके बाल आदि आयात किये जाते थे। विनिमयका माध्यम गौ थी। निष्क नामक सिक्के भी प्रचलित थे। नाप-तोलों का व्यवहार होता था। रामायणमें लगभग ८० प्रकारके विभिन्न उद्योगोंका स्पष्टत: उल्लेख है। थल, जल और नभ — तीनों मार्गोंस यातायात होता था। रथ, शिविका, बान, पशु, नाव और विमान यातायात के साधन थे। देशकी आर्थिक स्थिति बड़ी ही वैभवशाली और समृद्धिपूर्ण थी। नगरों और ग्रामोंके निवासी दीर्घजीवी, नीरोगी, प्रसन्न और धन-धान्यसम्पन्न थे। इस आर्थिक सुव्यवस्था का रहस्य समाजमें धनका संतुलित विभाजन था, जिसमें आर्योंकी वर्णाश्रम- व्यवस्था विशेषरूपसे सहायक थी।

**नगर और आश्रम संस्कृति :-**

रामायणकालीन नगर-संनिवेश स्थापत्य कलाका सुन्दर उदाहरण है। प्रायः सभी नगरोंकी प्रतिष्ठा दुर्गा के रूप में होती। शत्रु के आक्रमणोंसे रक्षाके लिये विशाल प्राकारों और दुर्गम खाइयोंसे घिरे रहते। सैनिकदृष्टिसे नगर अभय बनाये जाते थे। फिर भी कला और सौन्दर्यकी उपेक्षा नहीं की जाती थी। नगर प्रायः नदियोंके किनारे नीरोग वातावरण में बसाये जाते। उनका आकार कभी पद्मदलके समान, कभी अर्धचन्द्राकार और कभी अष्टकोणात्मक होता था। सुन्दर विमानाकार भवन, चौराहे, उद्यान, तालाब, सुव्यवस्थित बाजार तथा वृक्ष नगरोंकी शोभा बढ़ाते थे। राजप्रासाद नगरके मध्य में होता और वहांसे चारों दिशाओं में राजमार्ग जाते। नगरके बाहर आमोद-प्रमोद के लिये विहारस्थल बने रहते थे। तत्कालीन सुन्दर नगरी में अयोध्या, लङ्का, किष्किन्धा, तक्षशिला, पुष्कलावती और मधुपुरीके नाम उल्लेखनीय हैं। राजा और प्रजा दोनों नगरोंकी शोभाबढ़ाने में तत्पर रहते थे। ग्रामों और नगरोंमें साहचर्य था। किसानों के निवासस्थान 'ग्राम- संवास' कहलाते थे। रामायणकालीन संस्कृति मुख्यतः तत्कालीन नगरों और आश्रमोंकी देन है। ऋषियोंके आश्रम ही उस समयके सांस्कृतिक केन्द्र थे, जहाँकी रीति-नीति नगरीको प्रभावित करती थी। ये आश्रम प्रायः **'एकान्त'** या **'विविक्त'** स्थलोंमें मानव- कोलाहलसे दूर रमणीय स्थानोंमें बसाये जाते थे बाँस, वृक्षोंकी शाखाओं, पत्तों, मिट्टी, घास और रस्सियोंसे वे बनाये जाते थे। एक आश्रममण्डल या तपोवनका अधिष्ठाता ऋषि **'कुलपति'** होता था। वनवासी मुनि अपना समय देवपूजा, सन्ध्या, तर्पण, होम, श्राद्ध, वेदघोष, स्वाध्याय और तपस्या में व्यतीत करते। वे नियताहार और जितेन्द्रिय रहते थे, फल-मूलों पर निर्वाह करते थे, अत्यावश्यक

जीवन-साधनोंका ही उपयोग करते और नाना प्रकारके शारीरिक कष्ट स्वेच्छासे उठाकर सहिष्णु और तितिक्षु बननेका निरन्तर प्रयत्न करते थे। ऐसे प्राचीनऋषि हमारी आर्यसंस्कृतिके प्रसारक और संस्थापक थे।

**उपसंहृती**

रामायणका भारतीय संस्कृतिके सभी क्षेत्रों में अपरिमित प्रभाव पड़ा है। वाल्मीकिके नायक श्रीराम भारतीय संस्कृतिका अमिट अङ्ग है। रामानुज, रामानन्द, कबीर और तुलसीदास जैसे कविओंने भी श्रीराम को एक आदर्श राजाके रूपमें प्रचार किया है। रामायणके आदर्शोंका अनुकरण भारतीय संस्कृतिके समर्थकों और उन्नायकों का सदासे लक्ष्य रहा है। मुरारिके शब्दों में **" अहो सकलकविसार्थ साधारणी खलु इदं वाल्मीकीया सुभाषितनीवी। "** आधुनिक समय में भी रामायणके आदर्श जनसमुदायकों प्रभावित करते है। भारतदेशकी कला, साहित्य और संस्कृतिपर भी वाल्मीकीय रामायण का प्रभाव आज भी स्पष्ट झलकता है।

।। इति रामचन्द्रार्पणमस्तु।।

# किरातार्जुनीय में वाणी और संस्कृति विमर्श

**प्रा.परबत एच.डाभी**
सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग
श्री एम.पी.शाह आर्ट्स एण्ड सायन्स कॉलेज, सुरेन्द्रनगर (गुजरात)

साहित्य समाज का दर्पण है और समाज का निर्माण संस्कृति से होता है। वास्तव में साहित्य, समाज और संस्कृति- तीनों ही एक दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं, क्योंकि किसी एक का भी अस्तित्व दूसरे के बिना संभव हो ही नहीं सकता। भाषा सांस्कृतिक रूप से प्रसारित होती है; अर्थात् सीखा जाता है।

**भाषा और संस्कृति के अर्थ एवं परिभाषा:-**

'भाषा' शब्द संस्कृत के 'भाष्' धातु से बना है जिसका अर्थ है कहना या बोलना। संक्षेप, में जिसे बोला जाए वह भाषा है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिसे हम बोलते हैं, वह भाषा है। हम जानते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहते हुए उसे निरंतर विचारों का आदान-प्रदान करने की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए वह भाषा का सहारा लेता है। अतः कह सकते हैं कि भाषा विचार विनिमय का साधन है। भाषा के संबंध में विचार करते हुए अनेक भारतीय और विदेशी भाषाविदों ने भाषा को परिभाषित करने का प्रयास किया है। महर्षि पतञ्जलि का विधान है-

**व्यक्ता वाचि वर्णा येषां त इमे व्यक्तवाच।**

अर्थात् जो वाणी वर्णों में व्यक्त हो उसे भाषा कहते हैं। महर्षि पतंजलि के अनुसार भाषा वह साधन है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने

विचार दूसरों पर भलीभाँति प्रकट कर सकता है और दूसरों के विचार को अपने आप स्पष्टता से समझ सकता है।

**संस्कृति** शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में 'सुट' का आगम करके 'क्तिन' प्रत्यय करने से 'संस्कृति' शब्द बनता है। इसका अर्थ होता है सम्यक् कृति। इसलिये सम्यक् कृति या चेष्टा ही संस्कृति कही जा सकती है। इस प्रकार जिन चेष्टाओं के द्वारा मनुष्य अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों में उन्नति करता हुआ सुख शन्ति प्राप्त करें। वे चेष्टाएं ही इनके लिये सम्यक् चेष्टाएं कही जा सकती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है मनुष्य के लौकिक पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार विचार ही संस्कृति है।

**भाषा और संस्कृति मे सम्बन्धः-**

भाषा का संबंध समाज की संस्कृति से होता है. क्योंकि भाषा का सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक प्रभाव, इसका उपयोग संस्कृति को बदलने या बनाए रखने के लिए एक उपकरण के रूप में किया जा सकता है। भाषा के लिए संस्कृति पर प्रभाव डालने के लिए इसका लोगों और उनके पर्यावरण के संबंध में अध्ययन किया जाना चाहिए।

**वाणी विषयक भारवि के विचारः-**

भारवि ने किरात में आदर्श वाणी संबंधी विचारों को अपने पात्रों के माध्यम से व्यक्त किया है। भारवि ने ११वें सर्ग में वनेचर, भीम, युधिष्ठिर, इंद्र के वचन तथा अर्जुन द्वारा इंद्र को दिए गए वाणी-प्रशंसा तथा १४वें सर्ग में अर्जुन द्वारा दिए गए किरात दूत के प्रसंग में उत्कृष्ट वाणी के बारे में अपने विचार व्यक्त किए हैं। वाणी शब्दों और अर्थों से मिलकर बनती है। वाणी में शब्द और अर्थ

पार्वती और परमेश्वर के पर्याय हैं। यहां हम देखते हैं कि भारवि ने किरातार्जुनीय में वर्णन में उस शब्द और अर्थ के बारे में विचार किया है।

सबसे पहले, वेनेचर के भाषण से यह पता चलता है कि आदर्श वाणी (उत्तम वाणी) पादसौष्ठव- ललितपद और (उदार) व्यापक और निश्चित अर्थ से भरी है। हितकारी और मनोहारी दुर्लभ हैं।

**हितं मनोहारि च दुर्लभ वचः।** (कि० १-४)

वाणी में अव्यक्त चेतना को बाहर लाने, क्रोध, उत्तेजना और उद्योग को जगाने की शक्ति होती है, जैसा कि हम पहले सर्ग में द्रौपदी के भाषण में देखते हैं।

**नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीरुदाजहार द्रुपदात्मजा गिरः।** (कि० १-२७)

मन को प्रिय वाणी कर्ण को भी प्रिय हो सकती है। द्रौपदी की वाणी मन को प्रिय और कर्ण को प्रिय है, इसलिए वह स्वयं बड़े अर्थ और चातुर्य से भरी बातें बोलती है।

**विहितां प्रियया मनः प्रियामथ निश्चित्य गिरं गरीयसीम्।**
**उपपत्तिमदूर्जिताश्रयं नृपमूचे वचनं वृकोदरः॥** ( कि० २ : १)

वह वाणी जो दूसरों के लिए हितकर हो, सुखदायक हो, गहरे अर्थों से भरी हो, कायरों के लिए कष्टकारी हो, अल्प परंतु अत्यंत प्रभावशाली हो। जैसा कि भीम ने द्रौपदी के वाणी की प्रशंसा की थी।

**परिणामसुखे गरीयसि व्यथकेऽस्मिन्वचसि क्षतौजसाम्।**

**अतिवीर्यवतीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः॥**

(कि० २ : ४)

शास्त्रीय संस्कृत भाषण को 'भारती' शब्द से पहचाना जा सकता है। जैसा भीम द्वारा द्रौपदी के भाषण की प्रशंसा देखें।

**रुचिरार्था भवतेऽपि भारती** (कि० २ : ५)।

महाभारत के बारे में सबसे अच्छे विचारों में से एक भारवि युधिष्ठिर द्वारा रचित भीम की वाणी की प्रशंसा की है। वे इस प्रकार हैं: (१) वाग्विस्तार दोष एवं दलिल रहित होना चाहिए। (२) वह शुद्ध होना चाहिए। (३) यह हृदय पर प्रभाव डालता है यह किया जा सकता है। (४) वह हितकारक होना चाहिए।

**अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे॥**

(कि० २ २६)

(५) पदों से (व्याकरणिक प्रत्ययों सहित शब्दों से) भाषण नहीं होना चाहिए जिसका अर्थ स्पष्ट न किया जा सके। (६) बोले गए भाषण का कोई वजनदार अर्थ होना चाहिए। (७) वाणी के अर्थ में कोई पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिए। (८) अर्थ की शक्ति कभी नष्ट नहीं होनी चाहिए।

**स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।**
**रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्।।**

( कि० २ : २७)

(९) प्रस्तुत किये गये तर्क सशक्त रूप से प्रस्तुत किये जाने चाहिए। (९) अत: वाणी अनुमान का बल तो लेना चाहिए परंतु वह अशास्त्रीय नहीं होना चाहिए।

**उपपत्तिरुदाहृता बलादनुमानेन न चागमः क्षतः।**

( कि० २ २८)

किरातार्जुनीय के ११वें सर्ग में उत्कृष्ट वाणी के बारे में निःसंदेह विचार परिलक्षित होते हैं। जिन श्लोकों में अर्जुन वृद्ध ऋषि के भेष में तपस्या की परीक्षा लेने आए इंद्र के शब्दों की प्रशंसा करते हैं, वे भी संकेत देते हैं कि एक महान आदर्श भाषण कैसा होना चाहिए। समास की अधिकता के कारण वचन उज्जवल होना चाहिए, अर्थगुरु होना चाहिए। इसमें लंबे वाक्य नहीं होने चाहिए। शब्द परस्पर पर्यायवाची होने चाहिए अर्थात् एक-दूसरे से संबंधित और परस्पर प्रत्याशित होने चाहिए। वाक्य अध्याहार रहित होना चाहिए। इसका कोई संकीर्ण अर्थ नहीं होना चाहिए।

**प्रसादरम्यमोजस्वि गरीयो लाघवान्वितम्।**
**साकाङ्क्षमनुपस्कारं विष्वग्गति निराकुलम्मा।।**

( कि० ११ : ३८)

शब्दों का निर्धारण विवेकपूर्वक अर्थात् युक्तिपूर्वक करना चाहिए, ताकि शास्त्र के अनुपात की आवश्यकता न रहे। किसी वाक्य को (सामान्य) तर्क से नहीं तोड़ा जा सकता यह वेदवाक्य की तरह होना चाहिए।

**न्यायनिर्णीतसारत्वान्निरपेक्षमिवागमे।**
**अप्रकम्प्यतयान्येषामाम्नायवचनोपमम्॥**

( कि० ११ : ३९)

उत्तम गुणों से परिपूर्ण वचन ऋषि के शांत मन के समान है।

**अलङ्घ्यत्वाज्जनैरन्यैः क्षुभितोदन्वदूर्जितम्**

**औदार्यादर्थ सम्पत्तेः शान्तं चित्तमृषेरिव॥**

( कि० ११ : ४०)

इसके अलावा किरात के १४वें सर्ग में जब किरात का दूत अर्जुन के पास अपने स्वामी का बाज़ माँगने आया है तो अर्जुन उसके द्वारा विभिन्न युक्तियों से कहे गए शब्दों की प्रशंसा करता है और आदर्श वाणी के लिए यह भी ध्यान देने योग्य है। यह किरात का एक अच्छा श्लोक है।

**विविक्तवर्णाभरणा सुखश्रुतिः प्रसादयन्ती हृदयान्यपि द्विषाम्।**
**प्रवर्ततेनाकृतपुण्यकर्मणां प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती॥**

अर्थात् सत्पुरुषों की सरस्वती (वाणी) आनंदमय और गंभीर शब्दों से भरी होती है। जैसे उसके भीतर के सुंदर अक्षर अलग-अलग आकार धारण करते हैं, वैसे ही मन को प्रसन्न करने वाली वाणी शत्रुओं के हृदय को भी प्रसन्न करती है।

**किरातार्जुनीय में भारतीय संस्कृतिः-**

कवि समाज का पारखी होता है। उसकी कृतियों में तात्कालिक समाज का प्रतिविम्ब फलकता रहता है। उसकी रचना उस समय की परिस्थितियों से प्रभावित रहती हैं। देश की जो संस्कृति होती है, वह सच्चे कवि के काव्य में समायी रहती है। सहृदय पाठक सदैव देश की महिमा और उसके अभ्युत्थान के इतिहास के अध्ययन के लिये काव्य के प्रति आकृष्ट होता है। भारवि एक ऐसे महाकवि हैं, जिन्होंने अपनी कृति को चिरन्तन सत्य से अनुप्राणित किया है। उन्होंने अपने काव्य में स्थल-स्थल पर संस्कृति

के शाश्वत आदर्शो की प्रतिष्ठा की है। उनकी कृति में हमें उनके समय के समाज का स्पष्ट चित्र मिलता है।

**सामान्य जीवनः-**

किरातार्जुनीय के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय संत महात्माओं का बड़ा सम्मान था। समाज में वे विश्वास के पात्र थे। उन्हें बड़ी प्रतिष्ठा थी। इसी उद्देश्य से कौरव राज्य की वास्तविक स्थिति का पता लगाने के लिये युधिष्ठिर जिस बनेवर को गुप्तचर के रूप में मेजते हैं वह भी संन्यासी के वेश में जाता है।

**स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः।**

( कि० १ : १)

**धर्म मे आस्थाः-**

धर्म में प्रगाढ़ वास्था रखने के कारण उस समय के लोग प्राचीन दार्शनिक भावनाओं से प्रभावित थे। सांख्य और योग दर्शन का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। व्यास द्वारा अर्जुन को दिये गये उपदेशों में सांख्य के २४ तत्त्वों की चर्चा की गई है। अपने तपोबल से व्यास जी ने, वीर अर्जुन को उचित पात्र समझ कर चौबीस तत्त्वों को माया। उसको समझते ही उन तत्वों के ज्ञान में उनकी बात बहुत समय के बाद खुली हुयी की भांति हो गई।

**योगे च तं योग्यतमाय तस्मै तपःप्रभावाद्वितार सद्यः।**
**येनास्य तत्वेषु कृतेऽवभासे समुन्मिमी लेव चिराय चतुः।।**

( कि० ३ : २६)

**विश्वास और शकुन की मान्यताः-**

यात्रा को मंगलमय बनाने के लिये शकुनों का विचार किया जाता था। अपशकुन होने पर लोग अमोल की आशंका करते थे तपस्या के लिये प्रस्थान करते समय द्रौपदी शकुन का विचार करती है। अर्जुन जब इन्द्रकील पर्वत पर जाने लगे उस समय उन्हें देखने के लिये द्रौपदी अभिलाष्णुक हो उनी। उसके नेत्र सजल हो उठे, पर उसने अपने नेत्रों को बन्द नहीं किया, क्योंकि जाखे बन्द कर लेने पर अनु की बूंदे नीचे गिरने लगती है। यात्रा के समय स्त्री का रोना अमंगल का सूचक है।

**तुषारलेखाऽऽकुलितोत्पलाभे पर्यश्रुणी मंगलमंगभीरुः।**
**अगूढभावाऽपि विलोकने सा न लोचने मीलयितुं विषेहे।।**

( कि० ३ : ३६)

**हस्तरेखा तथा सामुद्रिक चिन्हो की मान्यता:-**

हस्तरेखा तथा सामुद्रिक चिन्हों में लोग विश्वास रखते थे। पुरुष के शारीरिक लक्षणों के आधार पर उसके व्यक्तित्व का पता लगाया जाता था। लोगों का विश्वास था कि दिव्य पुरुषों की रेखायें सामान्य पुरुषों से भिन्न होती हैं। प्रायः देखा गया है कि सुन्दर आकृति वाले व्यक्तियों के गुण भी सुन्दर होते हैं। सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार यह उक्ति यत्रा कृतिस्तत्र गुणा वसन्ति, प्रायः सत्य है अर्जुन भी शुभ शारीरिक लक्षणों से युक्त थे वन में विहार करती हुई सुर-रमणिया गर्जुन के पद चिन्ह को देख कर 'आश्चर्यचकित हो उठीं। वे पद चिन्ह शुभ्र वालुकामय भूमि में स्पष्ट अंकित थे उसमे ध्वजा और चक्र की रेखा स्पष्ट दिखायी पड़ रही थी। इस अद्भुत चिन्ह को देख कर वे विस्मित हो उठीं। उन्होंने निश्चय कर लिया कि यह कोई दिव्य पुरुष है।

**सचकितमिव विस्मयाकुलाभिः शुचिसिकतास्वतिमानुषाणि ताभिः।**
**शितिषु दृशिरे पदानि जिष्णोरुपहितकेतुरथागेलानाति।।**

( कि० १० : ७)

**कृषि एवं पशुपालनः-**

भारत में कृषि प्राचीन समय से ही मुख्य व्यवसाय के रूप में अपनायी जाती रही है। यही कारण है कि इस भूमि पर विकसित होने वाला प्रत्येक साहित्य कृषि से कुछ न कुछ अवश्य प्रभावित है। किरातार्जुनीय में कृषि विकास का सम्यक् विवेचन किया गया है। शस्य-श्यामला भारत भूमि की वन्दना आदिकाल से ही कवि मुककण्ठ से करते चले आ रहे हैं। किरातार्जुनीय के वर्णित कथानक के साथ जब अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या के लिये प्रस्थान करने लगे, तो मार्ग में जाते समय धान की फसल देख कर वे भाव-विभोर हो गये। उनकी इच्छा हुई कि इस शस्य-शोभा का अवलोकन किया जाय। वे स्वयं वहां पहुंचे, जहां कृषक निवास करते थे। प्रौढ़ा रमणी के मेखला की भांति वहां राजहंस कलकूजन कर रहे थे। वह स्थान धान्य की परिपाकावस्था के कारण गौरवर्ण का हो रहा था। उस विलक्षण शोभा का अवलोकन करने के लिए प्रभावित अर्जुन कृषकों की उस निवास भूमि पर कौतूहलपूर्वक पहुंचे। सचमुच वह स्थान बडा ही मनोरम था।

**ततः स कूजत्कलहंस मेखला सपाकसस्या हितपाण्डुतागुणाम्।**
**उपाससादोपजन जनप्रियः प्रियामिवासादितयौवना भुवम्।।**

( कि० ०४ : १)

**राज्य-व्यवस्थाः-**

भारत के प्राचीन राष्ट्रों या जनपदों की शासन पद्धति के विषय में वैदिक साहित्य के सुशीलन से कतिपय निर्देश प्राप्त होते हैं। रामायण और महाभारत में प्राप्त वर्णनों के बाधार पर तात्कालिक साम्राज्य व्यवस्था का कुन ज्ञानवश्य प्राप्त होता है। किरातार्जुनीय महाभारत का ही उपजीवी काव्य है अतः इसमें वर्णित साम्राज्य-व्यवस्था महाभारत पर ही आधारित है।

**उपसंहार:-**

पूर्णरुपेण अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि सत्य, अहिंसा, तप आदि आध्यात्मिक मूल्यों को अधिक महत्व प्रदान करते हुये लोग ईश्वरीय न्याय में अधिक विश्वास रखते थे। न्याय की सर्वव्यापकता पर लोगों का विश्वास था। साधना को ही सफलता का आधार माना जाता था। तप, त्याग और संयम को महता दी जाती थी। अनीति का पतन एवं सुनीति की विजय होती थी। यूत में जीती हुई पृथ्वी को पुनः नीतिपूर्वक जीतने के लिये दुर्योधन का प्रयास इसका योतक है। लोगों का सामान्य जीवन सुखमय था। किरातार्जुनीय में वर्णित श्रृंगारिक जीवन से तात्कालिक समाज के विलासी जीवन का आभास होता है।

# नागपुरस्थाः संस्कृतसरस्वत्यः

**डॉ. कल्याणी काळे**
सहायक प्राध्यापिका
विश्वेश्वरैय्या राष्ट्रिय प्रौद्योगिकी संस्थानम् , नागपुरम्

संस्कृतभाषा तु सर्वासां भाषाणां जननी वर्तते इदं तु सर्वसम्मतं सत्यं वरीवर्ति। संप्रति तु भाषेयं जनमानसे बहुत्र व्यवहारभाषारूपेण प्रयुञ्जमना दरीदृश्यते। भाषा तु कस्याः अपि संस्कृतेः अविभाज्याङ्गरूपेण तिष्ठति। संस्कृतभाषा तु भारतीयसंस्कृतेः वैशिष्ट्यत्वेन अस्मान् पोषयति। अस्याः भाषायाः संवर्धनार्थं प्राधन्यत्वेन पुरुषपरम्परा सर्वदा अवलोकिता भवति। जनन्याः रक्षणं तु पुत्रेण कर्तव्यमेव इत्यत्र नास्ति कोऽपि आक्षेपः। किन्तु जनन्याः विषये तस्याः पुत्र्यः अपि स्वकर्तव्यं निर्वहन्त्यः दृश्यन्ते। वैदिककाले अपि गार्गी , मैत्रेयी, अपाला , घोष इत्यादयः वन्दनीयाः सरस्वतीकन्याः स्वीयं योगदानेन अजरामराः सञ्जाताः सन्ति। न केवलं वैदिकक्षेत्रे अपि तु नैकेषु पुरुषप्रधानक्षेत्रेषु स्त्रीणाम् आधिपत्यं संप्रति वर्धमानं दृश्यते इति वयम् अनया स्मरणिकाद्वारा अवगच्छन्तः स्मः। वैदिकयुगात् आरभ्य आधुनिकयुगपर्यन्तं महिलाः अपि समानरूपेण संस्कृतभाषायाः संरक्षणार्थं संवर्धनार्थं च बद्धपरिकराः सन्ति। समग्रेऽपि भारतवर्षे ईदृशाः वन्दनीयाः संस्कृतविदुष्यः प्रेरणारूपेण इदम् ईश्वरीयं संस्कृतभाषासेवाव्रतं परिपालयन्त्यः सन्ति। संस्कृतभाषा मृतभाषा इति मन्यमाने जगति कथमियं भाषा आधुनिकी वर्तते?

सर्वेऽपि आधुनिकविषयाः कथं सहजतया प्रतिपाद्यन्ते इति सन्दर्भे संस्कृतविदुषीभिः अपि क्षेत्रेऽस्मिन् विषेशावदनं नवा दृष्टिः च प्रदत्ता वर्तते। क्षेत्रमर्यादाम् अभिलक्ष्य वयं संप्रति नागपुरस्थानां संस्कृतविदुषीणां कर्यावलोकनं कुर्मः।

महाराष्ट्रस्य उपराजधान्यां नागपुरनगर्यां संस्कृताधयानस्य, संस्कृत्साहित्यनिर्माणस्य, संस्कृतप्रसारस्य संस्कृतप्रचारस्य च क्षेत्रेषु प्रायः 300 वर्षेभ्यः कार्यं प्रचलति। संस्कृतविदुषाम् अग्रेसरत्वं तु नितरां वर्तते किन्तु तत्रापि नागपुरस्थानां संस्कृतविदुषीणां योगदानं नागपुरस्य सारस्वतवैभवं परिचाययति। आसु देववाणीसमुपासिकासु विशेषोल्लेखनीयाः नागपुरस्थाः संस्कृतसरस्वत्यः इमाः सन्ति।

**डॉ. लीना रस्तोगी**- एषा ज्ञानवृद्धा 84 वर्षीया तरुणी इति महोदयायाः ख्यातिः। यूनाम् अपेक्षया किञ्चिदधिका ऊर्जा कार्योत्साहः अस्यां महोदयायां वर्तते। लीनामहोदया उमरेडस्य नूतन-आदर्श महाविद्यालयात् संस्कृतप्रोफेसर इति पदात् निवृत्ता अस्ति। अस्याः जन्म जुलैमासे 29 दिनाङ्के 1939 तमे वर्षे अभवत्। भाषाविज्ञानम् इति विषये महोदयायाः विषेशाधिकरो विद्यते। संस्कृतं , हिन्दी , आङ्ग्ल , पाली आदिषु भाषासु नैपुण्यम् आवहति लीनावर्या। अन्यासु अपि भाषासु लीनावर्यायाः लेखनसंपदः वर्तन्ते। अत्र तु संस्कृतस्यैव कार्यसंपदं समीक्षामहे।

- स्वयंसिद्धः प्रज्ञाचक्षुः चरित्रग्रन्थः
- रसरङ्गः- संस्कृत एकाङ्किका संग्रहः
- तर्कभाषा ...

अनेन साकं बहूनां संस्कृतग्रन्थानां हिन्दीभाषायां मराठीभाषायाम् अनुवादः अनया विदुष्या कृतः। तथैव मराठी- संस्कृतग्रन्थानां सम्पादनमपि कृतम्। लीनामहोदयायाः बहवः ग्रन्थास्तु प्रकाशिताः सन्ति। केचन ग्रन्थास्तु प्रकाशनाधीनाः सन्ति। संस्कृतजगति डॉ . लीना रस्तोगी महोदयायाः योगदानम् अभिलक्ष्य सा नैकैः पुरस्कारैः सम्मानिता। 1999 तमे वर्षे महाराष्ट्रसर्वकारेण "संस्कृत पण्डिता" इति पुरस्कारेण गौरवान्विता अस्ति। तथैव 2018 तमे वर्षे "ज्ञानयोगी" पुरस्कारेण ,2019 तमे वर्षे 'महाकवि कालिदास संस्कृत सेवाव्रती' इति श्रेष्ठपुरस्कारेण सम्मानिता वर्तते। एतद् अतिरिच्य प्रतिष्ठितासु संस्थासु श्रेष्ठपदेषु महोदया कार्यरता वर्तते। संस्कृतभाषा- प्रचारिणी- सभायाः अध्यक्षपदं तथैव महाराष्ट्रस्य राज्यभाषासंचालनालये 'शासन व्यवहार कोश' तथा 'अर्थपरिभाषाकोश' निर्माणे संस्कृतज्ञरूपेण नियुक्तिः तस्याः पाण्डित्यं स्वयमेव ब्रूते। लीनावर्यायाः अन्यद् विषेशावदानं नाम संस्कृतभाषायां 'गलज्जलिका' अर्थात् 'गज़ल' इति काव्यप्रकारं स्वप्रतिभया साकारयन्ती लीना महोदया प्रथमा कवयित्री वर्तते। संस्कृतभाषाम् आराध्यदैवतं मन्यमानया लीनावर्यया संस्कृतभाषायै आरतिक्यं रचितम्।

*जयदेवि त्वां भगवति सुरभाराति वन्दे*

*कोमलकान्तपदावलिमधुरसनिष्यन्दे*

*सुरभाराति वन्दे .....।।ध्रु।।*

(समर्पण वार्षिकाङ्कः - 2020)

नागपुरे संस्कृतकार्यक्रमेषु आर्तिक्यमिदम् अनिवार्यतया गीयते। संस्कृतसाहित्यस्य इतिहासे डॉ . लीना रस्तोगी महाभागायाः इदं मौलिकं योगदानं चिरन्तनं विद्यते।

1)**सौ. ललिताशास्त्री आर्वीकर**- 1944 तमे वर्षे वैदिककुले प्राप्तजन्मा ललिताशास्त्री विवाहात्परमपि वेदव्रतीपरिवारे परिणीता। वेदसंस्कारैः प्राप्तया कुशाग्रमत्या संस्कृतविषये उच्चशिक्षाम् अवाप्नोत्। ततः सरस्वती विद्यालये अध्यापिका इति दायित्वं निर्व्यूढम्। संस्कृतगृहस्य संकल्पना अर्थात् न केवलं पठनापाठनस्य भाषा अपि तु गृहे संवादस्य भाषा संस्कृतमेव भवतु इति निजाचरणेन महोदया बहुपूर्वमेव प्राबोधयत्। ललिताशास्त्रीवर्यायाः संस्कृतवैदुष्यम् अभिज्ञाय परमपूज्यानां कामकोटिविद्यापीठाधीश्वरजयेन्द्रसरस्वती शंकराचार्याणाम् आदेशेन "नारायणीयम् " तथा "मूकपञ्चशीति" संस्कृतमहाकाव्ययोः मराठीभाषायाम् अनुवादकार्यं महोदयया सफलतया पूर्णतां नीतम्। अस्याः विषेशावदानं नाम ललिताशास्त्री महोदयया नायिकाप्रधानं "राधायनम् " इति रसपूर्णस्य लक्षणयुक्तस्य च महाकाव्यस्य रचना कृता। इदं तस्याः मौलिकं योगदानं विदर्भवासिनः साभिमानं स्मरन्ति। "संस्कृत पण्डिता ", 'संस्कृत साधना' आदिभिः नैकैः पुरस्कारैः इयम् आधुनिकी कवयित्री महोदया सम्मानिता वर्तते।

2) **दुर्गा पारखी**- दुर्गा पारखी महोदयायाः जन्म 1941तमे वर्षे नोव्हेम्बरमासस्य 12 दिनाङ्के अभवत्। तस्याः सर्वविधस्तरीयं शिक्षणं नागपुरे एव अभवत्। संस्कृते स्नातकोत्तरं (एम् .ए ) तथा संस्कृते शास्त्रपारङ्गतम् (एम् .फिल ) इत्येतादृशं विशेषाध्ययनं कृत्वा नागपुरस्य सी.पी.एन्ड बेरार विद्यालये विद्यादानं

विधाय सेवानिवृत्ता अभवत्। संस्कृतभवितव्यमिति साप्ताहिके तस्याः ललितरचनाः निरन्तरं प्रकाशिताः भवन्ति। नित्यं संस्कृताध्यापने रता इयं प्रतिभाशालिनी संस्कृतसाहित्यनिर्माणे मग्ना वर्तते। तत्रापि विशेषत्वेन "संस्कृतप्रहेलिका " तथा 'संस्कृतबालनाट्य' लेखने निपुणा इयं विदुषी आभारते सुख्याता वर्तते। आधुनिके संस्कृतविश्वे संस्कृतप्रहेलिका इति कश्चन नवाचारः अनया पण्डितया आचरितो विद्यते। संस्कृतसेवातत्परा दुर्गामहोदया "संस्कृतसेवाव्रती " पुरस्कारेण सभाजिता वर्तते।

3) **डॉ. शारदा रमेशः गाडगे**- 30 जून 1954 तमे प्राप्तजन्मा संध्या सावदेकर विवाहात् परं सौ. शारदा रमेशः गाडगे अभवत्। संस्कृतविषये स्नतकोत्तरम् (PG ),शास्त्रपारङ्गतम् (MPhil), विद्यावारिधिः (पी. एच्. डी.) इत्यादयः उपाधयः शारदामहोदया नागपुर- विद्यापीठात् अधिगतवती। लेडी अमृताबाई डागा महिला महाविद्यालयात् संस्कृत-विभागाध्यक्ष इति पदात् सेवानिवृत्ता वर्तते। कायिकचक्षुसमस्यायां सत्याम् अपि प्रज्ञाचक्षुषा उत्कृष्टम् अध्यापनस्य आदर्शं प्रस्थापितवती एषा सरस्वतीवरदहस्ता शारदा। अध्यापनेन साकं 14 शोधच्छात्राणां कृते यशस्वि मार्गदर्शनमपि कृतम्। सौभग्यवशात् तेषु 14 छात्रेषु अहम् अन्यतमा इति आनन्दस्य विषयो वर्तते मम कृते। महोदयायाः संस्कृताधारितानि 10 पुस्तकानि प्रकाशितानि सन्ति। संस्कृतार्थं दत्तैकचित्ता सर्वदा संस्कृतसेवारता विद्यते अतः संस्कृतभाषा प्रचारिणीद्वारा 'संस्कृत प्रचार प्रसारार्थं डॉ. शारदावर्यायाः सभाजनम् अभवत्। शारदा इति स्वीयं नाम सार्थकं कुर्वत्यै अस्यै विदुष्यै 2015 तमे वर्षे महाराष्ट्रशासनस्य कालिदास साधना पुरस्कारं प्रदाय गौरवान्विता वर्तते।

4) **डॉ. नन्दा जयन्तः पुरी**- साहित्यनन्दिनी डॉ. नन्दा पुरी महोदया इति नागपुरस्य सुपरिचितं छात्रप्रियं व्यक्तिमत्वम्। कवि-कुलगुरु-कालिदास-संस्कृत-विश्वविद्यालयः रामटेकम् इति संस्कृतविद्यापीठस्य संस्कृत सङ्घर्षकाले विद्यापीठस्य संवर्धने संपोषणे च महोदयायाः कार्यं नितरां महत्त्वं भजते। बहूनां शोधच्छात्राणां मार्गदर्शिका प्रो. नन्दा पुरी महाभागा। संस्कृतसाहित्ये कथालेखने महोदयायाः विशेषप्राविण्यम्। 'कालिदासाचे काव्यसौन्दर्य', 'संस्कृत साहित्यातील लघुकथा', 'क्षमादेव्याः कथाविश्वम्' , 'गीताविकासस्य पुनरीक्षणम्', 'कथामुक्तावली', 'शोधमुक्तावली', 'वैदिक कथा' इत्यादीनां बहूनां ग्रन्थानां लेखनं संपादनं महोदयया कृतम्। राष्ट्रिय -अन्ताराष्ट्रियपरिषत्सु शोधपत्रवाचनं प्रकाशनं च अभवत्। डॉ. पुरी महोदया 2007 तमे वर्षे महाराष्ट्र सर्वकारस्य 'आदर्श शिक्षक पुरस्कारः', 2014 तमे वर्षे 'संस्कृत साधना पुरस्कारः', 2017 तमे वर्षे 'उत्कृष्ट संस्कृत रचना सन्मान', 2020 तमे वर्षे महाराष्ट्रस्य 'भाषा सन्मान पुरस्कारः', 2023 तमे वर्षे 'साहित्यनन्दिनी ' आदिभिः पुरस्कारैः गौरवान्विता अस्ति। कवि-कुलगुरु - कालिदास -संस्कृत - विश्वविद्यालयस्य प्रायः सर्वेषु महत्त्वपूर्णपदेषु स्वीयां सेवां दत्त्वा 2023 तमे वर्षे विद्यापिठात् निवृत्ता अभवत्।

5) **डॉ. कविता होले** - कवि-कुलगुरु-कालिदास-संस्कृत-विश्वविद्यालयः रामटेकम् इत्येतस्य स्थापनादारभ्य अद्यत्वे अपि प्रोफेसर इति पदम् अलङ्कुर्वती कविता महोदया संस्कृतम् एवम् अन्यभाषा संकायस्य अधिष्ठाता तथैव संस्कृतभाषा तथा साहित्यविभागस्य विभागप्रमुखरूपेण दायित्वं वहन्ती अस्ति।

काव्यशास्त्रे तत्रापि छन्दश्शास्त्रे विशेषप्रावीण्यं वर्तते महोदयायाः। अस्याः संस्कृतविदुष्याः 50 पुस्तकानि प्रकाशितानि सन्ति। महोदयायाः 70 शोधपत्राणि प्रकाशितानि सन्ति। अन्ताराष्ट्रियसम्मेलनेषु सर्वोत्कृष्टं शोधपत्रार्थम् अनया परितोषिकमपि प्राप्तम्। 2023 तमे वर्षे कवितामहाभागायै 'Distinguished Professor Award 2023' इति अरविन्दो योगा एण्ड नॉलेज फॉउंडेशन द्वारा प्रदत्तः। 'भाषा सम्मान पुरस्कारः' , 'महाराष्ट्रसर्वकारद्वारा 'संत गुलाबबाबा पुरस्कारः' इति नैकैः प्रतिष्ठितपुरस्कारैः डॉ. कविता महोदया सभाजिता वर्तते।

"ज्ञानमेव परा शक्ति" (Knowledge alone is the greatest strength) इति मन्यमानाः इतोऽपि उल्लेखयोग्याः नागपुरस्थाः संस्कृतविदुष्यः नागपुरस्य भूषणानि सन्ति। स्वीयं विलक्षणीयेन योगदानेन राराजमानाः संस्कृतसरस्वत्यः समाजे प्रभावं जनयन्त्यः सन्ति। तासु प्रतिभाशालिनीषु डॉ. विजया रामचन्द्रः जोशी, संस्कृत-जनसङ्ग्रहनिपुणा डॉ. विजया विलासः जोशी , संस्कृतसाहित्ये उक्तानां सौन्दर्यप्रसाधनानां विषये वैज्ञानिकप्रयोगासक्ता डॉ. स्मिता होटे, डॉ. वीणा गानु तथैव डिलिट् इति उपाधिना विभूषिता डॉ. प्रज्ञा देशपाण्डे इत्येताः संस्कृतपण्डिताः नागपुरस्य संस्कृतक्षेत्रे भूत्वा राष्ट्रिय-अन्ताराष्ट्रियस्तरे संस्कृतसेवया भारतीयसंस्कृतेः सम्मानं वर्धयन्ति।

# महाराजनलविरचितम् 'पाकदर्पणम्' - एक जीवनामृत : भारतीय पाककला का अद्भुत निदर्शन

**वैद्य स्वप्नील अनिल सहस्रबुद्धे**
सहायक आचार्य, संस्कृत संहिता सिद्धान्त,
स्वामी विवेकानंद आयुर्वेद कॉलेज, श्रीगोंदा, महाराष्ट्र

**बीजसार:-** अमृता (गुडूची/गिलोय) और निम्ब जैसे तिक्त (कटू) वनस्पतीयों के पत्तों का शाक (सब्जी) विशेष लक्षवेधक तथा आरोग्य के लिए जीवनामृत हो सकता है। इन शाक का कलात्मक पद्धती से सिद्धिप्रयोग कैसे करे यह महाराज नल ने बताया है, और शरीरस्वास्थ्य हेतू यह शाक गुणात्मकता से कितना महत्त्वपूर्ण है, यह भी विशद किया है। इस दृष्टि से 'पाकदर्पणम्' ग्रन्थ वाङ्मयीन, पाककलात्मक तथा आयुर्वेदीक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है।

**कूट शब्द :** अमृता (गुडूची), निम्ब (नीम), शाक, विधि, गुण, पूगपट्ट, तिक्त, पथ्य

'कल्' धातु से उत्पन्न- (कल् - बनना, एकत्र करना, 'कङ्' धातु - प्रसन्न करना) 'कला' शब्द का शाब्दिक अर्थ है - जो सुन्दर याने आनन्द प्रदान करती है। मानवी प्रवृत्तियों की बाहरी अभिव्यक्ति कला है। ज्ञान और अभ्यास का परिणामस्वरूप कुशलतासे की जानेवाली कौनसी भी चीज कला है। कला का निर्माण भावनात्मक सामग्री की अभिव्यक्ति है। कला विविध घटकों की अनुभूति प्रदान करनेवाली अद्भुत अवस्था तथा व्यवस्था है।

'पाककला' अनेक कला प्रकारो में से प्रायोगिक कला प्रकार में आती है। पाककला, मानव संस्कृति अबाधित रखने का काम करती है। ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' ये हमेशा भारत का उद्देश रहा है। पुरे विश्व स्वास्थ्य का प्रचार और प्रसार हेतू, प्रत्येक भारतीय कलाविष्कारो में अभिव्यक्त करता है।

यह एक कला तो है अपितु एक शास्त्र भी है। कल् क्षेपे- शास्त्र शब्द 'शासु अनुशिष्टो' से उत्पन्न है। जिसका अर्थ अनुशासन या उपदेश करना है। शास्ति च त्रायते च शिष्यते अनेन। अर्थात् जो शिक्षा अनुशासन प्रदान कर हमारी रक्षा करती है। 'पाकदर्पणम्' में यह दोनों का अद्भुत सङ्गम नलराजाने बहुतही चातुर्यता से किया है। संस्कृत साहित्य में अतिप्राचीन तथा अद्वितीय साहित्य हेतू, मेरा ध्यान उसपर आकृष्ट हुआ। आयुर्वेद स्नातक होने के कारण यह कलाकृति मुझे बहुतही अध्ययन योग्य लगी।

भारतीय पाककला पूर्णतः आयुर्वेदाश्रित है। हमारे दिग्द्रष्टा पूर्वजों के सतत स्वाध्याय, अनुभव एवं प्रयोगधर्मितामूलक ज्ञान-विज्ञान की अमुल्य देन है। वेद, उपनिषद्, पुराण, स्मृतिग्रन्थ, चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, अष्टाङ्गहृदय, अन्य महत्त्वपूर्ण निघंटु आदि के अतिरिक्त अनेक अर्वाचिन रचनाएँ जैसे पंडित रघुनाथ विरचित 'भोजन कुतुहलम्', क्षेमशर्मा विलिखित 'क्षेमकुतुहलम्', अन्नाजी बल्लाल बापता की 'पाकचन्द्रिका', 'इन्दुराकारावैद्यः', 'शिवतत्वरत्नाकरः' आदि महत्त्वपूर्ण है। इसी क्रम में आहारविज्ञान सम्बन्धी एक अतिमहत्त्वपूर्ण एवं अद्भुत ग्रन्थ - महाराजनल विरचितम् 'पाकदर्पणम्'। 'पाक' से तात्पर्य है 'पाकक्रिया' या 'पकाया गया

भोजन' तथा 'दर्पणम्' का अर्थ है 'प्रतिबिम्ब'। लोकसाहित्य तथा लोकसंस्कृती के अभ्यासक डॉ. दुर्गा भागवत ने, 'पाकदर्पणम्' इस ग्रन्थ में पाश्चात्य वस्तुओं का उल्लेख ना होने के कारण हस्तलिखित यह ग्रन्थ 15 शतक पूर्व होने का अनुमान नोंद किया है। 1992 में पंडित वामाचरण शर्माजी ने पहली बार 'नलपाकदर्पणम्' यह हस्तलिखित संपादित किया। इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद डॉ. इन्द्रदेव त्रिपाठी द्वारा किया गया। चौखम्भा संस्कृत संस्थान ने वाराणसी में प्रकाशित किया। डॉ. मधुलिका द्वारा किया गया अंग्रजी अनुवाद चौखम्भा ओरियन्टालिया, वाराणसी में प्रकाशित हुआ। 'अनुष्टुभ' छन्द से रचित, 760 श्लोकों से तथा एकादश प्रकरणो में विभाजित यह ग्रन्थ लालित्यपूर्ण तथा प्रासादिकता रचित होने के कारण सहज है। पाककृतियों का, बाहुक (महाराज नल) और राजा ॠतुपर्ण संवाद, नाट्यपूर्ण संवाद रीति से भरा हुआ ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में बहुत रोचक है।

कहते है की, वाङ्मय जीवन के सर्व अङ्गो का 'दर्पण' है। जीवनभाष्य दृष्टि से, वाङ्मय का विचार करते हुएँ, महाराजनल विरचितम् 'पाकदर्पणम्' यह ग्रन्थ संस्कृत वाङ्मय में, ललित वाङ्मय और शास्त्रीय वाङ्मय, दोनो दृष्टि से मौलिक वृद्धि प्रदान करता है।

'पाकदर्पणम्' में बहुत ऐसी विचित्र तथा आश्चर्यकारक पाककृतियाँ है जिन्हे पढ़ने से हम आश्चर्यचकित हो जाते है।

'पाकदर्पणम्' में से महातिक्त अमृता और निम्ब पत्र शाक प्रयोग - इस सम्बन्ध से चिकित्सापूर्वक विश्लेषण, प्रस्तुत शोधनिबन्ध में करने का मानस है।

लोक परंपरासे गुडूची को ज्वरनाशी तथा अमृतलता कहते है। इसका श्रीहरि विष्णु से सम्बन्ध है। निम्बवृक्ष पर चढ़ी हुई यह वल्लीका उत्तम औषधी गुणों वाली कहते है। तथा निम्ब वृक्ष के नीचे पाताल लोक तक जाने वाले जडों का सम्बन्ध महादेव के एकादश रुद्रोमें से एक से है। निम्ब को धार्मिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व है। दत्तसम्पद्राय में निम्ब वृक्ष को अनन्यसाधारण महत्त्व है। भारतीय नवसंवत्सर का स्वागत ध्वजा लगाके किया जाता है। उस ध्वजा को नीम के पत्ते लगाते है। थोडे पत्ते खाते भी है तथा उसके श्वेत पुष्पों का भी सेवन करते है। मान्यता है, प्रभूश्रीराम के आगमन हेतू आनन्दोत्सव, ध्वजा लगाकर किया जाता है। भूत उतारने, ज्वर निवारने, तथा कीटकनाशनार्थ पत्तों का उपयोग, देखने को मिलता है। लेकिन लोकपरंपरा में दैनंदिन सब्जी बनाने एवं खाने में उसका उपयोग दिखाई नहीं देता। 'पाकदर्पणम्' में इन दोनो वनस्पतियों के पत्र का शाक अत्यंत महातिक्त (अत्यंत कटू) होते हुए भी अत्यंत कुशलता से कैसा बनाए और उसकी उपयुक्तता क्या है यह भी इस ग्रन्थ में वर्णित है।

**'पाकदर्पणम्' में अमृता और निम्ब पत्र शाक का श्लोकबद्ध वर्णन :**

**(i) अमृतपत्रशाकनिर्माण विधिर्गुणाश्च-**

ततो ऽ मृतालतोत्पन्नं वर्णमानीय शोभनम्।
तत्तिक्तमोचनं कुर्यान्निशाचूर्णेन यत्नतः ॥1॥
शंखचूर्णेन वा कुर्यात् क्रमुकस्य फलेन वा।
तरुदुग्धेन वा कुर्यात्तद्दलैस्तण्डुलेन वा ॥2॥

अनेनैव प्रकारेण त्यक्तितिक्तञ्च तद्दलम्।

प्रक्षिपनं तद्दलैर्माषं मरीचाजाजिसैन्धवम् ॥3 ॥

घृतेन भर्जयेत्तस्मात् तेन त्वमृतभर्जितम्।

रुच्यं बल्यं त्रिदोषघ्नं दीपनं धातुवर्धनम् ॥4 ॥ 1

**(ii) निम्बपत्रशाकनिर्माण विधिर्गुणाश्च -**

पत्रं निम्बस्य तरुणं समादेयमनामयम्।

पचेत्पौनर्नवैः पत्रैमत्स्याक्षाश्च फलैस्तथा ॥1 ॥

तद्वत मोचयेतिक्तं कार्पासस्य दलेन वा।

ततः सम्भारसंयुक्तं तस्मिन् मधुरता भवेत् ॥2 ॥

वासयेद् घनसारेण पूगनेत्रेण वेष्टयेत्।

त्रिदोषशमनं पथ्यं सर्वव्याधिहरं शुभम् ॥3 ॥ 2

**वाङ्मयीन लालित्यदृष्टि से श्लोक का महत्त्वः-**

ऋतुपर्ण के नगर में स्वयं को अश्वविद्या एवं पाकविद्या में प्रवीण घोषित करते हुए निवास करते है।3 राजा ऋतुपर्ण-बाहुक को, पाककृतियों तथा उनके गुणधर्म के सम्बन्ध में बहुतही जिज्ञासा वृत्ती से प्रश्न पुछते है और बाहुक उस प्रश्नों का लालित्य से, प्रासादिक भाषा से, पाककला की परिभाषा से तथा आयुर्वेदीय गुणों के साथ संवादात्मक उत्तर देते है।

विधि के लिए लगनेवाली वस्तुओं का वर्णन, लोकव्यवहार की परंपरा अनुसार सहजता से किया है। उदाहरणार्थ-

ततो ऽ मृतालतोत्पन्नं पर्णमानीय शोभनम्।

अथवा

पत्रं निम्बस्य तरुणं समादेयमनामयम्।

श्लोकार्थ- अमृता (गुडूची) लता के सुंदर पत्रों को लेकर हल्दी-चूर्णसे उसकी तिक्तता (कटूता) दूर करे।

अथवा

निरोगी (साफ) तथा तरुण (ताजा) निम्ब के पत्र लेकर पुनर्नवा के पत्र के साथ अथवा मत्स्याक्षि (काकमाची/मकोय) के फल के साथ पकाएँ अथवा कार्पास पत्रों के साथ पकाएँ। उससे कटूता दूर हो जाएगी।

इसमें शोभनम्, तरुणं, ऐसा पत्रों का उल्लेख कर के लोकमानस को स्पर्श किया है। उससे शोभनम्, तरुणं याने निश्चित क्या ये कहने कि आवश्यकता नही रहती। इस प्रकार व्यञ्जकता से, शास्त्रीय तथा कला के ग्रन्थ में, भाषा लाघवता का प्रयोग किया हुआ दिखता है। उससे समृद्ध संस्कृत भाषा का ज्ञान नलराजा को अवगत था। लोकभाषा और लोकमानस नलराजा को अवगत था ये स्पष्ट होता है।

**पाककला सिद्धि निर्देशनः-**

**(i) अमृता पत्र शाक बनाने की विधि तथा गुण-**

अमृता (गुडूची) लता के सुन्दर पत्तों को लेकर हल्दी चूर्ण के साथ इसकी तिक्तता (कटूता) को दूर करे या शङ्ख के चूर्ण क्रमुक

(पूगीफल) का फल, बरगद का दूध (वट दूग्ध) या बरगद का पत्ता अथवा चावल के साथ उसकी तिक्तता (कटूता) को दूर करे। इसी प्रकार तिक्तता रहित उन पत्तों को बटलोही में (कढाई/पात्र) छोडकर उनके साथ उडद, मरिच (मिरे), जीरा या सेंधा नमक (सैन्धव) के चूर्ण को मिला दे और घी के साथ भून ले। यह घी के साथ भूनने पर अमृत के साथ भूनने की तरह हो जाता है। यह रुचिकारक, बलदायक, त्रिदोषनाशक, जाठराग्निदीपक तथा धातुवर्धक होता है।

**(ii) निम्ब (नीम) के पत्तों का शाक बनाने की विधि तथा गुण-**

निरोग स्वच्छ एवं तरुण नीम के पत्तों को लेकर पुनर्नवा के पत्तो के साथ या मत्स्याक्षि (मकोय/काकमाची) के फलों के साथ पकावे अथवा कपास के पत्तों के साथ पकाकर उसकी तिताई को दूर करे। इसके उसमें मिठास आ जाती है। तदनन्तर कर्पूर से सुगन्धित बना दे तथा पूगपट्ट नेत्र (पत्ते से निर्मित पात्र) से आवेष्टि कर दे। यह खाने से त्रिदोष को शान्त करता है। पथ्य है तथा अच्छी तरह सभी रोगों को दूर करता है।

**आयुर्वेदीय दृष्टिकोनः-**

वैशिष्ट्यपूर्ण शाक क्यों और कैसे बनाएँ इसका निवेदन यह नलराजा के प्रगल्भ बुद्धिमत्ता का परिचय कर देता है। 'पाकदर्पणम्' ग्रन्थ कि चिकित्सा करते हुएँ नलराजा के आयुर्वेद ज्ञान का दर्शन अचम्बित कर देता है। वास्तविकतः लोकपरंपरा में पाककला, दिनचर्या, ऋृतचर्या तथा प्रकृतिनुसार करने की परंपरा है। लेकिन नलराजा, आयुर्वेद शास्त्र का पाककला में यथोचित अनुसरण चातुर्यता से करता हुआ दिखाई देता है।

अमृतापत्र शाक के घटक द्रव्यों का आयुर्वेदीय चिकित्सक विश्लेषण-

**अमृता :**

गुडूची कटुकातिक्ता स्वादुपाका रसायनी। संग्राहिणी कषायोष्णा लघ्वी बपल्याग्निदीपनी॥

दोषत्रयाम तृड्दाहमेहकासांश्च पाण्डुताम्। कामला कुष्ठवातास्रज्वर कृमिवमीर्हरित्॥ भा.प्र.4

**हरिद्रा :**

हरिद्रा कटुकातिक्ता रूक्षोष्णा कफपित्तनुत्। वर्ण्या त्वग्दोषमेहास्त्रशोथपाण्डुव्रणापहा॥भा.प्र.5

**पूग (क्रमुक) :**

पूगं गुरु हिमं रूक्षं कषायं कफपित्तजित्। मोहनं दीपनं रुच्यं आस्यवैरस्यनाशनम्॥

आर्द्र तद् गुर्वभिष्यन्दि वह्निदृष्टिहरं स्मृतम्। स्विन्नं दोषत्रयच्छेदि दृढमध्यं तदुत्तमम्॥ भा.प्र.6

**वट :**

वटःशीतो गुरुर्ग्राही कफपित्तव्रणापहः। वर्ण्योविसर्पदाहघ्नः कषायो योनिदोषहृत्। भा.प्र.7

**तण्डूल :**

स्वादुपाकरसाः स्निग्धा वृष्या बद्धाल्पवर्चसः। कषायानुरसाः पथ्या लघवो मूत्रला हिमाः॥ अ.हृ.8

**उडीद (माष) :**

माषः स्निग्धो बलश्लेष्ममलपित्तकरः सरः। गुरूष्णोऽनिलहा स्वादुः शुक्रवृद्धिविरेककृत्॥ अ.हृ.9

**मरिच :**

मरिचं कटुकं तीक्ष्णं दीपनं कफवातजित्। उष्णं पित्तकरं रूक्षं श्वासशूलकृमीन्हरेत्॥ भा.प्र.10

**सैंधव :**

सैन्धवं तत्र सस्वादु वृष्यं हृद्यं त्रिदोषनुत्। लघ्वनुष्णं दृशः पथ्यमविदाह्यग्निदीपनम्॥ अ.हृ.11

**घृत :**

शस्तं धीस्मृतिमेधाग्निबलायुःशुक्रचक्षुषाम्।
बालवृद्धीप्रजाकान्तिसौकुमार्यस्वरार्थिनाम्॥
क्षतक्षीणपरीसर्पशस्त्राग्निग्लपितात्मनाम्।
वातपित्तविषोन्मादशोषालक्ष्मीज्वरापहम्॥
स्नेहानामुत्तमं शीतं वयसः स्थापनं परम्।
सहस्रवीर्यं विधिभिर्घृतं कर्मसहस्रकृत्॥ अ.हृ.12

**निम्बपत्र शाक के घटक द्रव्यों का आयुर्वेदीय चिकित्सक विश्लेषण -**

**निम्ब :**

निम्बः शीतो लघुर्ग्राही कटुपाकोऽग्निवातनुत्। अहृद्यः श्रमतृड्कासज्वरारुचिकृमिप्रणुत्।

व्रणपित्तकफच्छर्दीकुष्ठहृल्लासमेहनुत्॥ भा.प्र.13

**पुनर्नवा -**

कटुकषायानुरसा पाण्डुघ्नी दीपनी परा। शोफानिलगरश्लेष्महरी व्रण्योदरप्रणुत्॥ भा.प्र.14

**काकमाची -**

काकमाची त्रिदोषघ्नी स्निग्धोष्णा स्वरशुक्रदा। तिक्ता रसायनी शोथकुष्ठार्शोज्वरमेहजित्।

कटुर्नेत्रहिता हिक्काच्छर्दिहृद्रोगनाशिनी॥ भा.प्र.15

**कार्पासः-**

कार्पासको लघुः कोष्णो मधुरो वातनाशनः। तत्पलाशं समीरघ्नं रक्तकृत्मूत्रवर्धनम्॥

तत्कर्णापिडकानादपूयस्त्रावविनाशनम्। तद्बीजं स्तन्यदं वृष्यं स्निग्धं कफकरं गुरु॥ भा.प्र.16

**संभार -**

सकेसरं चर्तुजातं त्वक्पत्रैलं त्रिजातकम्। पित्तप्रकोपि तीक्ष्णोष्णं रूक्षं रोचनदीपनम्॥

सुगन्धि सर्वपेयानां व्यञ्जनानां च वासनम्। लेहानां खाद्यपाकानां चूर्णानां च प्रयोजयेत्॥

## अमृता (गुडूची) और निम्ब पत्र का पोषणमूल्य -

### अमृता (Giloy) -

Protein 4.13%, fats 3.12%, Ash : 12.01%, Neutral Detergent fibre (Structural Components of the plant) : 37.90%

Giloy is a source of many important plant compounds, namely tepenoids, Alkaloids, lignans & steruids. Laboratory studies suggest these compounds have antimicrobial, antiinflametory, antioxident & antidiabetic properties, among other benefits. Studies have established that giloy leaves are rich in vit.c & minerals. While the starch, from the stem (called guduchi satva) is full of calcium & iron. The stem extract helps control diabetes & arthritis, strenghtens immune response & aids in digestion.

### निम्ब (Neem) -

Neem leaf meal was analysed in a study that found it has 18.10% crude protein & relatively high crude fibre of about 15-56% Though the gross energy containt was high at 4.16 kcal/g. The metabdizble energy is low.

Organic Virgin Neem Oil is comprised of approximately 40% saturated fatty acids, 40% monounsaturated fatty acids & up to 7% polyunsaturated fatty acids in the form of Lindeic Acid, an important omega-3 essential fatty acid.

It has a rich nutrient profile containing protein, carbohydrats, minerals Like Vitamin C, Phosphorus, Calcium & Carotene. Neem also contain glutanic acid, aspartic acid, praline & fatty acids[19]

Consuming neem leaves helps in reduction in inflammation in the gastrointestinal tract. Neem leaves also help in reducing ulcers & wide range of other intestinal issues, such as constipation, bloating & cramping if taken regularly.[20]

ऋग्वेद से लेकर चरक, सुश्रुत, वाग्भटाचार्यादि जैसे तपस्वी मुनीयों तक, अन्नात्पुरुषः। स वा एषा पुरुषोऽन्नरसमयः। या अद्यतेवा अत्ति च वा इति अन्न। या - अन्न न निन्द्यात्। अन्न न परिचक्षीत। अन्नं बहुकुर्वीत। तद्व्रतम्। या सर्व द्रव्यं पाञ्च भौतिकम्। या त्रयोपस्तंभ में आहार एक उपस्तंभ जैसि परंपरा, प्रासादिकता से आगे कहनेवाला अनुष्टुभ छंद रचित प्रायोगिक पाककला का 'पाकदर्पणम्' ग्रन्थ, भारतीय पाकाविष्कार का उत्तम उदाहरण है। जैसे, पाकसिद्धिनिर्देशन - अमृता पत्र और निम्ब पत्र शाक - श्लोक क्र. 462-465 तथा 466-468 में वर्णित है।

शरीरस्वास्थ्य हेतू, दैनंदिन आहार में शाक के रूप में कैसे उपयोग में लाएँ यह महाराज नल ने संवाद के माध्यम से प्रतिपादित किया है। गुडूची, नीम जैसी महातिक्त वनस्पतियाँ प्रतिपादन किया है। यह ग्रन्थ पाककला, आयुर्वेद शास्त्र तथा संस्कृत वाङ्मय में मौलिक तथा पथदर्शी रहेगा। उसमें बताई गयी हर पाककृति 'पाकदर्पणम्' का महत्त्व अधोरेखित करती है। सत्यतः, ऐसी पाककृतियाँ प्रत्यक्ष लोक व्यवहार में लाकर पूरे विश्व में अनेक आरोग्य कि आपदाओं पर अमृतवत् काम करेगी यही आशादायक स्थिति है।

प्रमेह (Diabetis) व्याधि, कर्करोग (Cancer) आदि व्याधियाँ चिन्ता का विषय है। ऐसी विपदाओं में अमृता और निम्ब वनस्पतीयाँ व्याधिक्षमत्व बढ़ाकर स्वास्थ्य रक्षण करती है। स्वस्थस्य स्वास्थ्य रक्षणम्। आतुरस्य विकार प्रशमनम् च॥ यह आयुर्वेद का हमेशा उद्देश रहा है। एक प्रभावी शस्त्र के रूप में यह पाककृतियाँ

महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी, इसमें सन्देह नही। इसलिए बडी मात्रा में इसका प्रचार-प्रसार होना तथा आयुर्वेदीय पाकशाला (आयुर्वेदीय रेस्टोरन्ट) का आरंभ करना यह कालोचित होगा।

**संदर्भ :**


1) महाराजनलविरचितम्- 'पाकदर्पणम्', हिंदीव्याख्याकार- डॉ. इन्दद्रेव त्रिपाठी, आयुर्वेदाचार्य प्रकाशक- चौखंभा संस्कृत भवन, वाराणसी, चतुर्थ संस्मरण- वि. सं. 2076 (2019), पृष्ठ क्र. 66, श्लोक क्र. 462-465.
2) तत्रैव- पृष्ठ क्र. 66, श्लोक क्र. 466-468.
3) महाराजनलविरचितम् 'पाकपर्दणम्- हिंदी व्याख्याकार डॉ. (आयुर्वेदाचार्य) त्रिपाठी इन्द्रदेव, चौखंबा संस्कृत भवन प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण 2019.
4) श्रीमद्भावमिश्रप्रणीत- भावप्रकाशनिघण्टुः, विमर्शकार- डॉ. कृष्णचन्द्र चुनेकर, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, पुनर्मुद्रित 1999, गुडूच्यादिवर्गः, श्लोक क्र. 8-10, पृ.क्र. 269.
5) तत्रैव- हरीतक्यादिवर्गः, श्लोक क्र. 197, पृ.क्र. 114.
6) तत्रैव- आम्रादिफलवर्गः, श्लोक क्र. 50, 51, पृ.क्र. 562.
7) तत्रैव- वटादिवर्गः, श्लोक क्र. 2, पृ.क्र. 513.
8) श्रीमद्वाग्भट विरचित- अष्टांग हृदय सूत्रस्थान, लेखक- वैद्य दि. प्र. गाडगीळ, वैद्य यशःश्री जोशी, मनकर्णिका पब्लिकेशन, चिंचवड गांव, पुणे, आठवी आवृत्ती 6 अप्रैल 2023, षष्ठोऽध्यायः, अन्नस्वरूपविज्ञानीय अध्याय, श्लोक क्र. 4, पृ.क्र. 108.
9) तत्रैव- श्लोक क्र. 21, 22, पृ.क्र. 111.
10) श्रीमद्भावमिश्रप्रणीत- भावप्रकाशनिघण्टुः, विमर्शकार- डॉ. कृष्णचन्द्र चुनेकर, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, पुनर्मुद्रित 1999,

हरीतक्यादि वर्गः, श्लोक क्र. 60, पृ.क्र. 17.

11) श्रीमद्वाग्भट विरचित- अष्टांग हृदय सूत्रस्थान, लेखक- वैद्य दि. प्र. गाडगीळ, वैद्य यशःश्री जोशी, मनकर्णिका पब्लिकेशन, चिंचवड गांव, पुणे, आठवी आवृत्ती 6 अप्रैल 2023, षष्ठोऽध्यायः, अन्नस्वरूपविज्ञानीय अध्याय, श्लोक क्र. 144, पृ.क्र. 128.

12) श्रीमद्वाग्भट विरचित- अष्टांग हृदय सूत्रस्थान, लेखक- वैद्य दि. प्र. गाडगीळ, वैद्य यशःश्री जोशी, मनकर्णिका पब्लिकेशन, चिंचवड गांव, पुणे, आठवी आवृत्ती 6 अप्रैल 2023, पंचमोऽध्यायः द्रवद्रव्यविज्ञानीय अध्याय, श्लोक क्र. 37-39, पृ.क3. 96.

13) श्रीमद्भावमिश्रप्रणीत- भावप्रकाशनिघण्टुः, विमर्शकार- डॉ. कृष्णचन्द्र चुनेकर, चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी, पुनर्मुद्रित 1999, गुडूच्यादिवर्गः, श्लोक क्र. 94, पृ.क्र. 329.

14) तत्रैव- श्लोक क्र. 231, पृ.क्र. 422.

15) तत्रैव- श्लोक क्र. 247, पृ.क्र. 438.

16) तत्रैव- श्लोक क्र. 150-152, पृ.क्र.. 374.

17) https://wwwhealthline.com

18) 19 ) 20) http://pharmeasy.in

# Language and Literature in Theatrical Tradition (Natyashastra)

**Mrs. Mehkarkar Swati Vishwambharrao**
Asst. Teacher, St. Anthony's English School
Ambajogai Dist. Beed, Maharashtra

Sanskrit has been a prominent language of Hindu texts encompassing a rich tradition of philosophical and religious texts as well as poetry, music, drama, scientific, technical, and others. Sanskrit has been taught in schools from the time immemorial in India. In modern times, the first Sanskrit University was Sampurnanand University, established in 1791 in the city of Varanasi.

Sanskrit's status, function, and place in India's cultural heritage are recognized by its inclusion in the Constitution of India's Eighth Schedule languages. Colonial era scholars questioned whether Sanskrit was ever spoken language. The most Indian scholars state the opposite. They state that the textual evidence in the works of Yaksa, Panini, and Patanjali affirms that the Classical Sanskrit in their era was a language that is spoken by the cultured and educated Sanskrit remained the language of the educated elite until the Indian Medieval Period. The way people informally spoke Sanskrit, however, changed through the centuries. Thus Sanskrit ceased to be a natural, spoken language, a process similar to fate of Latin in Medieval period of Europe.

The classical language of Indian civilization is Sanskrit. Four Vedas were written in Sanskrit, and later enormous corpus of literary works of various kinds, including the so-called Sanskrit dramas, which were written in Sanskrit. Panini, the great grammarian of Sanskrit, mentions a short text on 'Acting' in the 5th century BC. Theatre and dance, which are inseparable art forms in Indian culture, are present even in the earliest works of Indian literature. The Veda literature, or the four Vedas, which forms the basis of early Brahmanism and later Hinduism,

mentions dance and open-air theatrical performance. Mythologies were further elaborated in the early centuries AD by the Purana literature, while at the same these mythical stories became the main theme for much of the Indian theatrical arts. The information scattered in the early literature discussed above offers an enlightening and multifaceted panorama of the theatrical forms and practices of early India. There were, for example, various kinds of places where performances took place, from simple open arenas to large Cave theatres, and brick-built amphitheatres, as well as several kinds of wooden theatre buildings.

The early genres of performance included, among others, different kinds of rituals and storytelling, as well as "Picture Showmen," who employed either picture scrolls to visualize their narration. Pure dances were popular, as were mimetic solo performances by a single actor-dancer. The more literary forms of drama could involve a large cast of both male and female actors

In the early centuries AD the theory and the practices of this rich and already mature theatrical tradition were formulated in the form of a Shastra treatise, the Natyashastra or the Drama Manual. As a literary composition, drama usually tells us a story, but not just through words, in the form of dialogues, but also through gestures, movements, and facial expressions of the characters, dances, costumes, background landscape, music, stage setting etc. Drama is therefore a performative art that includes many components and participants.

The Indian dramatic tradition was influenced by the dramatic elements found in Vedas, in dialogue hymns and Vedic rituals. However, the most extant treatise on Indian Drama is the Natyashastra by Bharatmuni, which emerged in 3rd CE. According to Natyashastra, the purpose of dramatic work was to provide not just entertainment or pleasure but instruction wealth, justice, and spiritual liberation. That's why Sanskrit drama does not have a tragic ending because in Hindu Cosmology death is not the end but a means to either achieve spiritual liberation from

the cycle of life or be reborn till it is achieved. The Rasa or Aesthetic Sentiment is an important aspect of Sanskrit drama.

Unlike the ban on female actors in European classical drama, the sanskritic tradition did not have such prohibitions that required male actors to perform a role of female leads, and drama could be performed by men alone, women alone or mix of both, depending on the plot. Sanskrit drama is defined by the works of dramatists such as Sudraka, Bhasa, Bhavbhuti, Harsha, and Kalidasa to name a few.

Swapnavasavdatta is Bhasa's most famous play that depicts the story of King Udayana, who must choose between marrying for love his beloved Vasavdatta or the daughter of a neighboring king, Princess Padmavati, for a political gain. In the play Bhasa combines romance with political intrigue is dcreating a new kind of drama. He treated the characters Duryodhana and Karna with sympathy in his plays Uru- Bhanga ( Breaking of Thighs) and Karnabhara (Karna's Task).

Sudraka offers an interesting and realistic picture of urban society and the complex social structure of that time through his well known drama Mrichchhakatika ( The Little Clay Cart) which is an extended version of Bhasa's incomplete play Charudattam (Charudatta). From the notable plays of Kalidasa are such as Malvikagnimitram, Vikramorvasiyam, Raghuvamsa and Kumarsambhavam and his most popular and famous works remains the Abhijnana Shakuntalam. This fantastic and complex world is described with poetic brilliance and concentrates on the themes of the longing and rejection, while the main rasa of the play is love.

On a deeper level the conflict is created by the opposing forces of Desire ( Kama) and Duty (Dharma). Desire and Duty are the standard conflict in many of the Sanskrit dramas.

In style, the Natyashastra differs very largely from all the later writers on drama who professed adherence to it and formulated their rules in a concise manner. Those later are sometimes so very brief, that without the help of a commentator they are not easily intelligible. Natyashastra has been a classic on

dramatics and aesthetics which has been commonly attributed to Bharata the sage for its authorship. It has been founded on human psychology prevailing under conditions of India's cultural system with a focus on stage performance. Rasa theory is at the centre of the Natyashastra. Rasa can be explained as a blissful aesthetic experience achieved via drama, and is seen as Sanskrit drama's highest purpose. The Rasa or the aesthetic sentiment is an important aspect of Sanskrit drama, and can be best defined as the audience's refined emotional response evoked by the play. Rasa is broadly composed by Vibhav, anubhav, vyabhicharibhav and sthayibhav, which are the different types of emotional responses to a work of art.

India now has dozens of languages, including English, which alongside Hindi, is a kind of universal language throughout the country. Sanskrit, however, remains an important key to understand India's religions and Philosophy, as well as classical literature and theatre.

As we compare the Sanskrit dramas and western dramas, we can find some similarities and differences with the plot of the dramas, theatrical conditions, etc. We can find that William Shakespeare and Mahakavi Kalidasa belonged to different time zones, and while Kalidasa wrote epics, Shakespeare didn't. Moreover the later works of Shakespeare have no connect with God and nature, while Kalidasa always invoked God and nature in his writings. We can cite the examples from Abhijnyan Shakuntalam and Raghuvamsam, the two great epics by Kalidasa.

Sanskrit dramas were constructed on a single plot without any divisions of scenes, Shakespearean tragedies consisted of subplots which do not follow " the beginning, middle and end" structure or the three unities' which are unity of time, unity of place, unity of action.

We can find Greek theatre and Sanskrit drama are inspired from divine action. They both signify worship of philosophical illumination of human minds procured through them. They both use dance, music, and other forms of performing art by actors and actresses to portray the story. But the major contrast between

them is that Sanskrit dramas are secular and neutral in nature, whereas Greek dramas were influenced by the current political state of the nation.

Sanskrit dramas were plotted on the four pillars: Dharma, Arth, Kama and Moksha for the betterment of the society. It tells us that we should live our life with the Principles (Dharma). With the same principles we should earn money (Arth), we can Desire (Kama) the earthly desires with the money earned with these principles and with this good desire we can get the Spiritual liberation (Moksha). Wecan find this only in Sanskrit dramas. The main goal of performance of this art of literature is ultimately to let the spectator experience his own consciousness, then evaluate and feel the spiritual values innate in them, and rise to higher level of consciousness.

Sanskrit Theatre: Theatres can be varied according to the spectators. It is well said that "Kavyeshu Natyam Ramyam" which means dramas are more arguing than the poetry as dramas were of two types in ancient India. They were: Lokdharmi: they were the realistic portrayals of everyday life and second is Natyadharmi: these were traditional plays with more stylized storytelling and over symbolism.

Bharatmuni in his Natyashastra also describes how to manage the stage. The play's essential elements have been deemed to be dance and music. Plays for the governing classes were traditionally played in forts or temples whereas the plays for the ordinary people may be performed anywhere even though on the journeys also. The size of theatre was mentioned in details in Sanskrit Scriptures. Natyashastra refers to square- shaped theatres. There were two story stages. The heavenly sphere was represented on the lower floor.

I conclude my paper with the words that Sanskrit is a vital to Indian Cultures because of its expensive use in religious literature. Primarily in Hinduism, and because most modern Indian languages have been directly derived from or strongly influenced by Sanskrit.

# CULTURAL ELEMENTS IN SANSKRIT GRAMMAR

**Dr. Bhavani Ramachandran**

M.M. Degree College, Khekra, Baghpat

**ABSTRACT**

**न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यःशब्दानुगमादृते।**

**अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।**

It is a unanimously accepted fact that the culture of any country is expressed and known through its literature. Pāṇinis Aṣṭādhyāyī and other further grammatical works exhibit the proud culture of our Bhārata . Although the work of Pāṇini is written in sūtra style but it highlights every aspect of culture. Vyākaraṇam basically deals with both derivative and philosophical aspect and through these references and usages we also come to know about Culture. The etymology of Vyākaraṇam as śabdānuśāsanam highlights respectively both derivative and philosophical aspect of Grammar.

व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणं, शब्दाःअनुशिष्यन्ते साधुशब्देभ्यो विविच्य असाधुशब्देभ्यो पृथक्क्रियते इति शब्दानुशासनम्

The present paper tries to highlight all the important aspects of Culture like:

INTRODUCTION

**VARṆOPADEŚA- LANGUAGE UNIT** -Varṇa- Pada- Vākya

-Four fold basis of existence viz. dharma, artha, kāma and mokṣa

-Four levels of Speech or Vāk

-The system of family and other relation

-Society and its role in the development of education and Philosophy

-Miscellaneous References -

Geographical,Historical, Political importance

-Conclusion

From the above discussion one can very well understand that how Pāṇinian Philosophy along with Kātyāyana, Patañjali and Bhartṛhari clearly introspects with every aspect of society and culture thereby paving the way for Salvation or ultimate bliss. So has been well expressed by Bhartṛhari as

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानवर्णनम्।

इयं सा मोक्षमाणानां अजिह्मा राजपद्धतिः।।

**CULTURAL ELEMENTS IN SANSKRIT GRAMMAR:-**

INTRODUCTION

**न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यःशब्दानुगमादृते।**

**अनुविद्धमिवज्ञानं सर्वंशब्देनभासते।1**

The great linguist Bhartṛhari declares that every communication is possible only through word and the entire knowledge is illuminated through word. It is a unanimously accepted fact that the culture of any country is expressed and known through its literature. Pāṇinis Aṣṭādhyāyī along with vṛtti of Vāman Jayāditya and other further grammatical works like Kātyāyana Munis Vārttika and Patañjali Munis Mahā Bhāsyam and Bhartṛhari's Vākyapadīyam exhibits the proud culture of our Bhārata. Although the work of Pāṇini is written in sūtra style but it highlights every aspect of culture. Vyākaraṇam basically deals with both derivative and philosophical aspect and through these references and usages we also come to know about Culture. The etymology of Vyākaraṇam as

śabdānuśāsanam highlights respectively both derivative and philosophical aspect of Grammar. व्याक्रियन्ते व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणं, शब्दाःअनुशिष्यन्ते साधुशब्देभ्यो विविच्य असाधुशब्देभ्यो पृथग्क्रियते इति शब्दानुशासनं The present paper tries to highlight all the important aspects of Cultural elements in Sanskrit Grammar.

**VARṆOPADEŚA:-**

We know Pāṇinian Aṣtādhyāyī is based on Māheśwara Sūtra2 Varṇopadeśa. The entire Māheśwarasūtra is the basis of our culture. These are the first letters taught for those who come to learn language. There may be variation in the sequential order of letters. Apart from the scientific importance it is significant to note that during the auspicious Srāvaṇa Pūrṇimā's the Veda adhyayana ritual, Māheśwarasūtra are recited in reverence and salutation to Sage Veda Vyāsa. The rules of Pāṇinis Aṣṭādhyāyī clearly indicates that Sanskrit was once a spoken language at that time3

**LANGUAGE UNIT:-**

The thoughts which are impressioned in our mental frame are conveyed through Language. Thus Language is a medium of communication which transfers the idea of all our mental thoughts into the desired target language. Right from the beginning when a child learns to speak it starts from letter, word and sentence. These Varṇa- Pada-Vākya constitutes the Literature of Language. In Pāṇinis Aṣṭādhyāyī every varṇa, pada and sentence occupies a very special place. There have been serious arguments among the linguist Philosophers that which should be considered as real unit of Language. The Mīmāṃsaka school of thought is ascribed by the title of Varnṇavada who hold the predominance of letters the Naiyāyikas hold the

predominance of word and Vaiyākaraṇas hold the predominance of Vākya as a significant Unit. However there is variance in the view of thought within these Schools .4

From the view point of grammatical doctrine, there are no parts in letters; similarly there are no letters in the word. Nor is there any reality in abstracting the word from the sentence. People talk of difference of diction as belonging to the utterance of the word, which itself is of undivided time, but appears to follow the time-pattern of the speech sounds, in accordance with the differences in the causes of its being perceived. With regard to the short, long and prolated vowels, since a speech-unit is timeless, and fundamentally different from the speech-sound which reveals it, it is the time of the primary-sound which is metaphorically considered as belonging to the speech-unit. It is however after the word has been revealed by the primary sound that the modified sounds are presented to the mind as distinctions of diction the self of the word is not divided into parts by them. In the view of the Monists, the differences of diction and the like which belong to the category of the produced sounds are superimposed on the indivisible word- principle named sphoṭa is wrongly conceived to belong to the sound.

## FOUR FOLD BASIS OF EXISTENCE VIZ. DHARMA, ARTHA, KĀMA AND MOKṢA:-

The basis of every Culture is Purusārtha i.e. dharma, artha, kāma and mokṣa for which everyone proves their existence. This is also the special identity of our Bhāratīya Saṃskṛti. The divine (Māheśwara or śiva) origin of Varṇa proves the fact that how Grammatical Philosophy is committed and contributing towards the development of Puruṣārthas. Out of the four Puruṣārthas the last one viz.

Mokṣa can also be obtained from language. The reference of मोक्ष, अपवर्ग, सायुज्य, सान्निध्य, सामीप्य5 in Pāṇinian grammar clearly indicates the above fact. There have been numerous references which insist on the correct usage of words. It is generally termed or referred about grammarians that अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः or even a single letter which is spelt wrongly cannot be tolerated by Grammarians. This is a figurative type of expression. By uttering the correct form of word one can attain the summum bonum in one's life. While using the words one should be cautious enough of its usage whether it bears good fruit or bad. This is evident from the declaration of Patañjali in Paspaśāhnika while discussing the importance of Vyākaraṇam. Vyākaraṇam is a means to attain salvation is clearly declared by Bhartṛhari in his Vākyapadīyam as -

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानवर्णनम् ।

इयं सा मोक्षमाणानां अजिह्मा राजपद्धतिः । ।6

Thus the usage of Śabdabrahman by Bhartṛhari clearly indicates (V.P.1/1)and equivates the akṣara Brahman with the Vedantins Brahman. This akṣara Brahman is none other than the three letter word ॐकार. Grammarians consider that there are two 'word entities' in functional words- one sphoṭa which is the cause of the production of words and the other the speech sound is used in connection with meanings7 The word is examined in the mind, then fixed to a specific meaning and then through the instrumentality of the speech-sounds produced through their respective organs. These are elaborately discussed and examined by Patañjali and Bhartṛhari8

**FOUR LEVELS OF SPEECH OR VĀK:-**

The description of four levels of Speech has its origin

from Vedas. While discussing the levels of Speech and Nāgesa Bhatta refers to its four level viz. Vaikharī, Madhyamā, Paśyantī and Parā. These can be seen in the interpretation of catwāri vāk9 Vaikharī, Madhyamā and Paśyantī are the names given to speech at the three stages through which it evolves during utterance.The Parā is considered to be the highest source of speech. The speech which is heard by common man is Vaikharī. Bhartṛhari however holds speech to be threefold (त्रय्यावाचःपरंपदं) as Vaikharī, Madhyamā and Paśyantī which undergoes various stages before being heard. In this way the philosophy of Sanskrit grammar leads one to ultimate truth or the liberation i.e. Mokṣa. The yogins practice yoga only to attain this ultimate speech. Paśyantī, Madhyamā and Vaikharī are the names given to speech at the three stages through which it evolves into utterance. At the first stage Paśyantī, speech is the speech-principle in which the capacity for revelation is inherent, but not explicit. At that stage, speech is un-differentiated principle it has not yet started into a process. It is only identical with consciousness or perception in its intrinsic form. Paśyantī-the seeing, the perceiving one. Subsequently it takes the form of Madhyamā and Vaikharī. Nāgesa Bhatta explains the four levels of Speech with that of various cakras present in our human body.10

**THE SYSTEM OF FAMILY AND OTHER RELATION:-**

There are various expressions denoting family and other relation can be seen in the grammatical works. The पितरौ (parents) -When one uses पितरौ (parents), the meaning of both mother and father is inherent in the single term. This indicates the importance of our culture where we regard parents as अर्धनारी form. This has been clearly

expressed through (अभ्यर्हितं च) पिता मात्रा11 aphorism. The मातुल- मातुलानी (Aunty), उपाध्याय उपाध्यायानि (wife of teacher) स्वसा, दुहिता, ननन्दा, जामाता, श्वशुरः, श्वश्रूःपत्नी, गृहपत्नी, our Saṃskṛt language is so powerful that we have a single term for Husband and wife as दंपति which means जायापति, दंपति, मातापिता. The lady of house is addressed by various names as पत्नी, गृहपत्नी. गृहिणी The lady whose husband is alive is termed as सुमंगली.While discussing the vidhi Liṅ or optative form of verbal root Pāṇini refers12 to the tradition that during the śrāddha Ceremony it is essential to invite the son of daughter or दौहित्र to have food. Similarly there are numerous references which indicates several relations and significance in a family. A girl child is addressed as कुमारी, वत्सा, युवती, बाला and भागिनेयी, दौहित्री others. These references given by Pāṇini have great significance or power of word with reference to culture.

**SOCIETY AND ITS ROLE IN EDUCATION AND PHILOSOPHY:-**

Society and its role in the development of educational, philosophical stream have significant contribution towards the development of Indian Culture.It is cherished and remembered when good thoughts are inculcated in one's life.Pāṇini and other grammarians clearly indicates the various practices of Culture like greeting, eating, speaking, living, communicating which are conveyed through various usages like वर्णी.It is significant to note that different rules are laid for while observing penance,Brāhmin can consume milk, Kṣatriyas with wheat milk and Vaiśyas with cheese for ब्रह्मचारी पयोव्रतं, यवागू, आमिक्षा13 The method of greeting

elders अभिवादये अहं The method of blessing young-ones आयुष्मान्भव सौम्य इति

स्त्रियां न-अभिवादये गार्ग्यहम् आयुष्मतीभव गार्गि14 The method of acquiring education is also mentioned by Patanjali as they used to study for वर्षशतं or hundreds of years.The Bṛhaspati teaches Indra and so on the teaching process continues.This shows the śāstraparamparā of teaching.The Sutra 'यवनाल्लिप्याम्'(3/2/21) shows the evidence of various writing scripts.

**MISCELLANEOUS REFERENCE:-**

● Geographical Aspects The words like सप्तद्वीपा वसुमति, कम्बोज, दाक्षिणात्य, उदीच्य, प्राच्यः, पूर्वेपाञ्चालाः, सुराष्ट्र, म्लेच्छाः, उदीच्य, मध्य, अलम्बुसाना, यवन refer to various geographical parts of countries.

● Pāṇini and Patañjali points out those usage which are not properly pronounced but are capable of conveying meaning and understood by hearer, like the word गौः

● The usage of गंगोदकम्, द्वियमुनम्,गंगौघः,सप्तसिन्धु are names of various rivers, the बैल्वःखादिरो यूपः refer various trees of wood which are used for various sacrifices.

● The usages like अक्षौहिणी सेना, सम्राट्, अधिशासी, राजपुरुषः, राज्ञः, अपराधी express Historical and political importance

● Miscellaneous Political Aspects:- सम्राट, अधिशासी, राजपुरुषः, राज्ञः, अपराधी, सैनिकाः, दण्डविधानम्

● Fighting Techniques:- मुष्टा-मुष्टि, यष्टिविधान

● Various Professions:- कर्मकराः, लिपिकारः, कृषकः, नर्तकः, नर्तकी

● Sacrificial Practices:- यज्ञम्, पृषदाज्यम्, आज्यपात्रम्, आग्नेयं, पुरोडाशं, हव्यं, कव्यं,गव्यं Eating:- सिद्धओदनः, सिद्धसूपः, दध्योदनं, गुडमिश्रान्नं, खादतमोदता, पिबतखादता

● Economical Terms क्रव्यस्तदर्थे 6/1/82 क्रेतारः क्रीणीयुरिति the usages of Pāṇini refer to various expression of economical activities.

Thus from the above miscellaneous references one can see how Pāṇinian and other system of Grammar have given elaborate discussion on every aspect of Culture.The above given references are although discussed very shortly.However one can view the original text for elaborate knowledge.

CONCLUSION:-

From the above discussion one can very well understand that how Pāṇinian Philosophy along with Kātyāyana, Patañjali Bhartṛhari and clearly introspects with every aspect of society and culture thereby paving the way for Salvation or ultimate bliss. So has been well expressed by Bhartṛhari as

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानवर्णनम्।

इयं सा मोक्षमाणानां अजिह्मा राजपद्धतिः।।

**Reference**

1. वाक्यपदीयम्, 1.123
2. अइउण्ऋलृक्एओङ्….इति माहेश्वर सूत्राणि
3. भाषायां, दूराद्धूते च(8/2/84)
4. वाक्यपदीयम्, 1/71-74

5. अष्टाध्यायी, पस्पशाह्निक महाभाष्यम्
6. वाक्यपदीयम् 1-16 also Cf. आसन्नं···1/11
7. शब्दस्य ग्रहणे हेतुःप्राकृतो ध्वनिरिष्यते।

वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतःप्रतिपद्यते।।

Also Cf. येनोच्चारितेन सास्नालांगूलककुदखुरविषाणिनां संप्रत्ययो भवति स शब्दः

प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिःशब्द उच्यते,पस्पशाह्निक महाभाष्यम्

8. vide,पस्पशाह्निक महाभाष्यम् and वाक्यपदीयम्,ब्रह्मकाण्डम्
9. ऋग्वेद संहिता, 1.164.45
10. वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा on the चत्वारि वाक्
11. अष्टाध्यायी, 1/2/70
12. अष्टाध्यायी, 3/3/161
13. पस्पशाह्निकं,महाभाष्यम्
14. अष्टाध्यायी,8/2/83

# आधुनिक जीवन प्रणाली में संस्कृत भाषा एवं संस्कृति का प्रभाव

**डॉ. नरेन्द्र कुमार**
**सहायक आचार्य, संस्कृत**

**1.भूमिका:–**

इस सम्पूर्ण संसार में नवीन खोज करना मानव का जन्म से ही स्वभाव रहा है। यही एक महत्वपूर्ण बात है कि हमारे संसार में आज तक इतने आविष्कार हो चुके हैं, और हो रहे है कि आज कल हमारा जीवन बहुत सरलता से निकल रहा है। लेकिन हमारे समाज में किसी भी कार्य के लिए सबसे ज्यादा जरूरी चीज होती है– भाषा। बिना किसी भाषा के हमारे द्वारा किया गया कोई भी कार्य हम दूसरे को नहीं बता सकते। आज दुनिया भर में लगभग 7000 भाषाओं का प्रयोग किया जाता है। लेकिन क्या कभी आपने सोचा है कि इन सभी भाषाओं की जननी कौन है? इतनी सारी भाषाएं कंहा से आई है? और कैसे आई है? दुनियां की सबसे पुरानी भाषा है:- संस्कृत भाषा। जो की सभी भाषाओ की जननी है। संस्कृत में हिन्दू धर्म से सम्बंधित लगभग सभी धर्मग्रन्थ लिखे गये हैं। बौद्ध धर्म (विशेषकर महायान) तथा जैन धर्म के भी कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये हैं। आज भी हिन्दू धर्म के अधिकतर यज्ञ और पूजा संस्कृत में ही होती हैं।

संस्कृत भाषा को संसार की अन्य सभी भाषाओं की जननी माना जाता है। दुनिया भर सभी भाषओं में मात्र संस्कृत ही एक ऐसी भाषा है जो पूरी तरह से सटीक है। इसका कारण हैं इसकी सर्वाधिक शुद्धता। कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर के लिए भी संस्कृत को ही सबसे उपयुक्त एवं सटीक भाषा माना गया है और आज भी माना जाता है। इतना ही नहीं देश और दुनियां की तरक्की और सभ्याचार में संस्कृत भाषा का महत्वपूर्ण योगदान

है। परन्तु आधुनिक समय में संस्कृत भाषा की हालत बहुत दयनीय है। इसकी इस खराब स्थिति को बचाने के लिए हम सभी को एक-जुट होकर संस्कृत भाषा को बचाना होगा। इसके लिए हमे हर गाँव के गली मुहल्ले में प्रचार करना होगा। समाज के हर बच्चे , युवा एवं वृद्ध को प्रेरित करना होगा,तभी हमारी संस्कृत भाषा का बचाव हो सकता है। संस्कृत भाषा को हमारे देश में भारतीय संस्कृति का प्रतीक माना जाता है। एक भाषा के रूप में संस्कृत की वैज्ञानिकता प्रमाणिक है। और इतना ही नहीं ज्ञान-विज्ञान की विरासत से भी संस्कृत समृद्ध है। इस दुनियां की तमाम भाषाओं पर संस्कृत का प्रभाव भी आज भी दिखता है क्योंकि संस्कृत केवल एक भाषा नहीं बल्कि ज्ञान की सुविकसित प्रणाली भी है।

**अयं निजः परो वेति गणना लघु चेतसाम्।**

**उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।**

अर्थात् यह मेरा है, यह उसका है; ऐसी सोच छोटे चित्त वोले मनुष्यों की होती है; इसके विपरीत उदारचरित वाले लोगों के लिए तो यह सम्पूर्ण धरती ही एक परिवार जैसी होती है।

संस्कृत को भारतीय संस्कृति की आत्मा भी कहा जाता है। वेदों को प्राचीनतम ग्रंथ माना जाता है। संस्कृत को वेदों की भाषा मानी गई है,वेदों की भाषा मानी जाती है और वेदों की भाषा भविष्य में भी मानी जाती रहेगी। अत: इस लिहाज से भाषा के रूप में संस्कृत को सबसे पुरातन भाषा माना जाता है। संस्कृत हिंदी-यूरोपीय भाषा परिवार की मुख्य शाखा हिंदी-ईरानी भाषा की हिंदी-आर्य उपशाखा की मुख्य भाषा है। इससे कई आधुनिक भारतीय भाषाओं जैसे हिंदी, मराठी, सिंधी, पंजाबी, बंगला, आदि का जन्म हुआ है। इतना ही नहीं यूरोपीय खानाबदोशों की रोमानी भाषा का उद्गम भी संस्कृत से ही हुआ। व्याकरण के आधार पर संस्कृत दुनिया की सबसे ज्यादा वैज्ञानिक भाषा भी मानी जाती है।

2.संस्कृत भाषा एवं संस्कृति:– हर जानकारी के ख्याल से भी संस्कृत एक बेजोड़ भाषा है। इसमें आध्यात्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, गणित, खगोल-शास्त्र, रसायन, वनस्पति-शास्त्र, साहित्य, शरीर, स्वास्थ्य जैसे व्यापक विषयों पर बहुत सारीं रचनाएं और ग्रंथ मौजूद हैं। संस्कृत को केवल पूजा-पाठ या धार्मिक कर्मकांडों की भाषा मानना बिलकुल ही एक गलत अवधारणा है। क्योंकि संस्कृत केवल भाषा ना होकर पूर्ण ज्ञान की प्रणाली भी है। ऋषि-मुनियों,विद्वानों ने अपने शोध के विस्तृत अध्ययन के माध्यम से संस्कृत को समृद्ध बनाने में योगदान दिया है।

इसीलिए संस्कृत ज्ञान की वह परंपरा एवं भाषा है जो सारी दुनिया को 'तमसो मा ज्योर्तिगमय' यानी अंधकार से प्रकाश की ओर चलने का संदेश देती है। वैसे तो संस्कृत आम बोलचाल की भाषा के रूप में इस्तेमाल नहीं होती लेकिन सभ्यता, संस्कृति और इतिहास जानने के लिए संस्कृत हमेशा से महत्वपूर्ण एवं उपयोगी रही है। ऐसा केवल हम ही नहीं स्वीकार करते,बल्कि दुनियां के सभी देश भी मानते हैं। और यही कारण है कि यूनेस्को (UNESCO) जैसे अंतरराष्ट्रीय संगठन भी संस्कृत को पूरे विश्व समुदाय की अमूल्य धरोहर के रूप में स्वीकार करते हैं। इस संस्कृत भाषा के कारण ही आज हमारे समाज में जो भी संस्कार बचे हुये है,वो हमारे जीवन को चलाने के लिए काफी तो नही है लेकिन हम सब को इस कार्य के ऊपर तन मन और धन से कार्य करना होगा, तभी हमारी भारतीय संस्कृति बच सकती है। संस्कृत भाषा यदि सुरक्षित है तो हमारी सभ्यता और संस्कृति में सुधार अवश्य ही होता रहेगा, जिसके कारण हम एक सभ्य जीवन जी सकते है। संस्कृत की महानता इस प्रकार दिखाई देती है:–

1.संस्कृत भाषा को देवों की भाषा कहा जाता है, यह भाषा भारत की समृद्ध संस्कृति की प्रतीक है।

2.संस्कृत भाषा के ज्ञान से व्यक्ति अन्य भाषाओं को भी सीख सकता है।

3.संस्कृत भाषा के ज़रिए मस्तिष्क की क्षमता का विस्तार होता है और सुधार होता है।

4.संस्कृत भाषा का संबंध आधुनिक आर्य भाषाओं से है, पालि, प्राकृत, और अपभ्रंश भाषाओं का विकास भी संस्कृत से ही हुआ है।

5.संस्कृत भाषा के ज़रिए धार्मिक ग्रंथों को आसानी से समझा जा सकता है।

6.संस्कृत भाषा में भजन सीखने से फोकस और अवधारणा में सुधार होता है।

7.संस्कृत भाषा में वैदिक मंत्रों का जाप करने से स्मरण शक्ति और सोचने की शक्ति बढ़ती है।

8.संस्कृत भाषा के ज़रिए मानवतावाद, शांति, और आपसी समझ का संदेश फैलता है।

9.संस्कृत भाषा के ज़रिए व्यक्ति और समाज का सुदृढ़ विकास होता है।

10.संस्कृत भाषा के ज़रिए प्रकृति की सुरक्षा की जा सकती है।

11.संस्कृत भाषा के ज़रिए परमात्मा की संतुष्टि पाई जा सकती है।

3.आधुनिक जीवन पर संस्कृति का प्रभाव:– संस्कृति का आधुनिक जीवन पर प्रभाव गहरा और व्यापक है।

1.शैक्षिक महत्व:- संस्कृत आज भी कई विश्वविद्यालयों और संस्थानों में पढ़ाई जाती है। यह भाषा दार्शनिकता, साहित्य, और पुरातत्व

अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण है। जिसके पढने से हमारी पीढ़ी में अच्छे संस्कारों का संचार होता है, जिसके कारण विचारो में शुद्धता आती है।

2.कला और साहित्य:- संस्कृत साहित्य और काव्य की अध्ययन से आधुनिक साहित्यकार और कलाकारों को प्रेरणा मिलती है। कलाकारी मानव को उसके मुकाम पर ले जाती है।

3.धार्मिक और आध्यात्मिक:- वेद, उपनिषद, गीता, और पुराण जैसे धार्मिक ग्रंथ संस्कृत में ही लिखे गए हैं। ये ग्रंथ धार्मिक शिक्षाओं, ध्यान, और साधना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भारतीय साधना, योग, और ध्यान विधियों में संस्कृत मंत्रों और श्लोकों का प्रयोग किया जाता है। इन सब ग्रंथो को पढ़ने से मानव जीवन सुधर जाता है।

4.संस्कार और संस्कृति:- संस्कृत भाषा धार्मिक और सांस्कृतिक संस्कारों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है, जैसे विवाह, संस्कार, और पूजा विधियों में।

5.भाषाई संरक्षण:- कई प्रयास हो रहे हैं संस्कृत को पुनर्जीवित करने और आधुनिक संदर्भ में प्रासंगिक बनाने के लिए, जैसे संस्कृत में आधुनिक साहित्य और मीडिया का उत्पादन।

6.संस्कार और परंपरा:- भारतीय संस्कृति में पारंपरिक विवाह और अन्य संस्कार संस्कृत और प्राचीन परंपराओं पर आधारित हैं। भारतीय त्योहार और उत्सव सांस्कृतिक विविधता और धार्मिक परंपराओं का प्रतीक हैं। ये उत्सव सामुदायिक जीवन को एकजुट करते हैं और सांस्कृतिक पहचान को बनाए रखते हैं।

7.भाषा और संवाद:- भारत में विभिन्न भाषाओं और बोलियों का उपयोग होता है। संस्कृत की भूमिका एक सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पुल के रूप में है, जो विभिन्न भाषाई समूहों को जोड़ती है। आधुनिक साहित्य

और मीडिया में भी भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों और दृष्टिकोणों का समावेश देखा जा सकता है।

8.आध्यात्मिकता और योग:- भारतीय संस्कृति में योग और ध्यान की प्राचीन विधियाँ आधुनिक स्वास्थ्य और मानसिक कल्याण के लिए लोकप्रिय हो रही हैं। ये विधियाँ भारतीय धार्मिक और दार्शनिक परंपराओं पर आधारित हैं।

9.संस्कृतिक संरक्षण:- भारतीय संस्कृति को संरक्षित करने के लिए म्यूज़ियम, कला प्रदर्शनी, और सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं। यह सांस्कृतिक धरोहर को नई पीढ़ी के लिए संरक्षित और प्रासंगिक बनाते हैं।

4.आधुनिक जीवन पर संस्कृत भाषा का प्रभाव– संस्कृत भाषा का आधुनिक जीवन पर प्रभाव गहरा और व्यापक है।

1.भाषाई आधार:- संस्कृत भारतीय भाषाओं का आधार है। इस भाषा में अनेक प्रकार की धार्मिक पूर्ण बातो का पाया जाना महत्वपूर्ण है। कई आधुनिक भारतीय भाषाओं और बोलियों की जड़ें संस्कृत में ही विद्यमान हैं। यह प्रभाव भाषाई संरचना, शब्दावली, और व्याकरण में स्पष्ट है। इस भाषा को उच्चारण करते समय बहुत ही कम गलतियों का सामना करना पड़ता है।

2.शिक्षा प्रणाली:- भारतीय शिक्षा प्रणाली में संस्कृत का अध्ययन अनेक विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में होता है। यह भारतीय सांस्कृतिक और धार्मिक ज्ञान को समझने में मदद करता है। इसका आज बहुत ही अच्छा सकॉप है , जो कि रोजगार के मामले में भी अच्छे स्थान पर है।

3.संस्कृति और साहित्य:- संस्कृत साहित्य, जैसे महाभारत, रामायण, और उपनिषद, भारतीय सांस्कृतिक धरोहर का महत्वपूर्ण हिस्सा

हैं। इन ग्रंथों का अध्ययन और उनकी शिक्षाएं आधुनिक जीवन में भी प्रासंगिक हैं।

4.धार्मिक अनुष्ठान:- संस्कृत मंत्र और श्लोक धार्मिक अनुष्ठानों, पूजा-पाठ, और संस्कारों में प्रयोग होते हैं। यह धार्मिक और आध्यात्मिक जीवन का अभिन्न हिस्सा है।

5.विज्ञान और गणित:- संस्कृत में बहुत से प्राचीन वैज्ञानिक और गणितीय ग्रंथ हैं, जैसे आर्यभटीय, जिनका आधुनिक गणित और विज्ञान पर प्रभाव पड़ा है।

6.वैदिक चिकित्सा:- आयुर्वेद, जो एक प्राचीन चिकित्सा प्रणाली है, संस्कृत ग्रंथों पर आधारित है। आधुनिक चिकित्सा में आयुर्वेदिक ज्ञान का समावेश बढ़ता जा रहा है।

7.संस्कार और आचार:- संस्कृत में वर्णित संस्कार और आचार-व्यवहार आधुनिक जीवन के नैतिक और सामाजिक मानदंडों में भी समाहित हैं।

8.कला और संगीत:- भारतीय संगीत और नृत्य की कई शैलियाँ संस्कृत ग्रंथों और शास्त्रों पर आधारित हैं। यह कला रूप आधुनिक समय में भी प्रशंसा प्राप्त करते हैं।

9.प्रशासनिक और कानूनी ढांचा:- प्राचीन संस्कृत ग्रंथों से कानूनी और प्रशासनिक सिद्धांतों का विकास हुआ है, जो आज भी अनेक कानूनी प्रणालियों में प्रभावी हैं।

10.वैश्विक प्रभाव:- संस्कृत का वैश्विक स्तर पर भी प्रभाव बढ़ रहा है। कई पश्चिमी विश्वविद्यालयों में संस्कृत का अध्ययन किया जा रहा है, और यह वैश्विक संस्कृति और ज्ञान में योगदान कर रही है।

11.भाषायी समृद्धि:- आधुनिक भारतीय भाषाओं की शब्दावली और वाक्य संरचना संस्कृत से प्रभावित हैं। यह प्रभाव न केवल शब्दों में बल्कि भाषा की गहराई और नुअन्स में भी देखा जा सकता है।

12.शिक्षा और अनुसंधान:- संस्कृत साहित्य और ग्रंथों का अध्ययन आधुनिक शिक्षा प्रणाली में होता है। यह न केवल भारतीय संस्कृति और इतिहास को समझने में मदद करता है, बल्कि विभिन्न शोध क्षेत्रों में भी योगदान करता है।

13.धार्मिक और सांस्कृतिक प्रथाएँ:- संस्कृत मंत्र और श्लोक धार्मिक अनुष्ठानों, पूजा, और संस्कारों में उपयोग होते हैं। ये प्रथाएँ आधुनिक भारतीय समाज के धार्मिक और सांस्कृतिक जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं।

14.वैदिक ज्ञान और आयुर्वेद:- संस्कृत में लिखे गए वैदिक ग्रंथ और आयुर्वेदिक पाठ आधुनिक चिकित्सा और स्वास्थ्य क्षेत्र में भी प्रभावी हैं। आयुर्वेदिक उपचार और प्रथाएँ आज भी विश्वभर में लोकप्रिय हो रही हैं।

15.वैश्विक पहचान:- संस्कृत का अध्ययन और अनुसंधान अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बढ़ रहा है। कई पश्चिमी विश्वविद्यालय संस्कृत की शिक्षा प्रदान कर रहे हैं, जिससे वैश्विक स्तर पर भारतीय सांस्कृतिक और दार्शनिक दृष्टिकोणों की पहचान हो रही है।

संक्षेप में, संस्कृत भाषा और भारतीय संस्कृति आधुनिक जीवन में अपनी विशिष्टता और मूल्य बनाए हुए हैं। वे सांस्कृतिक, शैक्षिक, और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से समाज को एक समृद्ध और विविध परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हैं।

5.निष्कर्ष:- संस्कृत, एक प्राचीन और समृद्ध भाषा है जिसका आधुनिक जीवन पर प्रभाव गहरा और सर्वांगीण है। यह भाषा न केवल

भारतीय सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन की मूलभूत नींव है, बल्कि इसका आधुनिक समाज पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा है। संस्कृत का भाषाई आधार भारतीय भाषाओं और बोलियों की संरचना को समृद्ध करता है, जिससे आधुनिक संप्रेषण और सांस्कृतिक आदान-प्रदान में सहूलियत मिलती है। भाषाई दृष्टिकोण से, संस्कृत शब्दावली और व्याकरण आधुनिक भाषाओं में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं, जिससे भाषा की जड़ें और विकास का गहरा संबंध समझा जा सकता है। शिक्षा और अनुसंधान के क्षेत्र में भी संस्कृत का योगदान महत्वपूर्ण है। प्राचीन संस्कृत ग्रंथों, जैसे वेद, उपनिषद, और महाकाव्य, ने न केवल भारतीय संस्कृति और इतिहास की गहराई को उजागर किया है, बल्कि आधुनिक शोध और ज्ञान के लिए भी एक मजबूत आधार प्रदान किया है। ये ग्रंथ धार्मिक, दार्शनिक, और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अमूल्य हैं, जो आधुनिक शिक्षा के विभिन्न पहलुओं को समृद्ध करने में सहायक हैं। धार्मिक और सांस्कृतिक प्रथाओं में संस्कृत की उपस्थिति अत्यधिक महत्वपूर्ण है। संस्कृत मंत्र, श्लोक, और अनुष्ठान भारतीय धार्मिक जीवन एवं संस्कृति का अभिन्न हिस्सा हैं, जो समय की कसौटी पर खरे उतरे हैं। इन प्रथाओं के माध्यम से, संस्कृत ने भारतीय संस्कृति की विविधता और गहराई को बनाए रखने में मदद की है। यह धार्मिक और सांस्कृतिक आयोजनों को पारंपरिक रूप से जोड़ता है और आधुनिक समाज को अपनी जड़ों से जोड़े रखता है।

इस प्रकार, संस्कृत का आधुनिक जीवन पर प्रभाव एक निरंतर और महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है। यह भारतीय संस्कृति की धरोहर को संजोने, उसे वैश्विक मंच पर प्रस्तुत करने, और आधुनिक जीवन की विविधता और समृद्धि को बढ़ावा देने में योगदान कर रही है। संस्कृत की यह अमूल्य धरोहर भविष्य की पीढ़ियों के लिए ज्ञान और समझ का एक अनूठा स्रोत बनी रहेगी।

**सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची:–**


1. वेदान्तसार- सदानन्दयोगीन्द्र (आचार्य बदरीनाथशुक्ल व्याख्याकार) मोतीलाल बनारसीदास, पा. ३० ए० बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली' - 110007
2. वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणम्...। वेदान्तसार, सदानन्दयोगीन्द्र (डॉ. राकेश शास्त्री ) परिमल पब्लिकेशन्स, 27/22, शक्ति नगर, दिल्ली, 2003
3. तत्तु समन्वयात्। ब्रह्म सूत्र, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त-शिरोमणी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2001
4. भारतीय दर्शन की रूपरेखा, (प्रो० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा) डॉ. नरेंद्र प्रकाश जैन,मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड, दिल्ली- 110007
5. अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि। ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, शंकराचार्य (व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणी) आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त-शिरोमणी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2001
6. शंकर का अद्वैत दर्शन, आचार्य शंकर (डॉ. अञ्जना') परिमल पब्लिकेशन्स, 21/29 शक्ति नगर, दिल्ली, 2006
7. धर्म - दर्शन की रूप-रेखा डॉ. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, 41 यू ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर दिल्ली - 110007
8. नीतिशतकम्:, महाकवि भर्तृहरि, मोतीलाल बनारसीदास, पा. ३० ए० बंगलो रोड, जवाहर नगर,दिल्ली' - 110007
9. Siṃha, D. (2007). Advaita aura Viṣishṭādvaita Vedānta. Northern Book Centre.
10. Dwivedi, H. (2009). Hindi Sahitya: Udbhav Aur Vikas. Rajkamal Prakashan.
11. Prasad, A. (2024). Swami Vivekanand. Diamond Pocket Books (P) Ltd..

# भारतीय भाषाओं पर संस्कृत का प्रभाव

नयना.बी.गार्गी, पीएच.डी छात्र
श्री गोविन्द गुरु युनिवर्सिटि,गोधरा, गुजरात

**प्रास्ताविक-**

भाषाओ का उदभव एवं विकास इतिहास का सबसे बडा एवं जटिल प्रश्न है। किसी भाषा का जो स्वरुप हमारे सामने है उसको बनने और विकसित होने मै जो परिस्थितिया विद्यमान रही है उनको जाने एवं समजे बिना हम किसी भी भाषा के मूल स्वरुप को ह्यदयंगम नही कर सकते है। उसके लिये हम वैदिक भाषा का विचार कर सकते है। भाषा वैज्ञानिको का मत है की द्रविद,आर्य,निषाद और किरात यहा भी मूल जातिया थी। किन्तु भारतीय जनजीवन का जिस रूप मै भावी विकास हुआ और जिसकी परम्परा अब तक पहुचती है उसका श्रेय एकमात्र आर्य जाति को ही है। इस राष्ट्र के विचारो,मान्यताओ के निर्माण मे आर्य जाति और भाषा का बहोत बडा योगदान रहा है। भारतीय साहित्य का प्रत्येक अध्येता जर्मन विद्वान् मेक्समुलर के संबन्ध मे प्रायः कुछ-न-कुछ अवश्य जानता है। 'भारत के हम क्या शिक्षा ले सकते है। मै एक स्थान पर उन्होने लिखा है कि 'यदि आदिम से हमारा अभिप्राय उन लोगो से है जो आर्य जाति से पहले हुए है और अपने अस्तित्व के साहित्यिक चिन्ह पीछे पृथ्वी पर रह गये है तो मै कहता हू की भाषा वैदिक भाषा है,आदिम है,भारतीय भाषाए आदि काल से उत्पन्न हुइ है।

वैश्विक परिपेक्ष्य मै भाषाओ का बडा योगदान कह सकते है। क्योकि भाषा से ही मूल देश की पहेचान होती है। भाषा के बारे मे संस्कृत मे इस प्रकार कहा है की 'जिस प्रकार रमणीयवसना प्रिया अपने आपको प्रिय के साथ सोंप देती, उसी प्रकार वाणी ने अपना सारा कलेवर ऋषि के हाथ न्योछावर कर दिया। वैविध्य मै,संस्कृति मै,समानता, व्यवहार, आदि मे

भाषा की आवश्यकता जरुरी है। इतना समज लेना पर्याप्त नहि है की वह आदिम आर्य भाषा बहुत लम्बे समय के विचारो के विकास का परिणाम है। उसकी रचना उन भग्नाशो या भाषा-बोलियो के उन अपभ्रंश रूपो से की गयो है, जो भारत, ग्रीक, इटली और जर्मनी मै इधर उधर भिखरे हुए है। भारतीय बंधारण जो २२ भाषा अनुसूचि मे समाविष्ट की गयी है वो हमारे राष्ट्र की भाषा कह सकते है। ये संस्कृत भाषा तो हमारे जीवन की भाषा है। जन-जन की भाषा है। जीवन की भाषा है। देवभाषा है। भाषा के साथ साथ मानव के जीवन व्यवहार का भी निर्माण होता है। आर्यो की या वैदिक भाषा के इतिहास की आरम्भिक सामग्री यहि है।

**संस्कृत भाषा का इतिहास:-**

भाषा के अर्थ मे संस्कृत का सर्वप्रथम उल्लेख रामायण मे मिलता है। संस्कृत भाषा मात्र हिन्दू भारतीयो की भाषा नही है, अपितु, सकल भारतीयो की बौद्ध, जैन, यवनानि भाषा संप्रदायो की चिंतनभाषा बन गइ है। संस्कृत का प्रसार केवल भारत मै हि नही हुआ है। सिंहल, ब्रह्म, श्याम, मलय, काम्बोज आदि बृहतर भारत द्वीपपुञ्ज स्थित देशो मैं तथा भारत के बाहर चीन, जापान, कोरिया, प्राच्य तुर्किस्तान प्रभृति देशो में भी भारतीय ज्ञान, विज्ञान, धर्म और संस्कृति के प्रसार को लेकर संस्कृत भाषा का विशिष्ट अवदान एतिहासिक काल से सुरक्षित है। प्राचीन और मध्य युग की सारी शिक्षा-दीक्षा,सारा दर्शन-विज्ञान और सारी संस्कृति का माध्यम यहि संस्कृत भाषा रही है। संस्कृत ने ही एक बृहद् संस्कृति का निर्माण किया और अपनी सार्वभौमिक महानताओ के कारण वह इंडोनेशिया, द्वीपमय भारत, मध्य एशिया, तिब्बत, चीन, कोरिया, जापान आदि सुदूर देशो में प्रतिष्ठित हुई।

इस भाषा की यहि ऐतिहासिक विशेषता है। ऋग्वेद की वैदिक 'साधु भाषा' और ब्राह्मण ग्रन्थो की 'साहित्यिक भाषा' के पश्चात् भारतीय आर्य भाषा का तीसरा रूप 'साहित्यिक संस्कृत' के नाम से कहा

गया। मूलतः वह उदीच्य बोलियो पर आधारित थी। किन्तु मध्य,पूर्व तथा दक्षिण भारत के सभी आंचलो पर उसका व्यापक प्रभाव रहा। इस प्रकार एक महान एवं समृद्ध् भाषा की स्थापना हुई। वही भाषा भविष्य मे सांस्कृतिक धाराओ एवं सभ्य विचारो के अनुशीलन की माध्यम बनी।

संस्कृत के दो रूप है। वैदिक तथा लौकिक पाणिनि ने इसके लौकिक रूप को 'भाषा' ही कहा है। वैदिक संस्कृत के साथ-साथ इसका सुगम ओर सामान्य जनो के द्वारा व्यवहत रूप भाषा भी प्रचलित था। रामायण मे हनुमान सीता को राम का संदेश देने से पहले विचार करते हैं कि मैं द्विजातियो के द्वारा बोली जाने वाली संस्कृत भाषा में सीता देवी को संदेश सुनाऊ या सामान्य जनो के द्वारा बोली जाने वाली संस्कृत मैं ? यदि द्विजातियो के द्वारा बोली जाने वाली संस्कृत मे इनसे बात करुङ्गा, तो कही ये मुझे छन्नवेषधारी रावण समाज कर डर न जाय,अतः मैं सामान्य जनो के द्वारा बोली जाने वाली भाषा मे ही बातचीत करूंगी।

**यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।**
**रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति।।**
**अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः।**
**वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्।।**

असुर, राक्षस, वानर आदि जनजतियो के लोग अपने देश की भाषा बोलते होंगे, पर आवश्यकता पडने पर वे भी संस्कृत भाषा में बात करते थे। रामायण इसका उल्लेख मिलता है कि, इल्वल नामक दैत्य ब्राह्मणो को धोखा देने के लिये संस्कृत मे बात करता है:-

धारयन् ब्राह्मणं रुपमिल्वलः संस्कृतं वदन्।
आमन्त्रयति विप्रान् स श्राद्धमुदिश्य निर्घृणः।।

वैदिक काल से ही संस्कृत भाषा आसेतु हिमालय सारे देश में एक संपर्क भाषा का कार्य निरंतर करती है। उसकी यह भूमिका आज भी

न्यूनाधिक रूप मे जारी है। संस्कृत के साथ अनेक भाषाए भी प्रचलित है। कभी किसी क्षेत्र मे संस्कृत के स्थान पर उस क्षेत्र की भाषा को अधिक महत्व देते हुए राजकार्य की भाषा भी बना दिया गया है-ऐसा होता रहा है। फ़िर भी संस्कृत का स्थान अग्रेसर रहा है।

**संस्कृत भाषा के संबन्ध विविध भाषाविदो के मत:-**

प्राच्य विद्याविद् टेलर साहबने अपने एक सारगर्भित लेख में कहा है कि' संस्कृत योरोपी की श्रेष्ठतम भाषाओं की बडी बहिन ही नहीं,अपितु दादिमा है। राज्यों के परिवर्तन के समय के उथल-पुथल के बावजूद भी भारत मे एक संपन्न तथा विचित्र भाषा वह तब भी बनी रहि,यह एक चकित कर देने वाली खोज की बात है। वह भाषा उन बोलियो की जननि है,जिन्हे योरोप शौक से श्रेष्ठ भाषाओ की श्रेणी मे गिनता है।'

तीसरे भाषाविद् कर्जन साहब जेन्द, ग्रीक और लेटिन आदि प्राचीन तम भाषाओ को वैदिक आर्य भाषा से प्रसूत माना है। उनका कहना है 'मैं समर्थन करने का साहस करता हूँ कि जेन्द, ग्रीक, लेटिन और गाथ आदि सब भाषाए विभिन्न एतिहासिक युगो मै संस्कृत से निकली है,जो आर्य जातियो या भारत के पुरातन हिन्दुओ की आदिम लिखित भाषा थी।

भारतीय-इरानी आर्यो और दास, दस्यु, अनार्यो के संपर्क से आर्य भाषा मे कई परिवर्तन हुए। उसका विकसित रूप लगभग ऋग्वेद की भाषा जैसा था। आर्य भाषा से इरानी प्रभाव धीरे-धीरे दुर होते गये और वो विशुद्ध् भारतीय आर्य बन चुके थे ये प्रभाव रहा है। इन्ही भारतीय आर्यो ने हिन्दू जाति, हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति के साथ-साथ वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत एवं भारत की समग्र प्रादेशिक भाषाओ को जन्म दिया। अपभ्रंश के बाद आधुनिक भारतीय भाषाओ का युग आता है,जिसके निर्माण की सीमा भाषा वैज्ञानिको के अनुसार १०००-१४०० इ० के बीच है।

भारतीय भाषाओ में संस्कृत का स्थान विशिष्ट है। याहि भाषा सभी भाषाओ की धात्री के रूप मै पांच हजार वर्षो से अधिक काल तक संजीवनी है और भाषाओ का पोषण करती आई है। यह भाषा प्राचिनतमा होते हुए भी नित नवीना है। यहि भारतीय साम्य विधायिनी भाषा है। सभी दूसरी भाषाए क्षेत्रिय भाषाए हैं,जिनका भाषा क्षेत्र एक विशिष्ट जनपद मे ही सीमित है। किन्तु संस्कृत भाषा का भाषा क्षेत्र समग्र भारतवर्ष है। सभी भारतीय भाषाए संस्कृत के संरक्षण मे परिपुष्ट है। संस्कृत से संजीवनी शक्ति पाकर सभी भारतीय भाषाए समुल्लित है,क्योकि सभी संस्कृतमयी है। प्रायः सभी भारतीय भाषाओ मे अस्सी प्रतिशत शब्द संस्कृत से गृहीत है।

विविध ऐतिहसिक परिस्थितियो के परिज्ञान को लेकर भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति तथा लोकनीति की संवाहिका बनकर संस्कृत एक्य विधायिनी भाषा के रूप मे सुदूर अतीत काल से लेकर अद्यावदि भारतीय भाषाओ मे अपना विशिष्ट स्थान रखति है। यहि कारण है कि भारत के विभिन्न भाषा-भाषी संप्रदायो के बीच संस्कृत संपर्क भाषा बनी हुई है। भाषिक सर्वग्रहनशीलता के चलते संस्कृत ने अपने अखिल भारतीय स्वरुप की रक्षा की है।

**संस्कृत और वर्तमान विश्वः-**

संस्कृत भाषा की ही भाषा नहीं, यह एक विश्व भाषा भी है। प्राचीन काल से ही संस्कृत का प्रचार-प्रसार भारत के बाहर के अनेक देशो मे होता आया है |यही नहीं,अनेक देशो में संस्कृत राजकार्य की भाषा रही, और राजाओ के द्वारा इस भाषा मे राजादेश और शिलालेख लिखवाये गये | विशेष रूप से जावा,सुमात्रा,बाली,कम्बोडिया,सियाम तथा ब्रह्मदेश में संस्कृत का व्यापक प्रचारप्रसार ईसा की शताब्दियों में लगभग सहस्त्र वर्षो तक रहा |संस्कृत साहित्य का अनुशीलन और साहित्य रचना भी इन देशों में हुई | संस्कृत साहित्य के अनुवाद तो विश्व की प्राचीन भाषाओ में

पिछले दो हजार वर्षो में होते ही रहे हैं |पञ्चतंत्र का सीरियाई भाषा में पाचवी शताब्दी में अनुवाद हुआ | श्रीमद्भगवदगीता और उपनिषदो के भी अनुवाद विश्व की अनेक भाषाओ मे अनूदित हुए |सत्रहवीं शताब्दी से आधुनिक विश्व ने संस्कृत से विशेष रूप से परिचित होने लगा |मुगल सम्राट शाहजहां के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह ने उपनिषद् और् श्रीमदभगवदगीता के फ़ारसी में अनुवाद करके विश्व में इन महान ग्रन्थो के प्रचार मे चिरस्मरणीय योगदान दिया |

इसमे विश्व का बौद्धिक् जगत भारतीय चिंतनपरम्परा से प्रेरित और प्रभावित हुए |दार्शनिक मे शोपनहोअर इमर्सन आदि ने उपनिषदो के दर्शन की अर्थवत्ता को पहचाना |धर्म प्रचार के लिये आने वाले ईसाई मिशनरियों ने संस्कृत भाषा और उसके साहित्य का अध्ययन किया |ब्रिटिश शासन ने संस्कृत के पंडितो का सहयोग धर्मशास्त्र के ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद करवाने तथा उञके आधार पर एक प्रामाणिक संहिता तैयार करवाने में किया |इस द्रष्टि से वोरन हास्तिङ्ग्स के प्रयास विशेष उल्लेखनीय है |१७८५ में उसने पण्डितो से धर्मशास्त्र का एक संकलन तैयार करवा कर उसका स्वयं अग्रेजी में अनुवाद किया | इसी वर्ष चार्ल्स विल्किंस का श्रीमद्भगवद्गीता का अनुवाद इंग्लैन्ड से छपा |योरोप भारतीय चिंतन से चमत्कृत हुआ | इसी तरह संस्कृत का इतिहास ओर प्रभुत्व बना रहा है |संस्कृत भाषा को विदेशी विद्वानो ने भी अपनाया उसके रहस्यमय ज्ञान को अपनाया उपनिषदो में भी इसक उल्लेख मिलता हैं कि ये विद्या जीवन मे शांति का प्रतिक है एसा विद्वानो ने इसी भाषा के ग्रन्थो का चिंतन करके कहा है।

**संस्कृत भाषा का विशेष प्रभाव:-**

वेदांग साहित्य से लेकर उक्त सूत्र-ग्रन्थो की शैली का प्रभाव तत्कालीन समाज पर अत्यधिक रूप से लक्षित हुआ। पाणिनि के उस युग में लौकिक संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत बोलियो का भी तीव्र गतियो से

निर्माण हो रहा था। फ़िर भी इतिहास के अध्ययन से हमे विदित होता है की पाणिनि का साहित्य संस्कृत भाषा के लिये स्वर्णयुग जेसा कह सकते है। संस्कृत की यह धारा देश के कोने-कोने मै, कोटि-कोटि जनमानस पर अविरत रूप से आगे बढ रहि है। यहि प्रमाण है की इस भाषा का प्रभाव अन्य भाषाओ मे कितना महात्वपूर्ण रहा है। विभिन्न प्रान्तो मे लोकभाषाए बोली जाती थी, पर विभिन्न प्रान्तो के लोग जब किसी एक स्थान पर मिलते थे, तो उनमे संवाद का माध्यम संस्कृत भाषा ही होती थी। शंकराचार्य केरल में उत्पन्न हुए,उन्होने सारे देश में संस्कृत के माध्यम से अपने संदेश का प्रसार किया था। तथा शास्त्रार्थो मे संस्कृत भाषा के द्वारा ही दिग्विजय की पताका फ़हरायी। श्रीहर्ष ने अपने नैषधीयचरित में कहा है- दमयंती के स्वयंवर में विभिन्न प्रदेशों से आये हुए राजाओं ने सोचा कि यदि अपने-अपने प्रदेश की भाषा में बोलेंगे तो दूसरे लोग नहीं समज़ पायेंगे, इसलिये वे आपस में संस्कृत भाषा में ही बात कर रहे थे ,इस कारण राजाओं के बीच वेष बदलकर आ मिले देवगण पह्चाने ना जा सके-

अन्योन्यभाषान बोधभितेः संस्कृत्रिमाभीर्व्यवहारवत्सु।
दिग्भ्यः समेतेषु नरेषु वाग्भिः सौवर्गवर्गो न जनैरचिह्नि॥

संस्कृत भाषा के साहित्य की बात करते है तब प्रथम वेद की महिमा का वेद के ज्ञान के नये क्षितिज सामने आये ये आधुनिक विश्व मे ज्ञान की धारा का प्रवाह इसी साहित्य मे प्राप्त होता है और ये संस्कृत भाषा मैं है। योरोप के बुद्धिजीवी तथा भाषा वैज्ञानिक ग्रीक और लेटिन को सबसे प्राचीन भाषाए मानते आ रहे थे। ऋग्वेद और वैदिक साहित्य का पता चलने पर उन्हे भी स्वीकार करना पडा कि संस्कृत भाषा ग्रीक और लेटिन भाषाओ से भी प्राचीन है। इसके साथ ही संस्कृत की एशिया और योरोप की भाषाओं के संबंध पर अन्वेषण-कार्य आरंभ हुआ, जिससे भारोपीय भाषा परिवार की अवधारणा सामने आयी। विश्वशांति की भावना,चिंतन

की परिपक्वता,रश्त्रनिर्माण की भावना,समाज को दिशा निर्देश करने और महान विचारो का समायोजन इसी भाषा के सहित्यो मे मिलते है।

भारतीय साहित्य के परान अनुरागी जर्मन के वेदविद विद्वान् मेक्षसमूलर अपनी पुस्तक 'भारत से हम क्या शिक्षा ले सकते हैं' में एक जगह कहा है कि 'सारे संसार में ज्ञानीयो और पण्डितो का देश भारत ही एकमात्र एसा है जहा की विपुल-ज्ञान संपदा हस्तलिखित पोथियो के रूप मे सुरक्षित है। 'इसी तरह संस्कृत भाषा और ज्ञान का प्रभाव अन्य देश के विद्वान भी कहते है। संस्कृत भाषा का इतिहास और अन्य भाषाओ पर इसका प्रभाव कहते है तब ही इस भाषा को दादिमा का दरज्जा मिलता है। भाषाविज्ञान की द्रष्टि से यह पूर्णतया सिद्ध हो चुका है की समग्र अंचलो की भाषाओं तथा बोलियों को साहित्यिक रूप देने का कार्य संस्कृत ने ही किया है। इसी प्रकार अन्य भाषाओं के साथ संस्कृत भाषा का संबंध पूर्ण समय के लिये रहेगा। यहि इस भाषा का प्रभाव रहा हैं वह बदला नहि जा सकता है।

**संदर्भ-ग्रन्थ-सूची:-**


१. संस्कृत वाडमय का परिदर्शन, आचार्य मुनीश्वर झा अमर ग्रन्थ पब्लिकेशन नई दिल्ली प्रथम संस्करण-२००४

२. संस्कृत और वैदिक संस्कृति, डॉ. शिवम चतुर्वेदी कला प्रकाशन वाराणसी प्रथम संस्करण -२००३

३. वैदिक साहित्य और संस्कृति, वाचस्पति गैरोला चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली संस्करण -२०१६

४. संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, लेखक- डॉ. राधावल्लभ विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी -२००१


----०----

# वैश्विक-संस्कृत-मञ्च

## Global Sanskrit Forum

Plot no. 3-B, Khasra no. 611, Gali no. 1, B-Block,
Saraswati Avenue, Sabhapur Extn., Shahdara, Delhi-110094
Contact : 8789507760
Email : globalsanskritforum@gmail.com
Webiste : https://globalsanskritforum.org

अमृतब्रह्म प्रकाशन
63/59, मोरी, दारागंज,
प्रयागराज-211006 (उ.प्र.)
Mobile : +91-9450407739, 8840451764
Email : amritbrahmaprakashan@gmail.com

ISBN 819824537-5